राजस्थान-पुरातन-ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक – फतहसिंह, एम. ए., डी. लिट्

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क ६५

श्री नयचन्द्रसूरि-विरचित

हम्मीरमहाकाव्य

प्रकाशक

राजस्थान-राज्य-संस्थापित

राजस्थान - प्राच्यविद्या - प्रतिष्ठान

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR.

जोधपुर (राजस्थान)

१९६८ ई०

राजस्थान-पुरातन-ग्रन्थमाला

राजस्थानराज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिलभारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट-ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

फतहसिंह, एम. ए., डी. लिट्
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

ग्रन्थाङ्क ६५

श्री नयचन्द्रसूरि-विरचित

हम्मीरमहाकाव्य

प्रकाशक

राजस्थान-राज्याज्ञानुसार

निदेशक, राजस्थान - प्राच्यविद्या - प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

१९६८ ई०

श्री नयचन्द्रसूरि-विरचित

हम्मीरमहाकाव्य

सम्पादक

पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजय

प्रकाशनकर्त्ता

राजस्थान-राज्य-संस्थापित

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०२४ | भारतराष्ट्रियशकाब्द १८८९ | खिस्ताब्द १९६८

प्रथमावृत्ति ५०० | मूल्य १ मूल्य रु.

मुद्रक – मौज प्रिन्टिंग ब्यूरो, बम्बई तथा साधना प्रेस, जोधपुर

विषयानुक्रम

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रन्थ का मुद्रण १९५९ ई० में प्रारम्भ हुआ था, और उसी वर्ष डॉ० दशरथ शर्माजी का प्रास्ताविक परिचय भी मुद्रित हो चुका था, परन्तु ग्रन्थ के सम्पादक श्रद्धेय मुनि जिनविजयजी इस ग्रन्थ का सुन्दर मूल्याङ्कन प्रस्तुत करते हुए एक महत्वपूर्ण पर्यालोचन प्रस्तुत करना चाहते थे और इसका बहुतकुछ भाग उन्होंने १९६६ ई० तक पूरा भी कर लिया था; उनका विचार था कि उसी वर्ष (१९६६ ई०) में यह ग्रन्थ प्रकाशित भी हो जाय; इसी उद्देश्य से आपने २ जुलाई १९६६ को अपना सञ्चालकीय वक्तव्य भी छपा दिया था, परन्तु दुर्भाग्यवश 'एक पर्यालोचन' ४८ पृष्ठ तक ही पहुँच पाया था कि मुनि जिनविजयजी अनेक सार्वजनिक कार्यों में ऐसे उलझ गये कि वे इस अधूरे कार्य को आगे बढ़ाने के लिए अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय न निकाल सके। श्री मुनि जिनविजयजी के हृदय में भारत के प्राचीन गौरव के प्रति असीम श्रद्धा तथा अनुपम अनुराग है और भारतीय इतिहास तथा संस्कृति का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया है। अतः हम्मीरमहाकाव्य का मूल्याङ्कन उनके द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण होता, इसलिए इस वर्ष, उनका उत्तराधिकारी होने के पश्चात्, मैंने व्यक्तिगत रूप से और पत्रों द्वारा अनेक बार मुनिजी से प्रार्थना की कि वे इस अधूरे कार्य को कृपया पूरा करने दे। उन्होंने हमारी प्रार्थना पर जोधपुर आने और अधूरे कार्य को पूरा करने का वचन भी दिया, परन्तु दुर्भाग्यवश वे 'सर्वदेवायतन' के निर्माण तथा ऐसे ही अन्य लोकोपकारी कार्यों में व्यस्त रहने के कारण इस कार्य के लिए समय नहीं निकाल सके। अतः जिस प्रकार चन्द्र-कवि के अधूरे कार्य को उनके पुत्र जल्हण ने जैसे-तैसे पूरा किया उसी प्रकार येनकेन प्रकारण कुछ पंक्तियाँ जोड़कर मुझे यह काम पूरा करना पड़ा। ऐसा करने में मेरी ओर से जो भी अनौचित्य हुआ हो उसके लिए मैं मुनि जिनविजयजी से क्षमायाचना करता हूं। विशेष रूप से मैं उन सहृदय पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ जो विद्वान् संपादक के उन बहुमूल्य विचारों से वंचित हो गये जो संभवतः पर्या-लोचन के अवशिष्ट भाग में व्यक्त हुए होते। इस संभावित क्षति का मुझे भी ज्ञान था, परन्तु इतनी सुन्दर पुस्तक के प्रकाशन को और अधिक विलंबित करने से जो क्षति होती वह संभवतः अक्षम्य हो जाती। यही समझ कर इस पुस्तक को तुरंत प्रकाशित करने का उपक्रम किया।

प्रतिष्ठान की ओर से मैं उन विद्वानों और काव्य-प्रेमियों से भी क्षमा मांगता हूं जो १९५९ ई० से अब तक इस ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रतीक्षा करते रहे और इसके विषय में पत्र लिखकर बार-बार पूछते रहे। अन्त में श्री मुनि जिनविजयजी तथा डॉ० दशरथ शर्मा को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूं जिन्होंने इस अनुपम काव्यकृति पर आलोचना और प्रस्तावनास्वरूप बहुमूल्य सामग्री देकर हमें अनुगृहीत किया है।

फतहसिंह

निदेशक, राजस्थान-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर

हम्मीर महाकाव्य — संचालकीय वक्तव्य।

हम्मीर महाकाव्य को इस रूप में प्रकाशित करने का हमारा विचार कोई २५ वर्ष पहले हुआ था। हमारे द्वारा संस्थापित, सम्पादित, और संचालित 'सिंघी जैन ग्रंथमाला' के अंतर्गत प्रकाशित, प्रबन्ध-चिन्तामणी, प्रबन्ध-कोश, प्रभावक चरित्र, पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह, देवानन्द-महाकाव्य, दिग्विजय-महाकाव्य, भानु-चन्द्र-चरित्र, कुमारपाल-चरित्र-संग्रह, कीर्तिकौमुदी, सुकृतसंकीर्तन आदि अनेक प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथों की श्रेणी में हमने इस हम्मीर महाकाव्य का भी प्रकाशन निश्चित किया था और क्रमानुसार अन्यान्य ग्रन्थों के साथ इसका भी मुद्रण कार्य चालू कर दिया था।

इस काव्य को सर्व प्रथम प्रकाश में रखने का श्रेय तो श्री नीलकंठ जनार्दन कीर्तने नामक एक महाराष्ट्रीय विद्वान् को है। उन्होंने सन् १८७९ में इस महा-काव्य को प्रकाशित किया और इसके साथ एक विस्तृत अंग्रेजी प्रस्तावना लिखी, जिसमें काव्य-सम्बन्धित कुछ ऐतिहासिक प्रसंगों का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ का सारभूत वर्णन भी लिखा गया था। उक्त पुस्तक प्रायः दुर्लभ्य हो गई थी और हमको खोज करने पर इस काव्य की एक बहुत प्राचीन प्रति को भी उपलब्ध हो गई थी, इसलिए हमने इसका नूतन सुसंपादित संस्करण उक्त ग्रन्थमाला द्वारा छपाना शुरू कर दिया। मूल ग्रन्थ का मुद्रण कार्य प्रायः पूरा होने पर था तब हमने इसके प्रास्ताविक रूप में कुछ परिचय लिख देने के लिए हमारे परमप्रिय विद्वान् मित्र प्रो० श्री दशरथजी शर्मा को निवेदन किया था। डॉ० शर्माजी चाहमान वंश के इतिहास के एक विशिष्ट, प्रौढ़ एवं मर्मज्ञ विद्वान् हैं, अतः 'हम्मीर महाकाव्य' के मर्म और तथ्य के वे अधिकारी ज्ञाता हैं। डॉ० शर्माजी ने हमारे नम्र निवेदनानुसार एक तथ्यपूर्ण 'हम्मीर महाकाव्य में ऐतिह्य सामग्री' नामक इस काव्य का परिचयात्मक सुन्दर लेख लिख भेजा। यह प्रसंग संवत् २००२ का है। हम कार्य की व्यस्तता के कारण 'हम्मीर महाकाव्य' को यथासंकल्पित समय में प्रकाशित नहीं कर सके। तदनन्तर प्रेस की असावधानता के कारण इस ग्रन्थ के छपे हुए बहुत से फर्मे नष्ट हो गए।

सन् १९५१ में जब हमने 'राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला' के प्रकाशन की योजना बनाई, तो फिर हमने इस ग्रन्थ को प्रस्तुत ग्रन्थमाला द्वारा

प्रकट करने का आयोजन किया। प्रेस में पुनः इसका मुद्रण कार्य प्रारम्भ कराया गया। यों तो यह कार्य भी ७-८ वर्ष पहले ही संपन्न हो चुका था, परन्तु समयाभाव के कारण इसे यथासमय इतःपूर्व प्रकट नहीं कर सके। डॉ. दशरथजी शर्मा ने उक्त रूप में हमारे पास २० वर्ष पहले जो इस काव्य के बारे में वक्तव्य लिख भेजा था। वह, हमारी पिछली ३ वर्ष पहले की जीविताशाविच्छेदक बीमारी के समय, एतत्प्रकार की बहुविध सामग्री के इतस्ततः हो जाने के साथ, स्थानान्तरित हो गया। अतः जब पिछले सन् १९६३ में इस ग्रन्थ को शीघ्र प्रकाश में रख देने का कार्य हाथ में लिया तो हमने पुनः इन्हीं शर्मा महोदय को निवेदन कराया कि वे इसके लिए एक छोटा-सा ही वक्तव्य और लिख भेजें, क्योंकि श्री शर्माजी ने इस बीच में बीकानेर के शार्दूल रिसर्च इन्स्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित 'हमीरायण' नामक राजस्थानी भाषा में लिखित, हम्मीर विषयक रचना के उपोद्घात-स्वरूप, एक बड़ा विस्तृत निबन्ध लिख कर प्रकाशित कराया है, जिसमें इन्होंने हमीर के इतिहास से संबंधित बातों का विस्तृत विवेचन किया है। अतः उस सब की पुनरावृत्ति न करके शर्माजी ने वह संक्षिप्त वक्तव्य हमें लिख भेजा जो 'इतिहास के रूप में हम्मीर महाकाव्य' इस शिरोलेख के साथ प्रास्ताविक परिचय के रूप में आगे मुद्रित हुआ है।

अभी इन दिनों में, हमने अपना यह संचालकीय वक्तव्य लिखना शुरू किया तो अकस्मात् हमारी एक पुरानी फाइल में दबा पड़ा श्री शर्माजी का उक्त २० वर्ष पहले लिखा हुआ वक्तव्य भी हमारे हाथ में आ गया। एक प्रकार से शर्माजी का यह पुराना परिचयात्मक लेख भी हमारे लिए पुरातन संकलनीय लेख हो गया है। शर्माजी द्वारा नूतन लिखित परिचय का पुरातन परिचय के साथ मिलान करने पर हमें प्रतीत हुआ कि ये दोनों परिचय अपनी-अपनी कुछ विशेषताएं रखते हैं। पुरातन परिचय में जो बहुत सी बातें लिखी गई हैं वे नूतन परिचय में नहीं हैं; नूतन परिचय के कुछ उल्लेख पुरातन परिचय में नहीं हैं। अतः हमने उस पुरातन परिचय को भी प्रस्तुत प्रकाशन में संलग्न कर देना उपयुक्त समझा है। शर्माजी के इस पुरातन परिचय में हम्मीर महाकाव्य के सर्गों का सार ठीक विस्तार के साथ दिया गया है। काव्य-वर्णित ऐतिहासिक तथ्यों पर भी कुछ विशेष विवेचन किया गया है और अन्त में काव्य के कवित्व और वैशिष्ट्य पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। हम यहां पर अपने इन परम विद्वान् मित्र के प्रति निर्व्याज और निश्छद्म भाव से हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इस मुद्रण के साथ हमने उक्त महाराष्ट्रीय विद्वान् श्री कीर्त्तने के लिखे हुए

अंग्रेजी उपोद्‌घात को भी अविकल रूप में मुद्रित करा दिया है जिससे उक्त विद्वान् का वह प्राथमिक परिश्रम पुनः सुलभ हो जाय।

*

काव्य के प्रस्तुत संस्करण में पूर्व-मुद्रित पुस्तक के अतिरिक्त दो अन्य प्राचीन प्रतिलिपियों का उपयोग किया गया है। इसमें एक तो K संज्ञक प्रति है जो हमें कोटा के जैन भण्डार से श्री अगरचंदजी नाहटा द्वारा प्राप्त हुई थी। कोटा-भण्डार की यह प्रति भी बहुत प्राचीन है। इसका लिपिकाल वि० सं० १४८६ है अर्थात् काव्य-रचना के बाद ४०-५० वर्ष के भीतर ही यह प्रतिलिपि लिखी गई है। इससे यह सिद्ध होता है कि उक्त विद्वान् कीर्तने को जो १५४२ की लिखित प्रति मिली थी उससे कोटा वाली प्रति अर्ध-शताब्दी से भी अधिक पुरानी है। परन्तु, कीर्तने वाली प्रति के पुष्पिका-लेख का अध्ययन करने पर हमें शंका होती है कि वह प्रति १५४२ में न लिखी जाकर सं० १४५२ में लिखी होनी चाहिए क्योंकि प्रति का लेखक अपने को स्वयं जयसिंहसूरि का शिष्य लिखता है। जयसिंहसूरि, जैसा कि कुमारपाल-चरित के अन्तिम उल्लेख से ज्ञात होता है, वि. स. १४२२ में विद्यमान थे। उनके शिष्य नयहंस का सं. १५४२ में होना कैसे सम्भव हो सकता है? इससे हमारी कल्पना होती है कि संवत् विषयक इन अंकों मे कुछ गलती है। प्रतिलिपि-कर्त्ता ने राभस्यवशात् ५ और ४ के अंक को आगे-पीछे लिख दिया हो और इससे १४५२ की जगह १५४२ स० बन गया हो। ऐसे वर्णों और अंकों के विपर्यय-रूप में लिखे जाने के सैकड़ों उदाहरण हमारे देखने में आये हैं। हमारा स्वयं का भी कभी-कभी ऐसा वर्ण-विपर्यय लिख लिये जाने का अनुभव है। यदि हमारी यह कल्पना ठीक हो सकती है तो कीर्तने वाली प्रति पुरानी सिद्ध होगी। इतना ही नहीं, उससे 'हम्मीर महाकाव्य' के रचना समय पर भी विशेष प्रकाश पड़ सकता है। यदि नयहंस ने वह प्रतिलिपि सं० १४५२ में की थी तो काव्य की रचना कम से कम उसी वर्ष या उसके पहले २-४ वर्ष के भीतर हो गई होनी चाहिए। अपने विद्यागुरु जयसिंहसूरि के बनाए हुए कुमारपाल-चरित-काव्य की संवत् १४२२ में प्रतिलिपि करने वाले नयचन्द्रसूरि द्वारा २५ वर्ष के भीतर हम्मीर-महाकाव्य की रचना करना संगत ही माना जा सकता है।

कोटा वाली प्रति का अंतिम पुष्पिका-लेख इस प्रकार है—

"समाप्तमिदं श्री चाहमाननरेश्वरश्रीहम्मीरमहाकाव्यम्। कृतिर्महाकवेः श्री-नयचन्द्रसूरेः॥श्रीः॥ संवत् १४८६ वर्षे मार्गशीर्षशुक्लैकादश्यां दिने गुरुवासरे पंडितगुणराजपुत्रेण पुरुषोत्तमेन पुस्तकमलेखि। शुभं भवतु लेखकपाठकस्य।

यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते ।। श्रीशुभं भवतु ।"

इस प्रति की पत्र-संख्या ८२ है। प्रति सुवाच्य और सुन्दर अक्षरों में लिखी गई है। इस प्रति के अंतिम पृष्ठ की प्रतिकृति इसके साथ दी गई है।

'हम्मीर महाकाव्य' का अर्थोद्घाटन करने के लिए संस्कृत व्याख्या भी बनाई गई है। इसका रचयिता नयचन्द्र सूरि का ही कोई विद्वान् शिष्य प्रतीत होता है। परन्तु, दुर्भाग्यवश हमें यह व्याख्या पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हुई। जो पुरानी प्रति हमें मिली वह अपूर्ण है और मध्य में भी त्रुटित है। इसके कुल ६२ पत्र मिले, जिनमें पत्रांक १५ से २६ तक के १२ पत्र भी अनुपलब्ध हैं। तथापि हमने इस व्याख्या का जितना भी अंश उपलब्ध हुआ उसे इसमें मुद्रित कर दिया है। व्याख्या बहुत पाण्डित्यपूर्ण और काव्य का अर्थ-स्फोटन करने में बहुत उपयुक्त है। यदि किसी विद्वान् को यह व्याख्या पूर्ण रूप में प्राप्त हो जाय तो अवश्य इसे प्रकट कर देना चाहिए। इस व्याख्यावाली प्रति के आद्य पत्र का चित्र भी यहां प्रकट किया जाता है। हम्मीर के राज्यकाल में सं० १३५१ में जब उसका शिविर-निवेश सिंहपुर में था, उस समय कातंत्र-व्याकरण की एक प्रति लिखी गई थी जिसका केवल अंतिम पत्र हमें पुराने ग्रंथों के कन्थड में प्राप्त हुआ है। इसमें लिपिकर्त्ता ने अपने ग्रन्थ-लेखन के विषय में लम्बा पुष्पिकालेख लिखा है। हम्मीर के समकालीन ऐतिहासिक उल्लेख के रूप में एक उपयोगी प्रमाण समझ कर हम इस पुष्पिका-लेख को परिशिष्ट के रूप में अंकित कर रहे हैं।

आशा है राजस्थान के इतिहास का एक अमूल्य-रत्न-रूप यह 'हम्मीर महाकाव्य' विद्वानों का विशेष समादरणीय बनेगा।

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान,
शाखा कार्यालय चित्तौड़गढ़
आषाढ़ी पूर्णिमा, सं० २०२३
दि० २ जुलाई. १९६६

मुनि जिनविजय

वि. सं. १३५० में, हम्मीरदेव के राज्यकाल में, लिखे गये ग्रन्थ का अन्तिम पत्र

हमीरमहाकाव्य—मूल की संवत् १४८६ वि० में लिखित कोटा वाली प्रति का अन्तिम पत्र

हमीरमहाकाव्य की वृत्ति वाली कोटा से प्राप्त अपूर्ण प्रति का आद्य पत्र

हम्मीर महाकाव्य — एक पर्यालोचन

वि० सं० २००४ (ई० सन् १९४७, १५ अगस्त) की श्रावणी अमावस्या की मध्यकाल-रात्रि के व्यतीत होने पर, सारे संसार को अपना सुशीतल, समुज्ज्वल और प्रभापूर्ण प्रकाश देने वाले भारत का मुख-चन्द्र, जो पारतंत्र्य-स्वरूप दुष्ट राहुग्रह द्वारा शताब्दियों से ग्रस्त था, मुक्त हुआ। भारत के गगनांगण में स्वातंत्र्य के जन्म के सुप्रभात की सूचक उषःकालीन प्रभा के आभास की ज्योति का प्रकाश दिखाई दिया। उसी समय संसार के सर्वश्रेष्ठ प्राचीन महान् राष्ट्र का पुनर्जन्म हुआ। पुराण-प्रसिद्ध भारत की प्राचीन राजधानी दिल्ली के विश्वविख्यात लाल किले पर राष्ट्र की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक स्वरूप त्रिशक्ति का सामर्थ्य-प्रदर्शक तिरंगा राष्ट्रध्वज प्रतिष्ठित हुआ। भारत में बसने वाले ४० करोड़ भारतीय-जनों के हृदय समुद्र आनन्द की उत्ताल कल्लोलों से उछलने लगे। उनके ४० करोड़ कण्ठों में से निकलने वाले मधुर ध्वनि के 'कल-कल नाद' से, भारत का ही नहीं, सारे विश्व का आकाश गूंज उठा, भारतीय जनता के ८० करोड़ चाक्षुष-तारकों में दिव्य ज्योति का तेज चमकने लगा, १६० करोड़ हाथ-पांवों में आनन्दकारी नृत्य के लिए नूतन रक्त की वेगवान् धमनियां धमकने लगीं, शताब्दियों से मूर्छित भारतीय जन-जीवन में पुनीत प्राणों का पुनः संचार हुआ, भारत के जन-गण-मन-अधिनायक के प्रतिनिधि ने लाल किले की बुर्ज पर खड़े होकर सारे विश्व की ओर अपनी पारदृश्वा दृष्टि फैलाकर विश्वदर्शन किया, विप्रबुद्ध भारत के समग्र-जनों ने विराट्-पुरुष के प्रतीक का 'जन-गण-मन-अधिनायक जय है! भारत भाग्य विधाता' के भव्य गान से अद्भुत स्वागत किया आकाश में से पुष्प-वृष्टि हुई, लाल किले पर खड़े होकर भारतीय विराट्-पुरुष के उस प्रतिनिधि ने अपना दिव्य राष्ट्र-संदेश प्रसारित किया, जो सारे संसार में ध्वनित हो उठा, भारत के प्रत्येक घर में उसकी ध्वनि मुखरित हो गई, प्रत्येक भारतीय व्यक्ति उसे सुनकर प्रमुदित हो गया, घर-घर में दीप जलाये गये, घंटा और झालर बजाये गये। भारत के भाग्याकाश में नूतन जीवन के सुप्रभात में प्राणोत्कर्षक अभिनव प्रकाश फैलाने वाला सहस्र किरणों से देदीप्यमान भास्वत् भास्कर भगवान् उदित हुआ।

* * *

दिल्ली भारत-राष्ट्र का वक्षस्थल है। यह वक्षस्थल जब तक किसी विदेशी और अभारतीय शत्रु द्वारा आक्रान्त नहीं हुआ तब तक सारा भारत एक प्रकार से अपने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की रक्षा करने में समर्थ रहा, भारतीय-संस्कृति अक्षुण्ण रही, भारतीयों के धार्मिक-जीवन पर कोई दुष्ट आक्रमण नहीं हुआ, भारतीय समाज-व्यवस्था पर क्रूर प्रहार नहीं हुआ, राष्ट्र के भिन्न-भिन्न प्रदेश अपनी समृद्धि से परिपूर्ण थे, जनजीवन सुव्यवस्थित और सुनिश्चित था, काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक एक भव्य संस्कृति का साम्राज्य फैला हुआ था, पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक भावात्मक एकता व्याप्त थी, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए सारा भारतीय मानव-समाज अपने-अपने कर्त्तव्य में रत रहता था, धार्मिक या सामाजिक अत्याचार सर्वत्र निन्द्य और जघन्य समझा जाता था। सब लोगों में अहिंसा, भूतदया, दान, तप, संयम, सदाचार के भावों की प्रतिष्ठा थी और यथायोग्य उनका आचरण करने की अभिलाषा रहती थी। परिश्रमी किसान कृषिकर्म द्वारा जनता को खाद्य सामग्री उपलब्ध करता था। उद्यमी व्यापारी वाणिज्य-व्यवहार द्वारा लोगों को खाद्येतर वस्तुएँ प्राप्त कराता और देश-विदेशों में जाकर आर्थिक समृद्धि को बढाता था। राज्य-शासक-वर्ग आन्तर-बाह्य शत्रुओं से अपने प्रजाजनों की रक्षा करता था। देश की संस्कृति और संपत्ति दोनों की रक्षा का भार इस शासक-वर्ग पर रहता था और इसके लिए वे सदैव अपने प्राणों की आहुति देने को तत्पर रहते थे। इस प्रकार अपने समकालीन संसार में भारत एक बहुत ही उत्तम संस्कार-संपन्न और समृद्धि-परिपूर्ण राष्ट्र माना जाता था। भारतीय शासकों ने कभी किसी विदेशीय सत्ता और प्रजा पर आक्रमण करने की और उसकी समृद्धि लूट लाने की दुष्ट कामना नहीं की। ना ही किसी के धर्म-संस्कार नष्ट करने की कल्पना की और ना ही किसी वर्ग-विशेष पर अत्याचार कर उसके सामाजिक जीवन को ही भ्रष्ट करने का कुत्सित-कर्म किया। भारतीयों की ऐसी भद्र-जीवन-प्रणाली अनेक शताब्दियों तक शान्तिपूर्वक चलती रही थी।

समृद्धि और संस्कृति की स्थिरता के साथ बौद्धिक क्षमता भी भारतीयों की सब से श्रेष्ठ थी और भारत की ज्ञानराशि का लाभ उठाने के लिए चीन, तिब्बत, जावा, कम्बोडिया, बर्मा, ईरान, अरब आदि देशों के अनेक जिज्ञासु यहां आते थे और भारत के ज्ञान-भण्डार से अपने देश के लोगों के लिए ज्ञानार्जन किया करते थे। भारत के कई ज्ञानी पुरुष भी उन-उन देशों में जा-जा कर भारत के सत्संस्कारों का प्रचार करते रहते थे और असंस्कारी समाज को संस्काराभिमुख

बनाते थे। भारत की ऐसी संस्कार-विशिष्टता के कारण मध्य एशिया के आस-पास के अनेक जन-समूह अपना जीवन-यापन करने की दृष्टि से, समय-समय पर इस भूखण्ड में आते रहे और यथाशक्ति वे अपना स्थान भी यहां बनाते रहे तथा विशालकाय भारतीय जनसमाज के अन्यान्य अगों में वे घुलमिल कर अपना जीवन-विकास करते रहते थे। शक, क्षत्रप, पार्थियन, हूण आदि ऐसे ही जनसमूह थे जो किसी प्रकार की विशिष्ट संस्कृति और संपत्ति से विहीन थे, वे इस देश की शस्यश्यामला और जनवत्सला भूमि में आकर बसते गए और यहां के जन-जीवन में एकरूप होते गए। उन्होंने इस भारत-भूमि को अपनी मातृभूमि मान लिया और यहां की संस्कृति को अपनी कल्याणकारी शक्ति-माता समझ कर उसके उपासक बनते गए।

विक्रम की ८वीं-९वीं शताब्दी तक भारत-राष्ट्र का ऐसा जीवन-प्रवाह चलता रहा। भारत के महान् धर्मोपदेष्टा सन्तजन, दिन-रात स्वीय धर्म-मन्दिरों में, देश के राजभवनों में, जनता के सभास्थानों में—

'सब सुखी रहो, सब स्वस्थ रहो;
सब कल्याण के भागी बनो;
कोई किसी तरह का दुःख मत पाओ।'

इस मानव-मंगल के महा-मंत्र का भव्य पाठ सुनाया करते थे।

* * *

भारत की पश्चिमी सीमा सिन्धुनद के प्रवाह से आवेष्टित थी। भारतीयों ने इसी नदी को अपनी राष्ट्र-रक्षक सीमा मान रखी थी। इसके पश्चिमी भाग में बसने वाले लोगों को भारतीय म्लेच्छ मानते थे, म्लेच्छ अर्थात् संस्कार-विहीन। इनके आचार-विचार संस्कार-सम्पन्न नहीं थे — इनकी वाणी असंस्कृत थी, इनकी समाज-व्यवस्था जंगली थी। इनमें कोई पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक भावना नहीं थी। इसलिए सिन्धु नदी के उस पार की भूमि को भारतीय म्लेच्छ-भूमि समझते थे और वहां जाना-आना भी त्याज्य मानते थे। कभी किसी बलात्कार या अत्यन्त अनिवार्य कारण से जाना पड़ा तो स्वभूमि में आकर प्रायश्चित्त करते थे। इस कारण भारतीयों को उस भूमि पर किसी प्रकार का लगाव नहीं था। वहां के निवासियों का वे संसर्ग भी नहीं चाहते थे।

इसी सिन्धुनद के मुहाने के सामने अरब की खाड़ी के उस पार अरब देश था। अरब के लोग भारत में आकर व्यापार किया करते थे और भारत से अपने लिए जीवनोपयोगी विविध वस्तुएं ले जाया करते थे। वे उन वस्तुओं को फिर ईजिप्त, ग्रीक, रोम आदि देशों तक भेजा करते थे। इस अरब देश में, ईसा की ७वीं शताब्दी में एक अद्भुत शक्ति और व्यक्तित्व वाला पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसके

प्रभाव और सामर्थ्य के कारण, केवल अरब के लोगों में ही नहीं, ईजिप्त, ईरान, ईराक, तुर्किस्तान आदि मध्य एशिया के लोगों में भी एक नई जागृति, नई क्रान्ति, नई आशाएं, नई आकांक्षाएं और नई विचारधारा उत्पन्न हुई। पर भारत की युग-युगीन संस्काररत मनोवृत्ति और विचारधारा से यह सर्वथा विभिन्न और विरोधी थी।

अरब देश में उत्पन्न यह विशिष्ट शक्तिशाली पुरुष मुहम्मद पैगंबर के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुए। अरब के लोगों में उस समय जो पुराना धर्म चल रहा था उसके विरोध में पैगंबर ने अपना नया धर्म चलाया जिसको उन्होंने इसलाम नाम दिया। मुहम्मद पैगंबर ने अपने नये धर्म का बड़े जोर-शोर से प्रचार किया। इसके लिये उन्होंने काफी शक्ति-संचय किया और उसका पूरा बल-प्रयोग किया। अरब और उसके आसपास के प्रदेशों की आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति बहुत गिरी हुई हालत में थी। मुहम्मद पैगंबर खुदाई बातों के केवल प्रचारक तथा धर्मोपदेशक ही नहीं थे, परंतु साथ में राजनैतिक आकांक्षाओं से ओतप्रोत होकर, राज्य-सत्ता के संस्थापक और समर्थक भी थे। इसलिये उनके द्वारा प्रचारित इस्लाम धर्म के पीछे धर्मशास्त्र की नैतिक बातों की अपेक्षा तलवार जैसे संहारक शस्त्रों का बल अधिक काम में लाया जाने लगा। मुहम्मद पैगंबर ने अपने विचारों का समर्थन करने वाले अत्यन्त सामान्यजनों को भी समान दर्जा देना शुरू किया और जो-जो लोग उनके अनुयायी बन कर उनकी सत्ता का समर्थन करने में अग्र भाग लेने लगे उनको उन्होंने यथायोग्य सत्ता और संपत्ति का भागीदार बनाना शुरू किया। इस आर्थिक प्रलोभन के कारण उनके अनुयायियों की संख्या बड़ी शीघ्रता से बढ़ने लगी और वे लोग बड़े उत्साह और आवेश के साथ अरब के आसपास के प्रदेशों मे भी इस्लाम के झंडे के नीचे अपनी धाक जमाते हुए सत्ता को हथियाने में चारों तरफ टूट पड़े। अरब और उसके आसपास के देश, न कोई वैसे बड़े समृद्धिशाली ही थे और न कोई वे वैसी सुदृढ सांस्कृतिक संपत्ति से ही संपन्न थे। इस्लाम के नये अनुयायी जो बहुत सामान्य कोटि के जन-वर्ग मे से थे वे, पैगंबर द्वारा प्रचारित धार्मिक भ्रातृभाव के सिद्धान्त के कारण, तलवार के बल से प्राप्त सत्ता और संपत्ति मे यथायोग्य भागीदारी के अधिकारी बनते गये और फिर उन्होंने अपने अधिकार के विरुद्ध विचार और प्रचार करने वाले जनों का सफाया करना शुरू कर दिया। इस नये प्रकार के उत्साह और आदर्श के कारण एशिया के उस मध्य भू-भाग में अरब और ईरान के प्रदेश में थोड़े ही समय में इस्लाम की नई सत्ता जम गई और पुराने संस्कार वाले वर्ग की समाप्ति हो गई।

जैसा कि ऊपर सूचित किया है अरब और ईरान वालों का व्यापारिक संबंध बहुत प्राचीन काल से भारत के साथ चला आता था। उस प्रदेश वाले लोग भारत को एक बड़ा समृद्धिशाली और सत्ताशाली देश मानते आ रहे थे। अरब और ईरान का भारत के साथ यातायात का व्यवहार सिंधु नदी के मुहाने द्वारा होता था इसलिये वे भारत को 'सिंधु का देश' कहते थे। इसी 'सिंधु' शब्द का उच्चारण अरबी और फारसी भाषा बोलने वाले लोग 'हिन्दु' ऐसा करते थे इसलिये इस देश में बसने वाले लोगों को भी वे 'हिन्दु' कहते थे। इसी तरह 'हिन्दु' लोगों का देश होने से, वे इस सारे ही महान् देश को 'हिन्दुस्तान' के नाम से ही पहचानते थे। अरबी और फारसी भाषा में लिखे गये सब ग्रंथों में इस महान् भारत-राष्ट्र का यही नाम प्रसिद्ध रहा। अरब में उक्त रूप से जब महान् मुहम्मद पैगम्बर द्वारा स्थापित इस्लाम धर्म की सत्ता जमने लगी और उन नये सत्ताशाली बने बर्बर और दरिद्र लोगों की सम्पत्ति प्राप्त करने की भूख बढ़ने लगी तब सबसे पहले उनकी नज़र अपने सबसे निकट के और चिरपरिचित समृद्धिशाली 'हिन्दुस्तान' के अर्थात् भारत के पश्चिमी प्रान्त-स्वरूप सिन्ध-प्रदेश पर पड़ी। तत्कालीन राजकीय परिस्थिति के कारण भारत का यह प्रान्त-भाग वैसा सुरक्षित और सुदृढ़ सैनिक शक्तियुक्त नहीं था। इस परिस्थिति का लाभ उठाने की दृष्टि से ई० सन् ७१२ में अरब के नये मुस्लिम बने एक सरदार मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण कर दिया। उस प्रदेश के शासक निर्बल थे और नज़दीक में कोई शक्तिशाली राज्य नहीं था इसलिये उसने प्रारम्भ में ही सिन्ध के बहुत से भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। इस्लाम के आदर्श को सामने रखते हुए उसने वहाँ के हिन्दुओं को तलवार के बल पर मुसलमान बनाना भी शुरू कर दिया और हिन्दुओं की सम्पत्ति को लूटने के उपरान्त देव-स्थानों आदि को भी नष्ट करना शुरू कर दिया। इस प्रकार सत्ता और सम्पत्ति के हथियाने के उद्देश्य के अतिरिक्त धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करने का उद्देश्य लेकर इस देश पर आक्रमण करने का यह सर्वप्रथम ऐति-हासिक प्रसंग बना।

मुहम्मद-बिन-कासिम पर्याप्त शक्ति के अभाव में सिन्ध में अधिक समय तक नहीं ठहर सका और वह अपने प्रयत्न में अधिक सफल भी नहीं हो सका, परन्तु इस्लाम के इन नये लुटेरे अनुयायियों को, किस तरह हिन्दुओं को लूटा जा सकता है और किस तरह सारे हिन्दुस्तान की सत्ता प्राप्त की जा सकती है, इसकी दिशा का आभास मिलना शुरू हो गया और वे इसके मनसूबे भी बांधने लग गये।

मुहम्मद-बिन-कासिम के बाद सिन्ध पर छुट-पुट आक्रमण होते रहे और उनका सामना वहां के छोटे-छोटे ठाकुर करते रहे पर वैसा कोई प्रबल आक्रमण नहीं हुआ जिसका धक्का भारत के बलवान् राज्यों तक पहुंचा हो।

सिन्ध की तरह कुछ अरब लुटेरो ने सौराष्ट्र और दक्षिण गुजरात के समुद्र-तटवर्ती कुछ स्थानों पर भी आक्रमण किया परन्तु वहां के शासकों द्वारा उनका कड़ा सामना किया गया जिससे वे वहां पर पैर नहीं जमा सके।

मुसलमानों द्वारा इस प्रकार धर्म और राष्ट्र दोनों के स्वत्व का नाश करने वाले आक्रमणों का जो सिलसिला शुरू किया गया वह धीरे-धीरे बढ़ता ही रहा।

परन्तु, ११वीं शताब्दी से ये आक्रमण बड़े पैमाने और बड़े संगठन के साथ होने लगे। इन आक्रमणों का आतंक भारत के अन्यान्य विशाल और समृद्ध प्रदेशों पर भी छाने लगा। धीरे-धीरे इन आक्रान्ताओ के पैर भारत की मुख्य भूमि पर जमने लगे और वे स्थिर होने लगे।

दशवीं शताब्दी तक इस्लाम की सत्ता मध्य एशिया के सभी मुल्कों में फैल गई और भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा के निकटवर्ती अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, फारस आदि सभी देशों के लोग मुस्लिम धर्म में दीक्षित होकर, अपने पड़ौस के देशों पर लूट मचाने के लिये टूट पड़ने लगे। अब वे केवल सिन्ध ही की सीमा से भारत में नहीं घुस रहे थे परन्तु पंजाब की सीमा से भी आक्रमण करने लगे। उनका लक्ष्य अब भारत मे आकर लूट-मार करके संपत्ति उठा ले जाना मात्र नहीं रहा परन्तु भारत ही में जम कर बैठ जाना और धीरे-धीरे सारे भारत को इस्लाम के झण्डे के नीचे ले आना, उनका मुख्य उद्देश्य बना।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, दिल्ली परापूर्व से भारत की मुख्य राजधानी रही है और भौगोलिक दृष्टि से भी वह भारत का वक्षस्थल है इसलिये इन मुस्लिम आक्रान्ताओं ने दिल्ली में अपना राज्यसिंहासन स्थापित करना ही निश्चित किया। अपने प्रबल पराक्रमों और प्रचण्ड सैन्यों के कारण इनका यह उद्देश्य सफल हुआ। शहाबुद्दीन गोरी ने वि० सं० १२५० (ई० स० ११९३) में दिल्ली विजय कर, वहाँ पर सर्वप्रथम इस्लामी सत्ता की प्रतिष्ठा की। दिल्ली के दुर्ग पर इस्लाम का झण्डा फहराने लगा। शेष भारत ने माना कि उसके सार्वभौम स्वातंत्र्य पर राहु की क्रूर दशा बैठ गई है और धीरे-धीरे उसका तेज क्षीण होने लगा है।

सब से पहले मुहम्मद-बिन-कासिम ने जिस दिन भारत की पुण्यभूमि सिन्ध पर आक्रमण किया उस दिन से लेकर शहाबुद्दीन गोरी द्वारा दिल्ली

पर अधिकार स्थापित कर लेने वाले ४०० वर्षों के बीच मुसलमान लुटेरों द्वारा छोटे-बड़े सैकड़ों ही आक्रमण हुए पर इन आक्रमणों का भारतीय सामूहिक जीवन पर वैसा कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका। जहाँ-जहाँ ऐसे स्थानिक आक्रमण होते रहे वहाँ की जनता को जरूर आतंक और विनाश का दुःखानुभव करना पड़ा पर उस विनाश की ज्वाला को देश के अन्यान्य भागों में न फैलने देने के लिये उन-उन प्रदेशों के राजकर्त्ता इन आक्रान्ताओं का सतत सामना करते रहे और अपने सर्वस्वों की आहुतियाँ दे-देकर अपनी प्रजा और मातृभूमि की रक्षा करते रहे।

*

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये राजकर्त्ता राजपूत लोग थे जो भारत पर मुसलमानों के आक्रमणों के राजमार्ग सिन्धु नदी के मुहाने से लेकर पंजाब के अन्तिम नगर पेशावर तक फैले हुए थे। इस सारे भूभाग पर उस समय राजपूतों की सत्ता थी इसलिये इन मुसलमानों से लोहा लेने का काम राजपूतों का था। मुसलमानों द्वारा नाश की जाने वाली भारतीय संस्कृति और सम्पत्ति की रक्षा का भार इन्हीं राजपूतों के कन्धों पर था। अपने राष्ट्र और धर्म के स्वत्व पर आक्रमण करने वाले धर्मनाशक और देश-घातक दुश्मनों का सामना कर उनकी शक्ति का नाश करने के लिये उनसे सतत संघर्ष करते रहना, इन राजपूतों का एकमात्र कर्त्तव्य बना हुआ था।

इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिये हर एक राजपूत-राज्य सदा तैयार रहता था और वैसा प्रसंग उपस्थित होने पर वह तुरन्त सघर्ष में उतर पड़ता था। पर इन राजपूतों में यह एक जन्मजात दोष था कि वे परस्पर संघटित हो कर अपनी सामूहिक शक्ति बढ़ा कर किसी एक व्यक्ति के नेतृत्व के नीचे इन विधर्मियों के आक्रमणों का समूल नाश करने का प्रयत्न नहीं करते थे। व्यक्तिगत महत्ता और महत्त्वाकांक्षा की रक्षा के लिये राजपूत सदैव मरने को उत्सुक रहता था परन्तु सामूहिक महत्ता की रक्षा के लिये वह उदासीन रहता था। और इसीलिये राजपूत अपनी सामूहिक शक्ति संगठित करने में सदैव विफल रहे।

मुसलमानों ने जब भारत को अपना सत्ताकेन्द्र बनाने का प्रयत्न चालू किया तब इन राजपूतों के उत्तर, पश्चिम और मध्य-भारत में कई अच्छे, बड़े एवं शक्तिशाली राज्य थे। पंजाब में लाहोर, उत्तर प्रदेश में कन्नौज, पूर्व में गौड़, राजस्थान में अजमेर, गुजरात में अनहिलवाड़-पाटन, मालवे में धारा, विन्ध्य-

प्रदेश में त्रिपुरी और महाराष्ट्र में देवगिरि जैसे समृद्ध और शक्तिसम्पन्न बड़े राज्य थे और इनके आधिपत्य में अनेक बड़े राजपूत राजवंशों के छोटे-छोटे राजघराने भी बड़ी संख्या में सत्ताधीश बने हुए थे । इनके शासन के नीचे सारा भारत प्रायः स्वस्थ, सुरक्षित और समृद्धिसम्पन्न था । यद्यपि ये राज्य बारम्बार आपस के मानापमान के निमित्त परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते थे और एक दूसरे की सत्ता को उखाड़ने-जमाने के लिये छोटे-छोटे युद्ध किया करते थे परन्तु उससे सारे राष्ट्र को कोई धक्का लगे वैसा कोई अनिष्ट परिणाम नहीं निकलता था। आठवीं शताब्दी में, उपर्युक्त उल्लेखानुसार, जब सबसे प्रथम मुसलमानी आक्रमण सिन्ध प्रदेश पर शुरू हुआ तब उस प्रदेश के सन्निकट प्रतिहार-वंशीय राजपूतों का भिन्नमाल या जालोर में शक्तिशाली राज्य था। सिन्ध का प्रदेश इन्हीं के सामंतों द्वारा प्रशासित था । सिन्ध पर लुटेरे अरबों के आक्रमण को प्रतिहारों ने कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया । बाद में प्रतिहारों की शक्ति बढ़ी और उन्होने उत्तर-भारत-स्थित कन्नौज के समृद्धिशाली राज्य पर अपना अधिकार जमा कर उसको अपनी राजधानी बनाया ।

कन्नौज में रहते हुए प्रतिहारों को पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के निकटवर्ती सभी प्रदेशों पर अपनी प्रभुसत्ता जमाने में ठीक-ठीक सफलता मिली। सुदूर दक्षिण के राष्ट्रकूट और चालुक्यवंशीय राज्य भी उनके संघर्ष में आये। इन्हीं के सत्ताकाल में मारवाड़ के चाहमान (चौहान), मेवाड़ के गुहिलोत (सीसोदिया), आबू और मालवा के परमार, गुजरात-सोराष्ट्र के चावडा, दिल्ली-पंजाब के तोमर और विन्ध्यप्रदेश के चेदी आदि सुप्रसिद्ध राजपूत राजवंशों का अभ्युदय होना शुरू हुआ । प्रतिहारों का प्रभुत्व क्षीण होने लगा । शक्ति और समय पा कर, दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने प्रतिहारों से कन्नौज छीन लिया और उस को अपनी राजधानी बनाया ।

मध्यकालीन इतिहास के प्रारम्भ की शताब्दियों में राजपूत जाति का सबसे बड़ा शक्तिशाली साम्राज्य प्रतिहारों का था । इसी साम्राज्य के अवशेष रूप में राजपूत-जातीय परमार, चाहमान, चावडा, चालुक्य, गुहिलोत, तोमर, यादव, राठोड़ आदि राजवंशों का अभ्युदय हुआ और उन्होंने उपर्युक्त प्रदेशों पर अपनी अलग-अलग शासन-सत्तायें स्थापित कीं ।

भारत में जब इन नूतन राजपूत राज्यों का सामर्थ्य और प्रभाव जम रहा था तब अरब के मुसलमान-धर्म और उसके अनुयायियों का प्रभाव मध्य एशिया के मुल्कों में बड़ी शीघ्रता से बढ़ रहा था । भारत के निकटस्थ ईरान, ईराक,

अफगानिस्तान आदि देशों में जो पुराने धर्मानुयायी लोग थे उनकी सत्ता, संपत्ति और संस्कृति को नष्ट करने का प्रबल प्रयत्न किया जा रहा था और उन्हें बलात्कार से नये धर्म का अनुयायी बनाया जा रहा था। इन नये बने मुसलमानों में जो बुद्धिशाली, साहसी और हिम्मतवान् थे वे सत्ताशाली बनते गये और दिन-प्रति-दिन अपना सामर्थ्य और प्रभाव बढ़ाने में व्यस्त रहने लगे। अफगानिस्तान के लोग एक प्रकार से हिन्दू रक्त के थे और जो बौद्ध धर्म के उपासक थे, वे तलवार के बल पर मुसलमान बना दिये गये थे। वहां के भव्य बौद्ध मठों और चैत्यों तथा स्तूपों को जमींदोज़ कर दिया गया। इन्हीं नये मुस्लिमों में एक गुलाम सरदार सुबुक्तगीन गज़नी का शासक बना और उसकी नज़र भारत की संपत्ति पर पड़ी। उसने ठीक-ठीक सैनिक शक्ति संगठित कर पंजाब पर आक्रमण किया। यद्यपि वह पंजाब से बहुत आगे नहीं बढ़ सका परन्तु पंजाब में उसे बहुत संपत्ति लूटने का मौका मिल गया। वह लूट का माल लेकर वापस गजनी चला गया और वहां मर गया। उसके तख्त पर उसका बेटा महमूद बादशाह बना। उसके बाप द्वारा पंजाब से मिली संपत्ति से वह अधिक सैनिक शक्ति जुटाने में सफल हुआ और फिर बड़े पैमाने पर भारत पर आक्रमण करने की योजनाएं उसने बनानी शुरू कीं। भारत के उक्त प्रकार के नव प्रस्थापित राजपूत राजवंशीय राजाओं को उसकी शक्ति और महत्वाकांक्षा की विशेष जानकारी नहीं हुई। वे अपने राज्य और प्रभुत्व के अभिमान में मस्त रहा करते थे और समय-समय पर आपस में एक दूसरे पर चढ़ाइयां कर अपनी शक्ति का परीक्षण और प्रदर्शन किया करते थे। उनका न कोई सार्वभौम सम्राट् था और न कोई अग्रणी था। वे सब अपने आपको समान मानते थे और एक दूसरे से ईर्ष्या किया करते थे।

महमूद गजनवी ने भारतीय राजाओं की इस परिस्थिति का यथेष्ट लाभ उठाना शुरू किया। उसने सन् १००० ईस्वी से लेकर १०२६ ई० तक में १७-१८ बार भारत के इन राजपूत राज्यों के प्रदेशों पर सतत आक्रमण किये और प्रत्येक आक्रमण में वह अपार संपत्ति लूट-लूट कर ले गया। कन्नौज के राज्य पर आक्रमण करके उसके प्रतिहार सम्राट् राज्यपाल को पराजित किया, इससे अन्य राजपूत राजाओं का साहस टूट गया। महमूद ने अपना इस्लामी कट्टरपन दिखाने के लिये, संपत्ति लूटने के साथ-साथ हिन्दुओं के धर्मस्थानों का नाश करने का भी वैसा ही ज़ोरदार प्रयत्न किया। इस दृष्टि से सौराष्ट्र में स्थित राजपूत राजाओं का सब से बड़ा पूजनीय एवं उपास्य इष्टदेव, सोमनाथ का जो अतिभव्य मंदिर था उसका विध्वंस करने के लिये महमूद ने बहुत ही दुःसाहस-

पूर्ण आक्रमण किया। इस आक्रमण में उसने मन्दिर का बड़ा विध्वंस तो किया ही पर साथ में हजारों नगरजनों का भी बड़ी क्रूरता के साथ भयङ्कर संहार किया।

प्रायः प्रति वर्ष होने वाले महमूद के आक्रमणों से पंजाब, दिल्ली, अजमेर, अणहिलपुर-पाटण और सौराष्ट्र के राजवंश हीनबल हो गये और प्रजाजन अत्यन्त त्रस्त हो गये। हिन्दू राजा और प्रजा को तब समझ में आने लगा कि इन विदेशी और विधर्मियों के भारत पर आक्रमण करने का क्या लक्ष्य है। तभी से हिन्दू जाति के मन में इन बर्बर आक्रमणों का बड़ा आतंक-जनक भय पैदा होने लगा। अपने राष्ट्र, धर्म और संस्कृति पर भयानक प्रहार करने वाली विधर्मी शक्ति की अकस्मात् और अकल्पित रीति से आगमन की अनिष्ट आशंका से समग्र हिन्दू जाति का चिरशान्त मन उद्विग्न होने लगा।

सन् १०३० ई० में महमूद गजनवी मर गया। उसके उत्तराधिकारी वैसे शक्तिशाली न रहे। उन पर अन्य मुसलमान शक्तियां आक्रमण करने लगीं इसलिए कोई १५० वर्ष तक भारत पर मुसलमानों के वैसे आक्रमण न हो पाये; अतः हिन्दू जाति के रक्षक राजपूत एक प्रकार से फिर निश्चिन्त हो गये। महमूद गजनवी के आक्रमणों को उन्होंने अकस्मात् होने वाले दैवी-प्रकोप के समान आकस्मिक आया हुआ एक प्रकार का तूफान ही समझा। तूफान के निकल जाने पर जिस तरह सब व्यवहार पूर्ववत् चलता रहता है उसी तरह कुछ समय बाद वे सब हिन्दू राजा भी महमूद गजनवी के दुष्ट कारनामों को भूल गये। यद्यपि प्रतिहार राजवंश उसके बाद उस तरह फिर नहीं उठ पाया—उनका राज्य दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने हड़प लिया, परन्तु अजमेर के चाहमान, गुजरात के चालुक्य, मालवे के परमार आदि राजवंश अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे रहे। इनके संरक्षण और आधिपत्य के नीचे रहने वाले अन्यान्य छोटे-छोटे राजपूत घराने भी अपने-अपने ठिकानों को जमाने में लगे रहे। सन् १०४० ई० से लेकर ११९० ई० तक का १५० वर्ष का समय इन राजपूत राज्यों के लिये एक प्रकार से शान्ति, सुख, समृद्धि और सांस्कृतिक विकास का समय रहा। इस समय में सारे देश में सैकड़ों देव-मन्दिरों का निर्माण हुआ, बड़े-बड़े सरोवर बने, अनेक नए नगर और दुर्ग स्थापित हुए, एवं सैकड़ों ही विद्वान् तथा धर्माचार्य अवतीर्ण हुए और विशाल परिमाण में साहित्य का सर्जन हुआ। प्रजाजन यथेष्ट सुख और शान्ति का अनुभव करते रहे।

पर भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से पार वाले प्रदेशों में मुसलमान शासकों में परस्पर की सत्ता-स्पर्धा बड़ी उग्रता के साथ चल रही थी। वहां पर मार-

काट और लूट-नाश का राज्य फैला हुआ था। गजनी में मुहम्मद के वंश का उच्छेद कर गोर कबीले के एक साहसी और शक्तिशाली शहाबुद्दीन नामक सरदार ने अपनी सत्ता जमा ली। इसने महमूद गजनवी के भारत पर किये गये आक्रमणों के पाठ खूब पढ़े और फिर इसने भी उसी तरह की तैयारी कर पंजाब पर चढ़ाई की। पंजाब में उसकी शक्ति को रोक सके वैसा कोई बलवान् राजपूत राज्य नहीं था। पंजाब का बहुत बड़ा हिस्सा दिल्ली के अधीन था इसलिए शहाबुद्दीन ने दिल्ली पर ही जोरदार आक्रमण करना अच्छा समझा। इस आक्रमण का वर्णन प्रस्तुत हम्मीर महाकाव्य में किया गया है जिसके विषय में आगे उल्लेख आ रहा है।

*

उस समय दिल्ली पर अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज का शासन था। यह राजा यद्यपि बड़ा वीर था परंतु युद्ध-निपुण नहीं था। वह बहुत विलासी था इसलिये राज्य की शक्ति को सुदृढ़ बनाने की ओर उसका लक्ष्य कम रहता था। सन् ११९२ में शहाबुद्दीन ने प्रथम बार दिल्ली पर आक्रमण करना चाहा तब पृथ्वीराज की सेना से तराई के मैदान में उसका मुकाबला हुआ। राजपूतों का जोर उस लड़ाई में भारी रहा इससे शहाबुद्दीन हार कर भाग निकला और गजनी जाकर विशेष रूप से अपनी सैनिक तैयारी के साथ उसने फिर दूसरे वर्ष दिल्ली को आ घेरा। पृथ्वीराज अपनी कमजोरी के कारण तैयार न हो सका और वह उस लड़ाई में पकड़ा गया और मार डाला गया। उत्तर प्रदेश में कन्नौज का बड़ा राज्य था जिसका राजा जयचन्द राठौड़ था। वह पृथ्वीराज का कट्टर दुश्मन था इसलिये चौहानराज के नाश होने से उसको कुछ हर्ष ही हुआ; परंतु उसके दूसरे ही वर्ष शहाबुद्दीन ने उस पर भी जोर का धावा बोल दिया और जयचन्द ने लड़ाई में हार कर अपना राज्य और प्राण दोनों खो दिये।

दिल्ली राजपूत-राज्यों के गढ़ का प्रवेश-द्वार-रूप थी। जब तक इस प्रवेश-द्वार पर दुश्मनों का कब्जा न हो पाया था तब तक राजपूत राज्य उतने सशंक और भयभीत न हुए थे, परंतु दिल्ली पर मुसलमानों का कब्जा हो जाने पर छोटे, बड़े सब राजपूत राज्य एक प्रकार से दिङ्मूढ और साहसहीन हो गये। शहाबुद्दीन ने इस परिस्थिति का पूरा लाभ उठाने की दृष्टि से गुजरात के समृद्ध और विशाल राज्य पर भी आक्रमण किया। तत्कालीन चालुक्य राजा भीमदेव को—जो प्रभाव और सामर्थ्य की दृष्टि से निर्बल-सा था—पराजित कर गुजरात-सौराष्ट्र के प्रदेशों पर भी उसने अपना आतंक फैलाया। गुजरात की सीमा से सटे

हुए मालवा और मेवाड़ के राज्यों में भी मुसलमानी सेनाओं के सरदारों ने लूट-मार का तूफान मचाना चालू कर दिया।

शहाबुद्दीन ने दिल्ली को अपने कब्जे कर मुसलमानी सत्ता का कायमी केन्द्र बनाया। शहाबुद्दीन इस तरह राजपूत राज्यों को बलहीन कर और उनकी अपार संपत्ति लूट कर अपनी शक्ति बढ़ाने में बहुत सफल हुआ। वह दिल्ली में अपने एक तुर्क जाति के गुलाम सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को सूबे का शासक नियुक्त कर, बाद में लाहौर से गजनी की ओर रवाना हुआ तो सन् १२०७ में गक्खरों के हाथों से रास्ते में ही मारा गया।

उसके मरने पर, दिल्ली में कुतुबुद्दीन ऐबक ने शाही राज-चिह्न धारण कर अपने को दिल्ली का सुल्तान घोषित कर दिया और इस प्रकार वह दिल्ली का प्रथम मुसलमान बादशाह बना। तब से दिल्ली मुसलमानों की कायमी राजधानी बनी।

राजपूत राज्यों का दिल्ली केन्द्रभूत एवं हृदयरूप स्थल होने के कारण, इस प्रकार उसके मुसलमानी सत्ता की कायमी राजधानी बन जाने के बाद, राजपूतों के लिये बड़े घोर संकट की परिस्थिति उत्पन्न हो गई। उस दिन बाद कोई राजपूत राजा सुख की नींद से नहीं सोया। दिल्ली के मुसलमान दिन-प्रति-दिन अपनी शक्ति बढ़ाने में जुट गये और वे अपने आसपास के राजपूत राज्यों पर सतत आक्रमण करते रहे। परन्तु, दिल्ली के इन मुसलमान बादशाहों पर भी हिन्दुस्तान के बाहर के राज्य-सत्ता-लोलुप उनके स्वधर्मी भाई मुसलमानों के बारंबार आक्रमण होते रहे और एक के बाद दूसरे शासक दिल्ली का राज्य-सिंहासन हड़प लेने का प्रयत्न करते रहे।

*

मुसलमानों की जीवन-प्रणाली और हिन्दुओं की जीवन-प्रणाली में बड़ा अन्तर है। मुसलमानों के धार्मिक आदर्श और सामाजिक संगठन हिन्दुओं से भिन्न प्रकार के हैं। हिन्दू जनता धर्म, वर्ण और जाति-भेद के कारण अनेक समूहों में विभक्त है। मुसलमानों में वैसा धर्म, वर्ण या जाति की दृष्टि से कोई मौलिक भेद नहीं है। धर्म की दृष्टि से सब मुसलमान मुहम्मद पैगंबर के बतलाये हुए एक इस्लाम को मानने वाले हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसे उनमें कोई वर्ण-विशेष नहीं हैं। विभिन्न देशों में और विभिन्न प्रान्तों में रहने वाले मुसलमान अपने देश या प्रान्त के कारण भिन्न-भिन्न जाति के नाम से

पहचाने जाते हैं, परन्तु उनमें हिन्दुओं की जाति-प्रथा के जैसा कोई सामाजिक भेदभाव बताने वाला मौलिक सिद्धान्त नहीं है। किसी भी देश का, किसी भी जाति का कोई भी मुसलमान समानधर्मी के नाते अवसर मिलने पर समान सामाजिक दर्जा प्राप्त कर सकता है। इसलिए जो भी मुसलमान इस्लाम के झंडे के पीछे चलता था वह यथाशक्ति सत्ता और सम्पत्ति का भागीदार बन सकता था। मुसलमान शासक जब देशों पर आक्रमण कर संपत्ति लूटा करते थे उसका कुछ हिस्सा वे अपने मुस्लिम सैनिकों को भी बांट दिया करते थे इससे उनकी सैनिक शक्ति दृढ़ होती रहती थी और लूट के लालच के कारण सदैव उनके सैनिक आक्रमण के लिए सन्नद्ध रहते थे। लड़ाई के लिए उनका कोई खास लक्ष्य नहीं होता था। विधर्मियों की संपत्ति लूटना और काफ़िरों को तबाह करना, यही उनका मूल मंत्र था। विधर्मी (काफ़िर) को मुसलमान बनाने से अल्लाह खुश होता है और उसकी मेहरबानी उस पर उतरती है, यह एक पैगंबर साहब का फतवा था, इसलिए मुसलमानों की यह श्रद्धा बन गई थी कि जो कोई मुसलमान किसी विधर्मी या काफ़िर को, बलात्कार से भी, इस्लाम का अनुयायी बनाता है तो वह खुदा की बन्दगी ही करता है। इस प्रकार की धार्मिक श्रद्धा के कारण मुसलमानों को अपने विधर्मी शत्रुओं पर आक्रमण करने का दूना उत्साह रहता था। एक तो संपत्ति की प्राप्ति और दूसरी अल्लाह की मेहरबानी। संपत्ति का मतलब केवल चांदी, सोना, जवाहरात आदि से ही नहीं है; संपत्ति के अन्दर इनके उपरांत मनुष्य, स्त्रियां, पशु, धान्य आदि भी सब चीजें आ जाती हैं। लड़ाई में अनेक प्रकार के और अनेक वर्ग के स्त्री, पुरुष, बच्चे भी पकड़े जाते थे। इनमें से जो अपने काम में आने लायक होते थे वैसे लोगों को वे अपने गुलाम, दास, दासी आदि के रूप में रख लेते थे, जो वैसे नहीं किये जाते थे उनको अन्य देशों में जाकर बेच दिया जाता था। इस प्रकार की मुस्लिमों की युद्ध-नीति के कारण उनकी संख्या और शक्ति दोनों ही इस देश में प्रतिदिन बढ़ने लगी।

राजपूतों का धार्मिक आदर्श और सामाजिक संगठन इससे बिल्कुल भिन्न था। धर्म-प्रचार की भावना से वे कभी युद्ध के लिए प्रेरित नहीं होते थे। बलात्कार से या अन्य घृणित उद्देश्य से वे किसी का धर्म-परिवर्तन नहीं करते कराते थे, ना ही किसी विधर्मी को वे अपने धर्म में मिलाना चाहते थे। धर्म के निमित्त किसी भी निरपराध मनुष्य की हत्या करना घोर पाप माना जाता था। स्त्रियों के जीवन की रक्षा करना राजपूत का परम धर्म माना जाता था।

राजपूतों का सामाजिक संगठन भी एक प्रकार के दायरे में बंधा हुआ

था। वे अपनी जाति के आचार-विचारों से दृढ़ बंधे हुए थे। मुसलमानों की तरह उनका सामाजिक जीवन वर्णसंकर के रूप में सर्वथा विश्रृंखलित और शिथिल नहीं था। वे न अपने से भिन्न किसी विधर्मी जाति के साथ मुक्त रूप से रक्त-संबंध करना चाहते थे और ना ही उनके साथ खान-पानादि में एकाकार होना चाहते थे। सत्ताधीश राजपूत की भी यही जीवन-प्रणाली थी और सामान्य राजपूत की भी यही जीवन-प्रणाली थी। आर्थिक परिस्थिति की न्यूनाधिकता के कारण राजपूत में छोटे-बड़े का भाव अवश्य रहता था, परन्तु उसके निमित्त वह अपने धार्मिक आदर्श और सामाजिक संस्कार से च्युत नहीं होता था। राजपूत के जीवन का मुख्य लक्ष्य स्वधर्म का पालन और रक्षण करना था। उसका स्वधर्म अपनी मातृ-भूमि की आततायियों से रक्षा करना, अपने देशजनों की सुख-शान्ति का विकास करना और अपने पूर्वजों के संस्कारों का पालन करना था।

मुसलमानों के साथ संघर्ष करता हुआ हर एक राजपूत अपनी इसी जीवन-प्रणाली का अनुसरण करता रहा। यद्यपि इससे राजपूत के जातीय-गौरव की तो रक्षा होती रही परन्तु उसकी प्रभुता की शक्ति क्षीण होती गई। वह भारत के राष्ट्रीय गौरव की रक्षा न कर सका। वह अपनी पैतृक भूमि की रक्षा के लिए सदैव प्राणार्पण करता रहा। इससे अधिक अखिल भारतीय महत्त्वाकांक्षा उसमें न पनप सकी और वह भारत की स्वाधीनता के नाश का साक्षी मात्र बना रहा।

*

दिल्ली के, उक्त रूप से, मुसलमानी सल्तनत की कायमी राजधानी बन जाने से पंजाब और उत्तर प्रदेश के राजपूत शासक तो पराधीन हो ही चुके थे परन्तु गुजरात, मालवा, मेवाड़ के राजपूत राज्य अपनी स्वतन्त्रता बनाए हुए थे और वे मुसलमानों पर यदा कदाचित् आक्रमण किया करते थे—इसलिए कुतुबुद्दीन ऐबक ने अजमेर भी पृथ्वीराज के वंशज से छीन लिया और उक्त गुजरात आदि राज्यों पर आक्रमण के लिए वहाँ अपना मजबूत किला बनाने की नींव रख दी।

सन् १२१० ई० में कुतुबुद्दीन मर गया। उसके उत्तराधिकारी तथा अन्य मुस्लिम सरदार आपस में लड़ते रहे, इससे राजस्थान के राजपूतों पर उनका कोई वैसा ज़ोरदार आक्रमण न हो सका। गुलामवंश से सन् १२९० में खिलजी वंश के जलालुद्दीन ने दिल्ली की गद्दी छीन ली। सन् १२९४ में उसके भतीजे अलाउद्दीन ने उसको मार डाला और वह स्वयं दिल्ली का बादशाह बन गया।

अलाउद्दीन अपने समय का एक बहुत ही साहसी, पराक्रमी, महत्त्वाकांक्षी और क्रूर प्रकृति का शासक था। उसने महमूद गज़नवी और शहाबुद्दीन गोरी दोनों मुसलमान आक्रान्ताओं के भारतीय राज्यों पर किए गए आक्रमणों का अच्छी तरह सिंहावलोकन किया और उनके आक्रमणों की ज्वालाग्नि में दग्ध होने से बच रहे राजपूत राज्यों को भस्मीभूत करने का संकल्प किया। उसकी महत्त्वाकांक्षा केवल दिल्ली का सुल्तान ही बने रहने की नहीं थी अपितु सारे भारत का वह सार्वभौम सम्राट बनना चाहता था। वह बड़ा बुद्धिशाली, चतुर और युद्ध-निपुण था। उसने देखा कि जब तक उसके आसपास के प्रदेशों में शासन करने वाले राजपूत राज्य नामशेष नहीं हो जाते तब तक सारा भारत का सार्वभौमत्व तो दूर की बात है दिल्ली की सल्तनत भी सही सलामत नहीं मानी जा सकती इसलिए उसने सबसे पहले अपने निकटस्थ प्रदेशों के राजपूत राज्यों पर आक्रमण शुरू कर दिये। भारत की समृद्धि को लूट-लूट कर खूब मालदार बने हुए मुसलमानों की बातें सुन-सुन कर मध्य एशिया के हज़ारों भूखे मुसलमान दिल्ली के सुलतानों की सेना में भरती होने को सदैव लालायित रहते थे इसलिए अलाउद्दीन की सैनिक शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी। इधर राजपूत राज्यों मे देश को रक्षा का सारा भार मुख्य करके अकेली राजपूत जाति पर हो था। अन्य जाति के लोग सैनिक के रूप में बहुत ही कम हिस्सा लेते थे। देश की जनता के परिमाण में राजपूत जाति की जन-संख्या बहुत ही स्वल्प थी। इस कारण सैनिक शक्ति की दृष्टि से राजपूत राज्य निर्बल थे। अलाउद्दीन ने इस परिस्थिति का लाभ उठाना शुरू किया और उसने एक के बाद एक राजपूत राज्यों पर आक्रमण शुरू कर दिये। उसने अलग अलग रूप से, अलग अलग समय में, मारवाड़, मेवाड़, मालवा, गुजरात और दक्षिण के देवगिरि तक के राज्यों पर भयानक आक्रमण किये और उनको तहस-नहस करने में कोई कसर नहीं रखी। उसको पराजित करने की इन राजपूत राज्यों में शक्ति नहीं रही। अलाउद्दीन के आक्रमणों से रणथंभोर, चित्तौड़, जालोर और देवगिरि जैसे सुदृढ़ दुर्ग भी अपनी रक्षण-शक्ति खो बैठे। एक प्रकार से सारा ही भारत निस्तेज और निःसत्त्व हो गया। हिन्दुओं के जो बड़े-बड़े तीर्थ-स्थान थे उनको नष्ट भ्रष्ट कर दिया, हजारों देव-मन्दिरों को तोड़ गिराया और देवताओं की मूर्तियों के टुकड़े करवा दिए गए। हजारों स्त्री-पुरुष व बच्चे कत्ल कर दिए गए तथा बन्दी बना लिए गए। भारत की जनता ने अलाउद्दीन के शासन को प्रलयकाल जैसा अनुभव किया। सन् १३१६ में वह मर गया। आक्रमण काल में नष्ट होने वाले गुजरात, महाराष्ट्र और मालवा के समृद्ध राजपूत राज्य सदा

के लिए नष्ट हो गये। उनके स्थान पर दिल्ली ही की तरह मुसलमानी सत्ता स्थापित हो गई।

अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद राजपूतों के अधीन वही छोटे-बड़े कुछ राज्य रह गये थे जो खास करके राजस्थान में थे। इनमें मुख्य करके मेवाड़ के गुहिलोत (सीसोदिया), मारवाड़ के राठोड़ और चौहान तथा आमेर के कछवाहे, जैसलमेर के भाटी वंश उल्लेख-योग्य रह गये। अलाउद्दीन की मृत्यु से लेकर औरंगजेब की मृत्यु पर्यन्त राजस्थान के ये ही राज्य दिल्ली की मुसलमानी सल्तनत के साथ सतत संघर्ष करते रहे और भारत की राष्ट्रीय चेतना की ज्योति को जैसे-तैसे भी जलती रखने का प्रयत्न करते रहे। इस्लामी झंझावात इस ज्योति को सर्वथा बुझा देने के निमित्त इस महान् राष्ट्र में प्रविष्ट हुआ था। उसके दारुण वेग ने इस ज्योति को बहुत ही कंपित किया और हीनप्रभ बना दिया। सारे भारत में एक प्रकार से आतंक, निराशा और असहायता का अन्धकार फैलता जा रहा था। समग्र हिन्दु जाति कलिकाल का स्मरण कर 'दैवेच्छा बलीयसी' के अकर्मण्य वाक्य को रटा करती थी। भारत की प्राय: सारी सुजला, सुफला और सस्यश्यामला भूमि विधर्मियों के विलास और वैभव की सुख-शय्या बन रही थी। बड़े-बड़े सम्राटों के सिंहासन उखड़ गये और उनकी समृद्धिशाली राजधानियां उजड़ गईं। सोना, चाँदी, हीरा, माणिक्य, मोती आदि बहुमूल्य वस्तुओं से भरपूर उनके वैभव-भंडार लुट गये और विधर्मियों के खजाने उनसे लदबद हो गये।

राजस्थान की निर्जल-निष्फल मरुभूमि और आड़ावला की कंकरीली पहाडी जमीन में बसने वाले, सदा अन्न और जल के लिये तड़पने वाले तथा दरिद्र गांवों के टूटे फूटे घरों में जन्म पाने वाले इन अत्यल्पसंख्यक राजपूतों के दिलों में इस ज्योति का मन्द-मन्द प्रकाश सदा जलता रहा।

राजस्थान के राजपूत स्थान-शून्य, धन-हीन और संकटपूर्ण परिस्थिति से घिर रहे थे, तब भी उन्होंने अपने पूर्वजों की जलाई हुई ज्योति को बुझने नहीं देने का प्रयत्न सतत चालू रक्खा। राजस्थान के बचे-खुचे ये राजपूत घराने, सिन्ध, गुजरात, मालवा, दिल्ली आदि की बलवान् मुसलिम सत्ताओं से चारों तरफ़ से घिरे हुए थे तथापि वे मृत्यु के भय से साहसहीन न होकर अपने पूर्वजों की भूमि के उद्धार के लिये बड़ी वीरता के साथ लड़ते रहे। वे कभी हारे, कभी जीते, कभी भागे, कभी मरे—पर लड़ते सदा रहे। उन्होंने हताश होकर अपने हाथ में से तलवार कभी जमीन पर नहीं फेंकी। लड़ाई में लड़ते-लड़ते बाप मरे

जाता था तो उसकी तलवार बेटा उठा लेता था, वह भी मर जाता तो रावले में बैठी वृद्धा ठकुरानी दादी-माँ ठिकाने के भावी वारसदार छोटे भंवर की कमर में तलवार बांध कर और हाथ में बरछी दे कर उसे लड़ाई में भेज देती थी। मौत से डर कर अपनी पैतृक भूमि की रक्षा करने से मुंह मोड़ने वाले राजपूत को रजपूतानी शाप देने लगती थी, माता मुंह नहीं देखना चाहती थी—स्त्री कायर पति को फटकार सुना कर स्वयं मर जाना पसन्द करती थी। लड़ाई में विजय हुई तो जय-जयकार के नक्कारे बजते थे, महलों में धवल-मंगल के गीत गाये जाते थे, घर-घर तोरण और ध्वजाएं बांधी जाती थीं, राजकुल की और प्रजावर्ग की नारियां जगह-जगह नृत्य करती थीं, देव-मन्दिरों में घंटा-नाद बजते थे, दीन-दरिद्रों को विपुल दान दिया जाता था। वीरों को शिरोपाव प्रदान किये जाते थे उनको प्रजा के शुभाशीर्वाद प्राप्त होते थे; पर यदि युद्ध में शत्रु की विजय हुई तो राजपूत अपने सर्वस्व को अग्निदेव को समर्पण कर देते थे। राजकुल की राजपूतानियां अपने समस्त बहू-बेटी आदि आत्मीय नारी-वर्ग के साथ सोलह श्रृंगार सज कर, इष्ट देवताओं की पूजा आरती उतारती हुई, अपने वीरों और सुभटों को शुभाशीर्वाद देती हुई, मंगल-गान गाती हुई जौहर की ज्वालाओं में जा विराजती थीं। लड़ते-लड़ते बचे-खुचे वीर राजपूत, अपना सब धन, धान्य, वस्त्र, आभूषण आदि सर्वस्व को जल-शरण या अग्नि-तर्पण द्वारा नष्ट करके युद्ध के मैदान में शत्रु के सन्मुख जा डटते। सन्मुख खड़ा शत्रु कितना बलवान् है, कितने उसके सुभट मरने-मारने के लिये सन्नद्ध हैं, इसका विचार वे राजपूत वीर योद्धा नहीं करते थे। उनके पूर्वजों के इस महामंत्र—'अपने कर्तव्य का पालन करने निमित्त यदि युद्ध मे मृत्यु हो गई तो परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होगी और यदि जीत हुई तो इस लोक में पृथ्वी का उपभोग प्राप्त होगा' का स्मरण करते हुए वे वीर अपना आत्मोत्सर्ग कर देते थे; यह थी राजपूत की सामूहिक जीवन-प्रणाली।

मुसलमानों के साथ इस प्रकार राजपूतों ने शताब्दियों तक युद्ध किये और अपने देश और धर्म की रक्षा के निमित्त उन्होंने सैंकड़ों बार ऐसे महान् आत्म-बलिदान किये। राजपूतों के अद्‌भुत शौर्य-दर्शक इतिहास की ये सैंकड़ों कहानियाँ जन-मानस में शताब्दियों से अंकित हो रही हैं। सैंकड़ों कवियों, चारणों, भाटों तथा कथा-वार्ता-लेखकों ने इन कहानियों को शब्दबद्ध किया है।

पाठकों के हाथ में जो पुस्तक है वह भी इसी प्रकार के राजपूत जाति की जीवन-प्रणाली के इतिहास का एक चित्र आलेखित करती है।

*

हमने ऊपर सूचित किया है कि भारत पर मुसलमानों के आक्रमण का सर्व-

प्रथम केन्द्रस्थान, भारत का वह प्रदेश रहा है जिसके मध्य में आज का राजस्थान राज्य अवस्थित है। यह वर्तमान राजस्थान प्रदेश ही इतिहास-प्रसिद्ध राजपूत-राजवंशों का उत्पत्ति स्थान और कार्य-केन्द्र रहा। उस काल में राजपूत जाति के मुख्य चार राजवंश अग्रणी थे—१. प्रतिहार, २. परमार, ३. गुहिलोत और ४. चाहमान। प्रतिहारों के विषय में ऊपर कह आये हैं कि उनका मूल निवास-स्थान आबू पहाड़ के समीप भिन्नमाल और जालोर था। वे बाद में उत्तर के कन्नौज के सम्राट बन गये। परमार वंश की उत्पत्ति आबू में हुई। उनका वंश विस्तार बहुत हुआ और उन्होंने सारी मरुभूमि याने मारवाड़ और सिन्ध के प्रदेश पर अपनी सत्ता जमाई। बाद में, वे मालवा के विशाल रसाल प्रदेश के स्वामी बन गये – इतिहास-प्रसिद्ध उज्जयिनी को उन्होंने अपनी राजधानी बनाई। गुहिल वंश की स्थापना उदयपुर के निकट एकलिंगजी के सान्निध्य में हुई। मेवाड़ का प्राचीनतम नगर आघाट (आहाड़) उनका राज्य स्थान बना; बाद में वे भारत के एक सर्वश्रेष्ठ दुर्ग चित्तौड़ के भी स्वामी बने। चाहमान वंश के मूल पुरुष का प्रादुर्भाव राजस्थान के अमृतकूप समान पुष्कर तीर्थ में हुआ। इस वंश ने सपादलक्ष की शाकम्भरी (सांभर) नगरी को अपनी राजधानी बनाया और बाद में पुष्कर ही के समीप अजयमेरु नगर बसा कर वहाँ राज्य-सिंहासन प्रतिष्ठित किया। मरुभूमि के बहुत से भू-भाग पर उनका आधिपत्य रहा और पीछे से वे दिल्ली को अपने हस्तगत करके पुराण प्रसिद्ध भारत की प्राचीन राजधानी के सम्राट हो गये। दिल्ली और अजमेर को जब मुसलमानों ने अपने अधिकार में ले लिया तो उस वंश के अवशिष्ट वीरों ने उत्तर में रणथंभोर और दक्षिण में जालोर के दुर्ग पर अपने अवान्तर राज्य स्थापित किए।

राजस्थान की दक्षिणी-पश्चिमी सीमा से मिला हुआ गुजरात में चालुक्यों का राज्य था, जो पहले प्रतिहारों ही के साम्राज्य के अन्तर्गत था—परन्तु, पीछे से स्वतन्त्र राज्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गया और मुसलमानों के आक्रमणों का सामना करने में उसने भी यथायोग्य भाग लिया।

दिल्ली में जब मुसलमानों की स्थायी सत्ता जम रही थी उस अर्से में राजस्थान में राठौड़ों और कछवाहों का प्रवेश हुआ। इन्होंने यथा-समय जोधपुर और आमेर में अपने राज्यासन स्थापित किये। दिल्ली के सुलतानों के आक्रमणों के प्रसंगों में इन्होंने भी अपने सम-जातीय उक्त राजवंशों के साथ-साथ म्लेच्छों का विध्वंस करने मे पूरा हिस्सा बटाया।

मुसलमानों की तरह हमारे देश में लम्बे-चौड़े इतिहास लिखने की परम्परा नहीं थी। हमारे पूर्वजों ने इतिहास की क्रमबद्ध घटनाओं को लेखनबद्ध करने

की उपेक्षा की। पुराण-प्रसिद्ध कल्पित कथाओं को लिखने में जहाँ लाखों श्लोक लिख डाले, वहाँ किसी भी इतिहास-कालीन महान् व्यक्ति के विषयक विश्वसनीय जीवन-कथा के उल्लेखन में १००-२०० श्लोक भी नहीं लिखे गये। इसलिए हमारा प्राचीन इतिहास घोर अन्धकार में छिपा हुआ है। ऊपर हमने राजपूत जाति के स्वधर्म-रक्षार्थ किये गये जीवनोत्सर्ग के बारे में जो शब्द-चित्र आलेखित किया है वह विशेषकर मुसलमान लेखकों ही के सत्यासत्य-संमिश्रित कथनों के आधार पर आश्रित है। हिन्दू लेखकों के वैसे प्रामाणिक आधार बहुत ही अल्प मिलते हैं।

भारत पर सर्व-प्रथम आक्रमण करने वाले मुसलमान लुटेरे मुहम्मद बिन-कासिम (ई० स० ७१२) से लेकर दिल्ली के अन्तिम मुसलमान बादशाह मुहम्मद शाह जफ़र तक के हजारों मुसलमानों के विषय में सेकड़ों छोटे-बड़े इतिहास मुसलमानों के लिखे हुए मिलते हैं, तब हमारे हिन्दू लेखक का लिखा हुआ उस जमाने का एक भी प्रामाणिक इतिहासात्मक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। हमारे हिन्दू लेखकों द्वारा किए गए जो कुछ छुट-पुट उल्लेख मिलते हैं वे अधिकतर किंवदन्ती और जन-श्रुति के स्वरूप में हैं। इनमें कोईक ही ऐसा उल्लेख होता है जो प्रत्यक्षदर्शी प्रमाण माना जा सकता है। इस प्रकार हमारी ऐतिहासिक साधन-सामग्री बहुत ही स्वल्प परिमाण में मिलती है। इस कारण जो कुछ इस सामग्री का अंगभूत साहित्य मिलता है वह, वास्तव में, हमारे राष्ट्रजीवन के लिए बहुत ही मूल्यवान और दुर्लभ्य वस्तु मानी जानी चाहिए। यह जैसी भी हो, हमें उसकी रक्षा करनी चाहिए और उसे प्रकाश में लाना चाहिए। इसके अन्तर में छिपे हुए ऐतिह्य तथ्यों को खोजना चाहिए। मणों भर पत्थरों को तोड़-तोड़ कर उनको आग की भट्टी में डाल, उनमें छिपे हुए कुछ ग्राम सुवर्ण-कण निकालने जैसा कठिन श्रमसाध्य यह कार्य है।

जैसा कि ऊपर सूचित किया है—राजस्थान-निवासी जिन राजपूत जातियों ने शताब्दियों तक मुसलमानों के आक्रमणों का सतत सामना किया उनमें चौहान जाति भी एक प्रमुख जाति है। इनके विषय की जो कुछ इतिहासोपयोगी सामग्री मिलती है उससे ज्ञात होता है कि इस कार्य में शायद इस जाति का सबसे अधिक प्रमुख स्थान रहा है। म्लेच्छों द्वारा देश में धार्मिक संस्कार और धार्मिक स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट होते जान कर व देख कर ही किसी ब्रह्मर्षि ने चाहमान वंश को प्रतिष्ठित किया और उसी वंश के वीर-पुरुषों ने सैकड़ों वर्षों तक धर्म-ध्वंसक म्लेच्छ असुरों का संहार-कार्य करना चालू रक्खा। दिल्ली का अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज, रणथंभोर का महाहठी वीर राव हमीर और जालोर का देवावतार

राय कान्हड़दे इसी चौहान वंश के मुकुटमणि राष्ट्ररक्षक नरवीर थे। मुसलमान लेखकों को भी इनके पौरुषपूर्ण पराक्रमों का बखान करना पड़ा। कई हिन्दू लेखकों को भी इनकी पराक्रमपूर्ण गाथा गाने और लिखने के लिए पुण्य कर्तव्य ने प्रेरित किया।

पृथ्वीराज के पराक्रमी जीवन के चरित का वर्णन करने के लिए काश्मीरी कवि जयानक ने संस्कृत भाषा में महाकाव्य के ढंग के पृथ्वीराज-विजय नामक काव्य की रचना की है। यह कवि काश्मीर से पृथ्वीराज के दरबार में आया था अतः उसका समकालीन विद्वान् है। यह काव्य अभी तक कहीं से पूरा नहीं मिला है। इसकी एकमात्र खण्डित प्रतिलिपि मिली है और उसीके अनुसार एक दो जगह से छप चुका है। इसका अन्तिम भाग उपलब्ध नहीं है, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें पृथ्वीराज की जीवन-विषयक किन-किन बातों का उल्लेख हुआ है। बीच-बीच में भी इस काव्य के कई अंश खण्डित और त्रुटित हैं; परन्तु, इसके नाम से इतना तो ज्ञात होता है कि इसमें पृथ्वीराज के पराक्रमी जीवन की सूचक कुछ विजयात्मक घटनाओं का वर्णन किया गया है। पृथ्वीराज के चरित को उद्देश्य कर इस काव्य की रचना की गई है, इसलिये संस्कृत-काव्य-लेखकों की शैली के अनुसार, उसके वंश के मूल संस्थापक आदि-पुरुष चाहमान से लेकर पृथ्वीराज के पिता तक होने वाले प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओं का भी नाम-निर्देश किया गया है और उनमें से किसी-किसी के वीर-कार्य का भी उल्लेख किया गया है। पृथ्वीराज ने अपने शत्रुओं को पराजित किया, यह इस काव्य का बीजतत्त्व है, इसलिये इसमें म्लेच्छों अर्थात् मुसलमानों को भी पराजित करने के संकेत रहे हैं।

पृथ्वीराज के जीवन की मुख्य घटना, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों लेखकों ने वर्णित की है और जिस घटना के कारण ही पृथ्वीराज भारत के इतिहास में एक विशिष्ट राजा के नाम से अंकित और उल्लेखित है वह घटना है, गोर के मुसलमान विजेता शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी की, इसी शहाबुद्दीन गोरी ने, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, भारत में स्थायी रूप से मुसलमानी सत्ता का सिंहासन स्थापित किया। इस सुलतान को पृथ्वीराज ने युद्ध में कई बार हराया और भारत की भूमि से उसे मार भगाया; परन्तु, आखिर में यह सुलतान पृथ्वीराज पर विजय प्राप्त करने में सफल हुआ और पृथ्वीराज उसके हाथ से मारा गया। मुसलमान आक्रान्ताओं में शहाबुद्दीन का स्थान सबसे बड़ा है। इसी तरह मुसलमानों के साथ लोहा लेने वाले हिन्दू वीरों में पृथ्वीराज चाहमान का स्थान सबसे बड़ा है। पर उक्त 'पृथ्वीराज-विजय' में इस महान्

ऐतिहासिक घटना का किंचित् भी उल्लेख नहीं है, अतः चाहमानों के इतिहास की दृष्टि से यह काव्य कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता, तथापि इसमें उस वंश के मूल-पुरुष चाहमान और उसकी सन्तानों में होने वाले कई वीर-पुरुषों के जो संकेत मिलते हैं उनमें मुख्यतया, उनके द्वारा म्लेच्छों अर्थात् मुसलमानों के प्रबल प्रतिरोध की ही ध्वनि व्यक्त होती है। म्लेच्छों द्वारा राजस्थान का प्राचीनतम तीर्थभूत स्थान नष्ट-भ्रष्ट किया गया, उस पवित्र पुष्कर धर्मस्थान पर म्लेच्छों ने गायों का संहार कर तथा देव-मन्दिरों को ध्वस्त कर बड़ा विप्लव मचाया, इसलिए उन असुरों, दैत्यों, चाण्डालों और म्लेच्छों का नाश करने के लिए ब्रह्मा ने चाहमान को प्रतिष्ठित किया। फिर, उसके वंश में वासुदेव-नामक पराक्रमी पुरुष हुआ। उसने पुष्कर के आसपास के प्रदेश — सपादलक्ष में शाकंभरी नगरी को अपनी राजधानी बनाया। वह भी चाहमान की तरह म्लेच्छों का संहार करने में सतत प्रवृत्त रहा। उसके वंश में वप्पराज, दुर्लभराज, विग्रहराज आदि कई वीर-पुरुष हुए जो अपने वंश के पूर्व-पुरुषों की तरह म्लेच्छ-विध्वंसन-कार्य में व्यस्त रहे। १२वीं शताब्दी में, अजयराज वीर राजा हुआ जिसने पुष्कर के निकट अजयमेरु नगर की स्थापना की और शाकंभरी के बदले उसे अपनी राजधानी बनाया। उसके पुत्र अर्णोराज ने पुष्कर की घाटी के पास गज़नी के मातंग याने म्लेच्छ या चाण्डालों को परास्त किया, मुसलमानों का संहार किया। उनके अपवित्र रक्त से वह भूमि दूषित हो गई अतः उसको चन्द्र नदी के जल से शुद्ध करने के लिये सरोवर बनाया। यही सरोवर पीछे से आनासागर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी अर्णोराज का पौत्र पृथ्वीराज हुआ। इस प्रकार 'पृथ्वीराज-विजयकाव्य' में, चाहमानों द्वारा मुसलमानों के अनेक आक्रमणों का सामना करने तथा अपने देश और धर्म की रक्षा करने के अनेक संकेत मिलते हैं।

पृथ्वीराज के चरित्र को लक्ष्य कर, देश्य-भाषा में रचित 'पृथ्वीराज-रासो' नामक बहुत बड़ा ग्रन्थ प्रसिद्ध है ही, पर इसमें वर्णित चौहान-वंश का इतिहास बहुत ही शंकास्पद होकर विवादपूर्ण है। यह ग्रन्थ बहु-चर्चित और बहु-चर्वित है। प्रायः यह बहुजन-विश्रुत भी है, अतः इसका परिचय यहाँ प्रस्तावित नहीं है।

'पृथ्वीराज-विजय' काव्य के समान ही चौहान-वंश के वीरों का यशो-वर्णन करने वाला प्रस्तुत 'हमीर-महाकाव्य' दूसरा संस्कृत काव्य-ग्रन्थ है। पृथ्वीराज-विजय की अपेक्षा इतिहास की दृष्टि से यह काव्य बहुत महत्त्व का है। एक तो यह कि इसमें पृथ्वीराज के चरित्र की मुख्य ऐतिहासिक घटना का भी विस्तृत वर्णन मिलता है, और दूसरा, इसमें उस पृथ्वीराज के ही वंश के अन्तिम परन्तु अप्रतिम

श्रेष्ठ वीर पुरुष का यशोवर्णन है जो पृथ्वीराज से भी कई अंशों में अधिक गुण-वान् और आदर्श पुरुष था। यह वीर नर हम्मीर पृथ्वीराज से प्राय: एक शताब्दी बाद उसकी सातवीं पीढ़ी में हुआ।

पृथ्वीराज-विजय और हम्मीर-महाकाव्य की रचना का मूल उद्देश्य तो एक ही है। दोनों काव्य चौहान-वंश के प्रतापी वीरों के यश का गुण-गान करते हैं। ये चौहान वीर भारत की राष्ट्रीयता और संस्कृति की रक्षा के लिए केवल अपने बाह्य-सुखोपभोगों का ही नहीं, प्रियतम आत्मीयजनों का और स्वयं के प्राणों का भी बलिदान करने में सदा उत्सुक और तत्पर रहे। चौहान-वंश का भूतकालीन इतिहास इस विषय में बहुत अधिक प्रेरणादायक और प्रशंसनीय रहा है। इस वंश के ऐसे अनुपम शूर-वीरों की यशोगाथा को काव्य-बद्ध करने की कामना से प्रेरित हो कर वाग्देवी के उपासक कवि जयानक और कवि नयचन्द्रसूरि ने क्रमशः इन दो महाकाव्यों की विशिष्ट रचनाएं कीं। यद्यपि दोनों कवियों का काव्य-लक्ष्य समान है, तथापि दोनों के प्रेरक तत्त्व कुछ भिन्न हैं। जयानक कवि की कवित्व-शक्ति किसी ऐहिक आकांक्षा से प्रेरित है, तब नयचन्द्रसूरि की वाग्-भारती केवल पारमार्थिक भावना से अनुप्राणित है। जयानक पृथ्वीराज का राज्याश्रित एवं राज-सभा-सम्मानित कवि था। उसको पृथ्वीराज से धन और सम्मान मिला था इसलिए उसका पृथ्वीराज के गुण-गान का गुम्फन करना सापेक्ष था। पृथ्वीराज वीर था, अपने पूर्वजों की भूमि और कीर्ति का रक्षण करने में वह सन्नद्ध था, पर साथ में वह विलासमय जीवन का उत्कट अनुरागी भी था। कवियों द्वारा की जाने वाली सत्य या मिथ्या स्तुति का वह अभिलाषी था। अत: कवि जयानक द्वारा किये गये उसके गुणों का गान एक आश्रित कवि का साभि-लाष प्रशस्ति-गान पाठ है।

हम्मीर-महाकाव्य के कर्त्ता नयचन्द्रसूरि का व्यक्तित्व और कर्तृत्व भिन्न-प्रकार का है। वह निःस्पृह धर्मोपदेष्टा, बहुजन-सम्मानित, साहित्योपासक, संस्कृतिप्रिय, तप:संयम-पूत, तेजस्वी तथा त्यागी है। उसे किसी प्रकार के धन की प्राप्ति की कोई आकांक्षा नहीं है; न वह किसी के सम्मान का भूखा है, न वह राज्याश्रित पण्डित है और न चौहान-वंशीय किसी व्यक्ति विशेष से सम्मानित या पोषित है। उस वंश के साथ उसका कोई ऐहिक संबन्ध नहीं है कि जिससे उस वंश के पूर्व-पुरुषों का गुण-गान करने में कोई ऐहिक भावना उसके लिये कारणीभूत बने। वह अपने काव्य-नायक हम्मीर से लगभग १०० वर्ष बाद उसके यश का वर्णन करने में प्रवृत्त हुआ है। उसका मुख्य कारण, उस सत्त्वशील वीर की

जन-प्रसिद्ध पराक्रमपूर्ण आत्म-विसर्जन की पावन कथा है । नयचन्द्रसूरि उसकी ऐसी लोकोत्तर कीर्तिकथा पर मुग्ध होकर, उसको अपनी भावपूर्ण वाणी द्वारा काव्य-बद्ध करता है। उसके अन्तर की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती ही उसको इस सत्कीर्तन करने में प्रेरित करती है । माता भारती का वह सत्त्वानुरागी सुपुत्र है । वाग्देवी ने उसे उत्तम कवित्व-शक्ति प्रदान की है । उस कवित्व-शक्ति का सर्वोत्तम फल प्राप्त करने के लिये उसने हम्मीर जैसे उत्तम सत्त्वशील नरवीर को अपना आदर्श नायक (मोडेल) बना कर उसके उज्ज्वल यश का गुणगान करना पसन्द किया । हम्मीर के वीर-जीवन की तरह उस का यह कवि-जीवन भी पूर्ण सफल हुआ ।

इस प्रकार पृथ्वीराज-विजय के निर्माण में लौकिक आकांक्षा की सापेक्षता हेतुभूत है और हम्मीर-महाकाव्य के प्रणयन में विशुद्ध सात्त्विक एवं राष्ट्र-भक्ति-पूर्ण निराकांक्षा हेतुभूत है ।

*

नयचन्द्रसूरि अपने समय के एक प्रसिद्ध जैनाचार्य थे । इनके पूर्वगुरुओं ने राजस्थान के नागौर आदि अनेक स्थानों की जनता को धार्मिक प्रवृत्ति में प्रवृत्त किया । इनके सदुपदेशों के कारण लोकोपयोगी अनेक देवस्थान निर्मित हुए । नयचन्द्रसूरि के प्रगुरु महेन्द्रसूरि थे, जिनका मुसलमान शासक भी बड़ा सम्मान करते थे । उनके उपदेश से दीन और दुखीजनों की सहायता के लिए प्रतिवर्ष एक लाख दीनार (सोना-मुहर) व्यय किये जाते थे । इन महेन्द्रसूरि के पट्टधर आचार्य जयसिंहसूरि हुए, जिनके पट्टधर प्रसन्नचन्द्रसूरि थे। नयचन्द्रसूरि के दीक्षागुरु तो प्रसन्नचन्द्रसूरि थे, परन्तु विद्या-गुरु जयसिंहसूरि ही थे। ये जयसिंहसूरि बड़े विद्वान् और वाद-विद्या में पारंगत थे, इन्होंने षड्भाषाकवि-चक्रवर्ती, ऐसे सारंग-नामक विद्वान् को वाद-विवाद में परास्त कर दिया था । ये स्वयं त्रैविद्य वादिचक्रवर्ती थे। इन्होंने, न्यायशास्त्र के सुप्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथ भा-सर्वज्ञकृत न्यायसार पर बड़ी पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी । एक स्वतन्त्र नया व्याकरण-ग्रन्थ भी बनाया । कवित्व-कला का निदर्शक 'कुमारपाल-चरित' नामक बड़ा काव्य-ग्रन्थ बनाया । नयचन्द्रसूरि अपने इन त्रैविद्य-विद्यागुरु की साहित्योपासना का अध्ययन-मनन करते रहते थे और उनको सहयोग भी देते थे । उक्त कुमारपाल-चरित्र का प्रथमादर्श याने मूल-रचना की प्रथम शुद्ध प्रतिलिपि नयचन्द्रसूरि ने अपने हाथ से की थी । इस सहयोग के लिए जयसिंहसूरि ने अपने काव्य में इनकी इस प्रकार से प्रशंसा की है—

अवधानसावधानः प्रमाणनिष्णः कवित्वनिष्णातः ।
अलिखत् मुनिनयचन्द्रो गुरुभक्त्याऽस्याद्यादर्शम् ॥

अर्थात् अवधानविद्या में निपुण, प्रमाणशास्त्र में प्रवीण और कवित्वप्रणयन में निष्णात ऐसे नयचन्द्र मुनि ने, गुरु-भक्ति के कारण इस ग्रन्थ का प्रथम आदर्श (पहली प्रतिलिपि) लिखा।

जयसिंहसूरि के इस संक्षिप्त उल्लेख से नयचन्द्रमुनि (उस समय वे सूरि नहीं बने थे) की प्रतिभा-शक्ति का परिचय मिल जाता है। नयचन्द्र उत्तम कोटि के कवि तो थे ही, जो प्रस्तुत हम्मीर-महाकाव्य के अध्ययन से सुनिश्चित है, पर वे प्रमाणशास्त्र अर्थात् न्यायशास्त्र के भी उत्तम पण्डित थे और कई प्रकार के अवधान-प्रयोग करने में भी बड़े निपुण एवं प्रतिभाशाली समझे जाते थे। इस प्रकार नयचन्द्रसूरि एक बड़े उत्कृष्ट विद्वान् और श्रेष्ठ कवि थे।

जयसिंहसूरि ने कुमारपाल-चरित्र-काव्य की रचना वि० सं० १४२२ में पूर्ण की, अतः उसकी प्रथम प्रतिलिपि करने वाले नयचन्द्रसूरि, जो स्वयं उस समय बड़े विद्वान् बन चुके थे, अवस्था की दृष्टि से कम-से-कम २५ वर्ष के तो रहे ही होंगे। नयचन्द्रसूरि ने हम्मीर-महाकाव्य के रचे जाने के समय का कोई संकेत नहीं किया है, इससे इसकी रचना कब हुई, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, तथापि कुछ अनुमान किया जा सकता है। जैसा कि नयचन्द्रसूरि सूचित करते हैं—इस काव्य के रचने की प्रेरणा, ग्वालियर के तोमर-राजवंशीय नृप वीरम की राज-सभा के कुछ विद्वानों के कथन को सुन कर हुई थी। उस तोमरवंशीय वीरम नृप के ई० सन् १४२२ तक विद्यमान होने का प्रमाण शिलालेख से ज्ञात होता है। पर उस समय वह बहुत वृद्ध हो चुका था। अतः उसका राज्यकाल १३८२ से १४२२ सन् तक का माना जाता है। इस विचार से उसके राज्य के मध्यकाल में अर्थात सन् १४०० के आसपास, नयचन्द्र-सूरि द्वारा हम्मीर-महाकाव्य बनाया जाना अनुमानित किया जा सकता है। नयचन्द्रसूरि उस समय ५० वर्ष जितनी परिपक्व आयु के अवश्य रहें होंगे।

वीर हम्मीर की मृत्यु सन् १३०१ में हुई थी। यदि उपर्युक्त कल्पना के अनुसार इस काव्य की रचना सन् १४०० के आसपास मान लें तो, हम्मीर की मृत्यु को उस समय लगभग १०० वर्ष पूरे होते हैं। इस दृष्टि से, आधुनिक प्रणाली के अनुसार, हम इस काव्य को उस राष्ट्रवीर की प्रथम शताब्दी की पूर्णता का सूचक एक शास्वत, सारस्वत, पुण्य-स्मारक कह सकते हैं।

हम्मीर-महाकाव्य एक उत्तम कोटि का राष्ट्रकाव्य है। इस कोटि का और

ऐसे उदात्त-भावों का आलेखन करने वाला संस्कृत-महा-काव्य, हमारे विचार से और कोई नहीं है। यह कोई पौराणिक कल्पित कथा का चित्रण करने वाला सामान्यशृङ्गाररस-पोषक काव्य नहीं है। यह एक विशुद्ध ऐतिहासिक राष्ट्रवीर की पावनतम कथा द्वारा अत्यन्त उदात्त और प्रेरणा-परिपूर्ण भारतीय भावना को उद्दीपित करने वाला वीराङ्क महाकाव्य है। इस काव्य में उस राष्ट्र-नरवीर का यशोवर्णन है जिसने अपने राष्ट्र, धर्म, कुल और उच्च संस्कृति की रक्षा के निमित्त केवल अपने समय के ही नहीं, अपि तु संसार के इतिहास के एक बहुत बड़े शक्तिशाली, महाक्रूर, धर्म-ध्वंसक और नृशंसतम मुसलमान आक्रान्ता के दुष्टतम आक्रमण को और नीचतम आमंत्रण को बल और वचन से धुतकार दिया था। उस राष्ट्र-वीर और धर्म-शूर ने, भारतीय संस्कृति के सुवर्णमय शरीर और धर्म-परायण हृदय को अपने क्रूरातिक्रूर डंक द्वारा विषाक्त कर, राष्ट्र को प्राण-शेष करने के लिये प्रबल वेग से धंसे आने वाले काल-भुजंगम को, कठोर लत्ता-प्रहार द्वारा उछाल कर रणथंभोर के दुर्ग से अपमान के गर्त में फेंक दिया था। भारत के भाग्य-विधाता विराट् पुरुष ने, राष्ट्र के गौरव और धर्म की रक्षा के लिये अपने सर्वस्व का उल्लासपूर्वक बलिदान करके प्राणों का भी उत्सव के साथ उत्सर्ग कर देने वाले उत्कृष्ट प्रतीक के रूप में उस महावीर का निर्माण किया था। वह अपने विराट् के निर्माण को सफल करता हुआ परमधाम को चला गया। सम्राट् विराट् ने स्वर्ग में उसका जय-जयकार किया और उसके ऐसे अद्भुत उज्ज्वल यश को एक महाकाव्य द्वारा चिरस्थायी बनाने के लिये, राष्ट्र-कवि नयचन्द्रसूरि को दिव्य आदेश दिया। विराट् के पुण्य-प्रदायक पावन आदेश का श्रद्धा और भक्तिपूर्वक पालन करते हुए, कविशिरोमणि नयचन्द्रसूरि ने वीर हम्मीर के शतवार्षिक श्राद्धस्वरूप तर्पण-कार्य में अपनी यह भव्य काव्य-कुसुमाञ्जलि समर्पित की।

हम्मीर-महाकाव्य में हमारे राष्ट्र के ऐतिहासिक वीरों की राष्ट्ररक्षात्मक कीर्ति-कथा का गुण-गान है, अतः यह एक राष्ट्रीय महाकाव्य है।

यह हम्मीर-काव्य एक अच्छा बड़ा काव्य है। इसमें १४ सर्ग हैं जो संस्कृत के विविध छन्दों में गुम्फित हैं। इसकी कुल पद्यसंख्या १४७६ है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में किसी-न-किसी तरह 'वीर' शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः संस्कृत की काव्य-पद्धति के अनुसार यह वीरांक काव्य है।

कवि नयचन्द्र क्यों उस हम्मीर के गुणों पर मुग्ध है और क्यों इस काव्य

के करने में प्रवृत्त हुआ है, इस विषय में वह काव्य के प्रारम्भ में अपने मनोभाव बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए कहता है कि—

"पूर्व काल में, मान्धाता, सीतापति राम, और कंक (युधिष्ठिर) आदि पृथ्वी में कितने राजा नहीं हो गये, पर उन सब में अपने सत्त्वगुण के कारण यह हम्मीर एक अद्वितीय स्तवार्ह (स्तुति करने लायक) पुरुष है। इस सत्त्वैक-वृत्ति वाले पुरुष ने विधर्मी मुसलमान को अपनी पुत्री तथा अपनी शरण में आये हुए विधर्मी मनुष्यों तक को न देने के लिये राज्यलक्ष्मी, सुखविलास और अपने जीवित तक को तृणवत् समझ कर उनका त्याग कर दिया। इसलिये राजन्यजनों के मनों को पवित्र करने की इच्छा से मैं उस वीर के उन-उन गुणों को गौरव से प्रेरित होकर थोड़ा-सा चरित-वर्णन करना चाहता हूँ। कहाँ तो इस राजा के वह अतिमहान् चरित और कहां मेरी अणु-समान अल्प बुद्धि? इसलिये मेरा यह कार्य मोह के वशीभूत हो कर, एक हाथ से महासमुद्र तैरने जैसा है; तथापि गुरुजनों की कृपा से, उस पुरुष के जीवन-वृत्त का स्तवन करने में शक्तिमान् होना चाहता हूं। क्या चन्द्रमा की गोद की शरण लेकर हरिण आकाश में नहीं खेल रहा है?"

वह हम्मीर चाहमान-वंश का मुकुट-समान वीर नर था, इसलिये कवि ने प्रारम्भ में उस वंश के पूर्वपुरुषों का ऐतिहासिक वर्णन आलेखित किया है। यह वर्णन उक्त पृथ्वीराज-विजय-काव्य में वर्णित शैली का है। इसमें उसी ढंग से वंश के मूलपुरुष चाहमान की उत्पत्ति बताई गई है। उसके बाद उत्पन्न होने वाले वासुदेव, नरदेव, चन्द्रराज, सिंहराज, बप्पराज, विग्रहराज, वल्लभराज, दुर्लभराज, विशालदेव, आनलदेव और सोमेश्वरदेव तक के कोई २६-३० राजाओं के नाम गिनाये गये हैं और उनके द्वारा समय-समय पर किये गये म्लेच्छों के आक्रमणों का प्रतिरोध आदि कार्यों के संकेत-सूचक उल्लेखों का वर्णन है। पृथ्वीराज-विजय-काव्य की तरह ही इन वर्णनों में भी मुख्य करके म्लेच्छों द्वारा किये गये उपद्रवों और विप्लवों का सामना करते हुए अपने राष्ट्र और धर्म की रक्षा के निमित्त चाहमान-वंशीय वीरों ने जो बड़ा शौर्य-कर्म किया उसी का चित्रण अंकित है। इसी वर्णन में प्रसंगानुसार, चाहमानों के मूल निवासस्थान शाकंभरी, सपादलक्ष-देश और अजयमेरु-नगर आदि की स्थापना-संबन्धी बातों का भी उलेख किया गया है। पृथ्वीराज-विजय की अपेक्षा इसमें वंश के पूर्व-पुरुषों की नामावलि में कुछ न्यूनाधिकता भी है। कुछ ऐसे भी म्लेच्छ आक्रान्ताओं के नाम आदि दिये गये हैं जो पृथ्वीराज-विजय में नहीं मिलते।

उदाहरणार्थ — अग्रराज के पुत्र हरिराज ने किसी शकाधिप को जीत कर उसका मुग्धपुर छीन लिया था (१. १२; पृ. ६)। हरिराज के पुत्र सिंहराज ने हेतिम-नामक शकपति को मारा और उसके चार मस्त हाथी युद्ध में पकड़ लिए (१. १०४; पृ. ६)। चामुण्डराज ने हेजिमदीन-नामक किसी मुसलमान आक्रांता का संहार किया (२. २४; पृ. ११)। दुर्लभराज ने सहाबदीन नामक किसी शासक को पराजित किया (२. २८; पृ. ११) इत्यादि, ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो पृथ्वीराज-विजय में नहीं हैं।

अजमेर के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज का वर्णन इसमें बहुत विस्तृत है। कोई १०० पद्यों में पृथ्वीराज के चरित्र का वर्णन किया गया है। ये १०० पद्य एक प्रकार से पृथ्वीराज-विषयक स्वतंत्र खण्ड-काव्य-स्वरूप हैं। कवि नयचन्द्र के इस वर्णन में भी पृथ्वीराज के देश-रक्षा-निमित्त किये गये सहाबुद्दीन के साथ के युद्धों का चित्रण मुख्य है। पृथ्वीराज की कुछ राजनैतिक असावधानता और अनुचित आत्मविश्वास के कारण उसकी पराजय हुई और म्लेच्छों ने भारत की मुख्य भूमि का स्वत्व छीन कर, दिल्ली में अपने साम्राज्य की नींव डाली, यह इस वर्णन की आर्तस्वरात्मक अन्तर्ध्वनि है। साथ में, इस वर्णन में पृथ्वीराज के प्रजाप्रिय, शौर्यशाली और राष्ट्राभिमानी होने का सुन्दर चरित्र-चित्रण भी, संक्षेप में परन्तु बहुत प्रशस्त शब्दों में किया गया है।

पृथ्वीराज की मृत्यु के साथ, चाहमान-वंश के पराक्रमों का मूल केन्द्रस्थान (राजधानी) अजयमेरु पर म्लेच्छों का स्थायी अधिकार हो गया और उसके साथ उस वंश द्वारा अधिष्ठित भारत की मुख्य राजधानी दिल्ली भी मुसलमानों के अधिकार में चली गई। एक प्रकार से चाहमान-वंश का मूल राज्यसिंहासन नष्ट हो गया पर इस वंश में, अभी एक और सर्वश्रेष्ठ वीर पुरुष, १०० वर्ष बाद उत्पन्न होने वाला था। कवि नयचन्द्र ने उसी के यश का वर्णन करने के लिए यह नव्य और भव्य-काव्य बनाया है, इसलिए उसने प्रारम्भ के तीन सर्गों में ही पृथ्वीराज तक के वीर-पुरुषों का वर्णन समाप्त करके चौथे सर्ग से रण-थंभोर के अधिष्ठाता राजवंश का वर्णन प्रारम्भ किया है। हम्मीर इसी वंश का सर्वान्तिम परन्तु सर्वोत्तम वीर-नर है।

पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद उसके पुत्र गोविंदराज ने रणथंभोर में अपनी नयी राज्यगद्दी स्थापित की। उसकी सातवीं पीढ़ी में महावीर हम्मीर उत्पन्न हुआ। काव्य के बाद के ११ सर्गों में इस वंश का वर्णन दिया गया है। हम्मीर का पिता जैत्रसिंह था। नयचन्द्र ने गोविंदराज से लेकर जैत्रसिंह तक के राजाओं का संक्षिप्त परिचय दे कर, चौथे सर्ग के अन्तिम भाग में हम्मीर के जन्म का

उल्लेख किया है। बाद के ४ सर्गों में (५ से ८ तक) काव्य की परम्परा का अनुसरण करते हुए वसन्तादि ऋतु-वर्णन, जल-क्रीड़ा, शृंगार-रस-पोषक सुरत आदि प्रसंगों का काव्यात्मक वर्णन किया है।

गोविंदराज से लेकर जैत्रसिंह तक के राजाओं पर दिल्ली के मुसलमानों के सतत आक्रमण होते रहे। रणथंभोर का दुर्ग सैनिक दृष्टि से बड़े महत्व के स्थान पर स्थित था। दिल्ली के नज़दीक वही सब से दुर्गम दुर्ग था। चाहमान जैसे मुसलमानों के सब से प्रबल वैरिवंश की अवशिष्ट सन्तानों ने उस पर अपना अधिकार कर रक्खा था इसलिए दिल्ली के मुसलमान शासकों को अपने सिर पर लटकती हुई तलवार जैसी वह सत्ता खतरनाक लगा करती थी। अत: दिल्ली के मुसलमान शासकों ने उस सत्ता को नष्ट करने का सतत प्रयत्न चालू रक्खा। बारंबार वे रणथंभोर पर आक्रमण करते रहे; चाहमान भी उनका सामना अपने पूर्वजों के समान वैसा ही करते रहे। वे कभी हारते, कभी जीतते— पर संघर्ष सदा चालू रखते। वे अपनी तलवार को सिरहाने रख कर कभी सुख की नींद नहीं सोते थे। नयचन्द्र कवि ने इस संघर्ष-काल का यथोचित उल्लेख किया है।

हमारा उद्देश्य यहां पर उन सब ऐतिहासिक प्रसंगों का वर्णन देना नहीं है, केवल कव्यगत वस्तु का निर्देशात्मक संकेत-मात्र सूचन करना है।

काव्य के आठवें सर्ग में हम्मीर के राज्याभिषेक का वर्णन है। वि० सं० १३३९ की पौष शुक्ला पूर्णिमा के शुभ मुहूर्त में हम्मीर राज्यसिंहासन पर अधिष्ठित होता है। बाद में, उसके पिताका स्वर्गवास हो जाता है। फिर हम्मीर शक्ति और सत्ता प्राप्त करने की दृष्टि से अपने सीमावर्ती समीप के देशों पर दिग्विजय करने निकलता है। इसी नौवें सर्ग मे दिल्ली के सुलतान का भी वर्णन आता है। वह रणथंभोर के हम्मीर-वीर के शौर्य से क्षुब्ध हो कर उस पर आक्रमण करने की कुटिल नीति का प्रयोग चालू करता है। बाद के १०-११-१२-१३, इन ४ सर्गों में अलाउद्दीन के साथ होने वाले संघर्षों का वर्णन है। इन्हीं संघर्षों में हम्मीर द्वारा प्रदर्शित की गई शूर-वीरता का, शरणागतवत्सलता का और कुल-मर्यादा की रक्षा का विशद वर्णन है। अन्तिम सर्ग में रणथंभोर के पतन और हम्मीर के प्राणोत्सर्ग का वर्णन है। कवि नयचन्द्र द्वारा आलेखित यह वर्णन भारतीय साहित्य की एक अद्भुत वीर गाथा है। ऐसा भव्य, उदात्त और प्रशस्त वर्णन संस्कृत भाषा के किसी भी काव्य में हमारे देखने में नहीं आया।

अलाउद्दीन भारत के तत्कालीन इतिहास में एक प्रलयकाल का सर्जक था। भारतीय संस्कृति और समृद्धि का सामूहिक सर्वनाश करने का उसका जीवन-लक्ष्य था। भारत के तत्कालीन सब राज्यों के दुर्गों और नगरों को उद्ध्वस्त कर, उनके स्वामी और प्रजाजनों पर अत्यन्त अमानुषी अत्याचार कर, भारत की राष्ट्रीयता का समूल नाश करने के लिये उसने सर्वत्र दारुण दावानल सुलगा दिया था। इस दावानल में एक के बाद एक भारत के जनजीवन रूप नन्दन वन भस्म हो रहे थे। उन्हीं नन्दन वनों में रणथंभोर भी एक विशिष्ट स्थान रखता था। अतः उसको भी अपनी लपेट में लेने के लिये अलाउद्दीन की क्रूर-दृष्टि की दाहक ज्वाला का उस पर फैलना स्वाभाविक था। हम्मीर-महाकाव्य में इस ज्वाला का भयंकर स्वरूप यथेष्ट चित्रित है। राष्ट्र-व्याप्त इस प्रचण्ड ज्वाला को बुझाने के लिये हम्मीर के पास वैसी असाधारण शक्ति नहीं थी। वह एक छोटे-से राज्य का स्वामी था, उसकी धन एवं जनात्मक शक्ति बहुत मर्यादित थी, अतः इस ज्वाला में उसके राज्य और सामर्थ्य का भस्मीभूत होना अनिवार्य था। वह केवल तभी बच सकता था जब वह अलाउद्दीन के आदेशानुसार उसका दासत्व स्वीकार कर लेता और उस दुष्ट की दुरभिलाषा के अधीन पूर्ण रूप से हो जाता। हम्मीर साहस, शौर्य और सत्त्व का वज्रपिण्ड था। वह अलाउद्दीन के क्रूर कोपाग्नि के ताप से पिघलने वाला कच्चे लोहे का पुतला नहीं था। उसने उसके अधम मनोरथ और प्रस्ताव को अपने कठोर वाग्बाणों द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया और उस दुष्ट दैत्य को तीव्र तिरस्कार के साथ ललकारता हुआ, तीक्ष्ण तलवार हाथ में लेकर उस पर टूट पड़ा। मैं अकेला हूं, असहाय हूं, दुर्बल हूं या अपरिच्छद हूँ, ऐसा कातर विचार उस नरसिंह को स्वप्न में भी नहीं आया था। मृत्यु का उसको किंचित् भी भय नहीं था, धर्म की रक्षा के लिये युद्ध में मृत्यु प्राप्त करना, यह तो क्षत्रिय-पुत्र के राजपूत सन्तान के जीवित का एक मात्र चरम लक्ष्य होता था, इसलिये वह तो ऐसे मंगलमय मृत्यु के आने के प्रसंग की उत्कंठा-पूर्वक अभिलाषा कर रहा था। अलाउद्दीन के साथ युद्ध करके उसने अपनी यह अभिलाषा पूर्ण कर ली। वि. सं. १३५८ के श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की छठ के दिन, रणथंभोर की पवित्र रणस्थली में वह अद्भुत वीर मृत्यु प्राप्त कर भारत के गौरवपूर्ण इतिहास में शाश्वत स्थान का उत्कृष्ट अधिकारी बन गया।

नयचन्द्रसूरि-रचित हम्मीर-महाकाव्य का यही अन्तरंग आत्मतत्त्व है तथा इसका शब्दमय शरीर-सौन्दर्य भी वैसा ही भव्य है। यह सुवर्ण समलंकृत और सुघटित महाकाव्य है। इसकी काव्यगत विशिष्टता के परिचायक कुछ प्रसंगों

का उल्लेख डॉ. श्री दशरथजी शर्मा ने अपने 'हम्मीर महाकाव्य में ऐतिह्य सामग्री' वाले लेख में किया है।

*

नयचन्द्राचार्य की काव्यशैली बहुत ही प्रासादिक और ओजःपूर्ण है। इसमें शब्दाडम्बर का सर्वथा अभाव है। क्लिष्ट-कल्पनाएं और अस्वाभाविक उक्तियां इसमें कहीं नहीं हैं। काव्य में मुख्य रस वीर है, शृङ्गारादि अन्य रस उसके अङ्गभूत रस हैं। काव्य का नायक हम्मीरदेव धीरोदात्त गुणवाला और बड़ा सत्त्वशील पुरुष है। उसका प्रतिनायक अलाउद्दीन धर्म-ध्वंसक, निकृष्ट और पापिष्ठ है। वह प्रतिनायक बहुत बड़े साम्राज्य का स्वामी है। उसकी प्रभुसत्ता और सैन्यशक्ति बहुत विशाल है। उसका जीवन-लक्ष्य केवल किसी तरह अपनी साम्राज्य-तृष्णा को सन्तुष्ट करना है, अपनी ऐहिक-भोग-विलासात्मक लालसा को तृप्त करना है। उसमें न मनुष्यता है, न मानवता के प्रति कोई सद्भाव है। उसको न अपने पूर्वजों का खयाल है, न अपने कुल या वंश की मर्यादा का कोई विचार है। वह न अपने वचन के पालन को कर्तव्य समझता है, न किसी अन्य के वचन का मूल्य समझता है। वह केवल अपने दुष्ट स्वभाव के लक्ष्य को पूर्ण करना चाहता है।

हम्मीरदेव एक बहुत ही आदर्शवादी और सत्त्वशील पुरुष है। वह धर्मात्मा है, पुण्यमूर्ति है, कुटुंब-वत्सल है, प्रजाप्रिय है, अपने पूर्वजों के गुणों का पूजक है, अपनी कुल मर्यादा का रक्षक है, अपने धर्म और राष्ट्र के प्रति कर्तव्य का उसे पूर्ण ज्ञान है, स्वामी और सेवक के संबन्धों का उसे यथार्थ भान है, अपने वचन के पालन में वह पूरा सावधान है, किसी के प्रति अन्याय न हो इसका अच्छी तरह खयाल रखता है और शरणागत विधर्मी-जनों के साथ भी वह आत्मीयभाव का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है।

कवि नयचन्द्रसूरि ने हम्मीर के ऐसे अनेकानेक उदात्त गुणों से आकृष्ट होकर ही अपनी कवि प्रतिभा को सफल करने की पुण्य आकांक्षा से प्रेरित होकर इस महाकाव्य की रचना की। कवि ने अपने काव्य-नायक के उक्त सभी गुणों का प्रसंगोपात्त वर्णन बहुत ही उत्तम रूप से किया है। इस वर्णन में न कहीं कवि-सुलभ मिथ्या स्तुति है, न अमानवीय भावों का ही कल्पित-चित्रण है, यथाशक्य और यथाज्ञात ऐतिह्य तथ्यों का वर्णन देना ही कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है।

प्रसंगानुसार कवि ने जगह-जगह सरस सदुक्तियों का तथा धर्म और नीतिपरक अनेक उद्बोधक सद्वचनों का भी सन्निवेश किया है। जो पाठक सज्जन

संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान रखते हैं उनको तो मूलकाव्य का पाठ करने से ही इसका पूरा रसास्वाद प्राप्त हो सकता है परन्तु, जो ठीक तरह संस्कृत नहीं जानते उनके परिज्ञान के लिये काव्यगत कुछ भावों का और वर्णनों का सार, उदाहरण के तौर पर, यहां दिया जाता है। इससे पाठकों को कवि नयचन्द्राचार्य की वर्णन शैली का कुछ आभास हो जायगा। यह सार काव्य के अन्तिम सर्ग से दिया जा रहा है, जिसमें हम्मीर और अलाउद्दीन के बीच हुए संघर्ष का अंतिम परिणाम वर्णित है।

संवत् १३५८ के ग्रीष्म काल में अलाउद्दीन ने बड़ी सजधज और तैयारी के साथ हम्मीरदेव से आखिरी युद्ध करने के लिये रणथम्भोर दुर्ग पर चढ़ाई की। कई दिनों की युद्ध की तैयारी के बाद दोनों दलों की प्रत्यक्ष मुठभेड़ हुई और दो दिन तक यह घमासान युद्ध चला, जिसमें दोनों पक्षों के हज़ारों सैनिकों ने अपने प्राण विसर्जित किये। कवि नयचन्द्र ने काव्य के बारहवें सर्ग में इस दो दिन के युद्ध का विस्तार से वर्णन किया है। यह वर्णन एक प्रत्यक्ष-द्रष्टा के वर्णन के समान बहुत ही स्वाभाविक और ओजःपूर्ण कवित्व से अलंकृत है। इसके बाद के तेरहवें सर्ग में काव्य के अन्तिम प्रसंगों का वर्णन है, जो बड़ा ही मार्मिक, रोमांचक, हृदय-क्षोभक और अश्रुमोचक है।

उक्त दो दिन के घमासान युद्ध के बाद दोनों पक्ष कुछ विश्रान्ति लेना चाहते हैं। अलाउद्दीन अपने सैन्य के साथ रणथंभोर दुर्ग के किले के ठीक नीचे डेरा डाले पड़ा है। चाहमान हम्मीरदेव अपने सामन्तों, सैनिकों और नगरजनों के साथ किले में रह रहा है और भविष्य के युद्ध की तैयारी कर रहा है। इसी बीच एक दिन, चतुर्थ प्रहर के समय, राजा हम्मीर ने अपनी छोटी-सी राजसभा बुलाई। सभा की बैठक किले के उस स्थान पर लगी जहां से, किले के ठीक नीचे पड़े हुए अलाउद्दीन के दरबारियों की हलचल नज़र आ सके, नीचे वालों को भी उस स्थान पर क्या हो रहा है इसका कुछ आभास हो सके।

हम्मीरदेव अपनी राज-सभा में बैठे हैं। आसपास सामन्त आदि बैठे हैं। एक तरफ राजा के छोटे भाई वीरम तथा सेनापति रतिपाल आदि बैठे हैं, दूसरी तरफ अलाउद्दीन का बागी मुगल सरदार महिमासाहि, जो वर्षों से हम्मीरदेव की शरण में आकर रह रहा है, अपने तीनों भाइयों के साथ बैठा है। सभा के मनोरंजन के लिए राज्य की मुख्य नर्तकी धारादेवी के नाच का आयोजन किया गया है। वीणा, बांसुरी, सितार, मृदङ्ग आदि वाद्यों के बजाने वाले कुशल कलाकारों के संगीत के साथ धारादेवी अपनी अद्भुत नृत्य-कला से सभा का मन रंजित कर रही है। वह अपना यह नृत्य ऐसे स्फटिक के

शिलापट्टों पर खडी होकर कर रही है, जिसको अलाउद्दीन के दरबारी भी दूर से ठीक तरह से देख सकते हैं। अलाउद्दीन भी अपने खेमे में बैठा हुआ इस दृश्य को देख रहा है। ऐसे प्रसङ्ग मे उस नर्तकी ने, जब अलाउद्दीन की नज़र उस पर पड़ रही थी, अपनी पीठ के नीचे का भाग उसकी तरफ दिखा कर बड़ा व्यंग्यात्मक अभिनय किया, जिसे देख कर वह बादशाह बहुत ही शर्मिन्दा और खिन्न हुआ। बादशाह ने अपने दरबारियों से तत्काल पूछा कि कोई ऐसा बाण चलाने वाला आदमी है जो यहाँ से बाण फेंक कर इस नर्तकी को छेद दे? बादशाह का भाई, जो उसके पास बैठा था, बोला—उड्डानसिंह नाम का एक सैनिक है जो कैद में पड़ा है वह यह काम कर सकता है, और किसी की ताकत नहीं है। बादशाह ने तुरन्त उस कैदी को अपने सामने बुलवाया और उसकी बेड़ियाँ काट कर उसे स्नेह से आवर्जित किया और अपने धनुष-बाण के प्रहार से उस नर्तकी को मार गिराने का आदेश दिया। उसने अपनी असाधारण धनुर्विद्या का चमत्कार बताते हुए ऐसा बाण मारा कि जिससे वह नर्तकी, शिकारी के बाण से हरिणी जैसे बिंध जाती है वैसे बिंध कर, जमीन पर पड़ी। इससे राजा हम्मीर की सभा में विस्मय के साथ बड़ा क्षोभ फैल गया।

शरणागत महिमासाहि मुगल सरदार उस सभा में राजा के पास ही बैठा था, उसे भी यह काण्ड देख कर बड़ा क्षोभ और क्रोध उत्पन्न हुआ। वह बड़ा धनुर्धारी और बाणवेधी था। उसने अपना धनुष-बाण हाथ में लेकर राजा से कहा कि 'यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं इसी क्षण अपने बाण से उस दुष्ट अलाउद्दीन को मौत के घाट उतार सकता हूँ।' राजा ने कहा—'बादशाह को मार देने के बाद मैं फिर किसके साथ युद्ध करूंगा? तुम तो उस उड्डानसिंह को ही मार कर खत्म करो।' बादशाह को न मारने का राजा का आदेश पाकर महिमासाहि मन में बड़ा खिन्न हुआ और उसने उड्डानसिंह पर बाण चला कर उसको मार गिराया। बादशाह इस घटना को देख कर खूब भयभीत हुआ और उसने तत्काल अपना खेमा वहाँ से हटा कर तालाब की दूसरी ओर पीछे के भाग में लगवाया।

कुछ समय बाद, बादशाह के भाई ने किले की दीवार को उड़ा देने के ख़याल से किले की खाई में सुरङ्ग लगवाने का आयोजन किया। खाई को पत्थर, मिट्टी, लकड़ियाँ और घास के पूलों से पाट दिया गया और उसके ऊपर से जाकर मुसलमान सैनिकों ने सुरङ्ग खोदना प्रारम्भ कर दिया। राजा ने यह जान कर किल में से अपने सैनिकों द्वारा आग के गोले और जलते हुए लाख के रस द्वारा उसमे आग लगवा दी। खौलते हुए पानी में जैसे मछलियाँ भुन जाती हैं

उसी तरह वे सुरङ्ग लगाने वाले बादशाह के सैनिक उस आग में भुन गये। बच्चों द्वारा पत्थर और लकड़ी से पीटा गया कुत्ता जैसे चिल्लाता हुआ भागता है वैसे ही वे सुरङ्गों में घुसे हुए सैनिक चिल्लाते हुए चारों तरफ भागने लगे। उस अग्नि की ज्वाला से अनेक सुभट झुलस कर उसी खाई में गिर गए; उन्होंने अपने मृतक शरीरों से मानों उस खाई को पुन: पाट दिया।

इस तरह अलाउद्दीन ने उस किले को जीतने के लिए जितने भी प्रयत्न किये उन सब को राजा हम्मीर ने विफल कर दिए। ऐसी परिस्थिति को देख कर बादशाह दिन-प्रतिदिन अवसाद करने लगा। सर्प जैसे छछुंदर को न निगल सकता है और न छोड़ सकता है उसी तरह बादशाह न किले को ले सकता है और न उसे छोड़ कर जा सकता है। वह दिन और रात योगी की तरह अपने सब सुखों को छोड़ कर एक नज़र जमीन पर और एक नज़र किले पर डालता हुआ सोचता रहता है। ऐसे समय में किले को ग्रहण न कर सकने के दु:ख के कारण अतिप्रतप्त उसके मन को मानो ठंडा करने के निमित्त ही आकाश में बादलों की घटाएं दिखाई दीं, अर्थात वर्षा ऋतु आ गई।

कवि ने यहां पर १५-१६ पद्यों में वर्षा-ऋतु का बहुत ही स्वाभाविक और मनोरंजक वर्णन किया है। बाद में, वह कहता है कि वर्षा-ऋतु के कारण आकाश में जैसे-जैसे जोरों से बादल गर्जने लगे वैसे-वैसे क्षत्रियों द्वारा मारे गये मुसलमान सैनिकों की स्त्रियाँ भी जोर-जोर से आक्रन्द करने लगीं। सारी जमीन कीचड़ से लदबद हो गई और ऊपर आकाश से मूसलाधार वर्षा होने लगी, तब बादशाह के सैनिक बहुत खिन्न होने लगे और नौकरी छोड़-छोड़ कर जाने लगे। घोड़े मैदान को छोड़ कर भागने लगे, हाथी भूख से तड़पने लगे, रथ जमीन में धंसने लगे और मच्छरों के काटने से मनुष्य बड़े परेशान होने लगे। इस प्रकार अकाल ही में काल की तरह वर्षाऋतु का आगमन देखकर बादशाह बड़ी चिन्ता में पड़ा और उसने किसी तरह इस संकट से पार होने का उपाय सोचा।

सन्धि करने की बात के बहाने उसने राजा के सेनापति रतिपाल को बुलाने के लिये अपना दूत भेजा। हम्मीर ने यह सोच कर कि बादशाह क्या कहता है, रतिपाल को उसके पास जाने की आज्ञा दे दी।

यह जान कर रणमल (जो राजा का प्रधान था) रुष्ट हो गया। उसने सोचा कि रतिपाल के बादशाह के पास जाने पर यदि सन्धि की कोई बात निश्चित हुई और उसके अनुसार बादशाह यहाँ से हट जाता है तो मेरे प्रधा-

नत्व का क्या महत्त्व रहेगा ? उधर रतिपाल जब बादशाह के पास पहुँचा तो उस कपटी ने उसका बड़ा भारी स्वागत किया। वह रतिपाल को आते देख कर खड़ा हो गया और फिर उसको अपने बराबर के आसन पर बिठाया। बादशाह ने अपना कूटभाव दिखाते हुए उसको अच्छी-अच्छी भेटें देकर उसका सम्मान किया। जो कूटजीवी होते हैं वे कूट व्यवहार में कहीं चूकते हैं क्या ?

बादशाह ने अपने भाई को छोड़ कर अन्य सभी दरबारियों को वहां से हटा दिया और फिर रतिपाल के सामने अपना पल्ला फैला कर बोला—"मैं अलाउद्दीन हूं, मैंने उन अनेक किलों को जीत लिया है जो जीते जाने में बड़े कठिन माने जाते हैं। अब यदि मैं इस किले को जीते बिना जाता हूं तो जलती हुई आग में रोपी जाने वाली वल्ली (लता) के समान मेरी कीर्ति कितने दिन टिक सकती है ? इस किले को अधीन करना इन्द्र के लिये भी कठिन है, परंतु मेरे सद्-भाग्य से तुम मुझे मिल गये हो इसलिये मेरी इच्छा अब अवश्य सफल हो जायगी। तुम शीघ्र ही ऐसा प्रयत्न करो जिससे युद्ध में मेरी जीत हो जाय। मैं तो केवल जीतने की इच्छा रखता हूं। यह राज्य तुम्हारा हो ऐसा मैं चाहता हूं।" अलाउद्दीन के इस प्रकार के प्रलोभनात्मक वचनों से रतिपाल के मनरूपी किले को लोभ रूपी कलि ने घेर लिया। वह अलाउद्दीन को रणथंभोर का किला दिलाने में सम्मत हो गया। बाद में बादशाह उसको अपने जनानखाने में ले गया और उसे खूब मिष्टान्नादि खिलाये। अपनी बहन के हाथ से उसे अच्छी मदिरा भी पिलाई। उस दुर्मति रतिपाल ने बादशाह का सब कथन स्वीकार कर लिया और वह राजा के पास जाकर उसके सामने वैसी बातें कहने लगा जिससे राजा का क्रोध भड़क उठे। वह बोला—"महाराज, अहंकार और घमंड में मस्त हुआ बादशाह तो यह कह रहा है कि हम्मीर कैसा मूर्ख है, जो मुझे अपनी लड़की नहीं देना चाहता ! यदि वह मुझे अपनी लड़की नहीं देता है तो, मैं अलाउद्दीन नहीं जो उसकी सब स्त्रियों को छीन न लूं। ऐसा करने में मेरे सैकड़ों ही आदमी मारे जायेंगे तो मुझे उसकी कुछ परवाह नहीं है। कानखजूरे के दो-चार पांव टूट जाने से वह लंगड़ा तो नहीं हो जाता है। इस लड़ाई में मेरा कितना ही खजाना क्यों न खाली हो जाय, मेरी उससे क्या हानि हो सकती है ? समुद्र में से बादल कितना ही पानी ले लें तो उससे समुद्र थोड़े ही सूखने वाला है ? इसलिये तूं यहां से जा और जो कुछ करना चाहता है वह जल्दी कर।" रतिपाल ने आकर राजा से कहा कि, 'उसके इस प्रकार के अपमानजनक वचन सुन कर मैंने भी उसे ऐसे ही वचन सुनाये

और मैं यहां चला आया। मालूम देता है, रणमल भी किसी कारण से कुछ रुष्ट हुआ है। वह मानता है कि मैंने कुछ साजिश की है—इसलिये आज सायं-काल को आप ५-७ मनुष्यों को साथ लेकर उसके मकान पर जायें और उसे प्रसन्न कर लें। हमारे सामने यह बादशाह क्या चीज़ है ?'

रणमल को राजी करने के लिए राजा को इस प्रकार प्रेरित कर रतिपाल बीरम के पास होता हुआ वहाँ से चला गया। उस समय उसके मुख से दारू की उग्र दुर्गन्ध निकल रही थी जिसे जान कर बीरम को शंका हुई कि जरूर यह शत्रु के साथ कुछ सांठगांठ करके आया है। फिर, बीरम ने एकान्त में जाकर राजा को कहा कि 'महाराज, इस रतिपाल के मुंह से दारू पीने की ऐसी गन्ध आ रही थी कि जिससे मालूम होता है कि यह शत्रु से किसी प्रकार की साजिश वाली बातचीत करके आया है। मद्य पीने वाला क्या क्या दुष्कृत्य नहीं करता ? इसलिए इसको अभी तलवार से खत्म कर देना चाहिये। बादशाह हताश हो रहा है अतः वह अभी यहाँ से चला जायगा।'

बीरम के ये वचन सुन कर राजा क्षण भर मौन रहा और फिर सोच-विचार कर अमृत की तरह मीठे वचन बोला—"भाई, सूर्य यदि पूर्व से पश्चिम में भी उगने लगे तो भी हम अब इस किले की रक्षा नहीं कर सकेंगे, ऐसा मुझे लग रहा है। वैसी हालत में यदि हम इस रातिपाल को मार डालते हैं और फिर बाद में किला दुश्मन के हाथ में चला जाता है तो लोग कहेंगे कि हमारे राजा का सारा परिवार ही दुर्बुद्धि वाला है जिसने रतिपाल को मरवा डाला। इसके जीते रहने पर भी जब तक हम किले में बैठे हैं तब तक क्या म्लेच्छ यहां विलास कर सकते हैं ? सिंह के जीते जी उसकी गुफा में कोई क्रीडा कर सकता है क्या ? इसलिये यह विचार छोड़ दो। जो भावी होगा सो होकर रहेगा। रावण जैसे अत्युग्र प्रताप वाले भी भावी को नहीं टाल सके।"

राजा के इस प्रकार के विचारों के साथ ही, नगर में सब जगह यह बात फैल गई कि बादशाह तो केवल राजा से लड़की मांग रहा है, और कुछ नहीं चाहता। रानी ने जब यह बात सुनी तो उसने अपनी पुत्री को सिखा कर राजा के पास भेजा। कुमारी देवल्लदेवी ने जा कर राजा से कहा—"पिताजी आप क्यों मेरे लिये अपने राज्य का विनाश करा रहे हैं ? क्या कोई बुद्धिमान् कील के लिये अपने महल को गिरवाता है ? रात्रि के अन्धकार में उत्पन्न होने वाली बहुत-सी तारिकाएँ भी क्या पूर्व दिशा का मुख प्रकाशित कर सकती हैं ? क्षुद्र की लक्ष्मी की तरह दूसरे ही के लिये पुत्री की वृद्धि होती रहती है।

इसलिए मेरा दान कर यदि साम्राज्य की रक्षा की जा सकती है तो वह वैसा ही उचित होगा, जैसे काच का टुकड़ा देकर चिन्तामणि रत्न को बचाया जाता है। मर जाने की अपेक्षा जहां कहीं भी जीती रहने वाली पुत्री अच्छी ही है क्योंकि जीते रहने वाले कभी-न-कभी फिर मिल सकते हैं—मर जाने वाले कभी नहीं। नीति विलक्षण मनुष्य को अपने हिताहित का विचार करके कार्य करना चाहिए। इसलिए पिताजी ! यदि आप मुझे बादशाह को दे देते हैं तो आपके लिए कैसी-कैसी अच्छी बातें हो सकती हैं। एक तो वैसा बड़ा सम्राट् आपका दामाद होगा और दूसरा आप अपने राज्य की रक्षा कर सकेंगे। कुल की रक्षा के लिए एक का त्याग करना इत्यादि नीतिवाक्य भी प्रसिद्ध ही हैं। अपनी अर्जित भूमि की रक्षा के लिए मुझे देने में आपको क्या हानि होती है? इसलिए आप बुद्धि से विचार करें, समयोचित कार्य करें, मेरे वचन की उपेक्षा न करें और मुझे बादशाह को सौंप दें।"

अपयशरूप पट का निर्माण करने में चतुराई भरी उसकी बातों को सुन कर राजा की क्रोधाग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो उठी। राजा बोला—'पुत्रि ! यह तेरी बुद्धि की कल्पना नहीं है। जिनके मन को पाप ने नहीं छुआ है वैसी कुमारियों के मन में ऐसी बुद्धि कभी उत्पन्न नहीं होती। पापिनी रानी ने तुझे यह सब सिखा कर यहां भेजा है। यदि स्त्री-वध के पाप का भय न होता तो मैं उसकी जीभ कटवा डालता। दुष्ट के हाथ में तुझे सौंप कर यदि बड़े साम्राज्य के सुखोपभोग की आशा मैं करूं तो वह उस सर्पिणी के कृत्य के जैसा होगा जो अपनी भूख मिटाने के लिए अपने ही बच्चों को खा जाती है। कुल की रक्षा के लिए एक का त्याग करना ठीक है, यह जो नीति का कथन तूने बताया है उसका मर्म समझने की अभी तेरी क्या शक्ति है? तू तो अभी बच्ची है। कुल के लिए उस एक का त्याग करना ठीक है जो कुल की अपेक्षा कम महत्त्व रखता है। सर्प का खाया हुआ अंगूठा जैसे काटा जा सकता है वैसे क्या जीभ भी काटी जा सकती है? समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी की अपेक्षा भी हमारे कुल में तू अधिक सारभूत वस्तु है; नहीं तो, बादशाह जमीन को छोड़ कर तुझे ही क्यों माँगता है? और, तू ने यह जो कहा कि मेरे दे देने से आपको क्या-क्या लाभ हो सकते हैं, यह भी तेरा बालपन का अबोध-सूचक विचार है। सब प्रकार से अधम, पापिष्ठ और गो-भक्षक मुसलमान को तुझे सौंप देने से मेरा क्या हित होने वाला है? दुनियां में अपकीर्ति होगी, परलोक में दुर्गति होगी और स्वकुलाचार का विध्वंस होगा। ऐसा जीवन तो धिक्कार के योग्य होता है। दुर्लभ मनुष्य-भव प्राप्त कर बुद्धिमान को दो

ही वस्तुएँ प्राप्त करने जैसी हैं, एक कीर्ति और दूसरा धर्म । ये दोनों वस्तुएँ अपने कुलाचार का ठीक पालन करने से प्राप्त होती हैं । जो मनुष्य कुलाचार का लोप कर सुख की प्राप्ति चाहते हैं वे अपने पूर्वजों की कीर्त्ति का नाश करते हैं । चाहमान वंश के प्रारंभ से लेकर आज तक जिन पूर्वजों ने वैसा अकृत्य कार्य नहीं किया, मैं वह कार्य आज करके उन पूर्वजों को क्या जवाब दूंगा ? इस तरह उस पुत्री देवलदेवी के वचनों का प्रतिरोध करके और उसके मन को धैर्य देकर राजा ने उसे अपने महल में जाने की आज्ञा दी ।

इधर वह रतिपाल भी शीघ्र रणमल्ल के मकान पर गया और उसने आकुलता के साथ रणमल्ल को कहा—'भाई क्यों सुख से बैठा है ? जल्दी भाग निकलने का प्रयत्न कर । राजा हम सेवकों का शत्रु बन गया है और वह तुझे पकड़ने के लिए आ रहा है ।' सुन कर रणमल्ल ने कहा कि—'चन्द्रमा से जैसे जहर की संभावना नहीं की जाती वैसे इस राजा से ऐसे व्यवहार की संभावना नहीं की जाती ।' रणमल्ल के ऐसे आक्षेपात्मक वचन सुन कर रतिपाल ने कहा—यदि आज शाम को अपने ५-७ जनों के साथ तेरे मकान पर राजा को आता देखे तो मेरी बात को सच समझना ।' यह कह कर रतिपाल अपने मकान पर चला गया । रतिपाल के कहे मुजब राजा को सायंकाल के समय अपने मकान की तरफ आता देखा तो रणमल्ल को विश्वास हो गया कि रतिपाल ने जो बात कही है ठीक ही मालूम देती है । तब वह डर के मारे किले से नीचे उतर कर शत्रु से जा मिला । रतिपाल भी उसी तरह किले से नीचे उतर कर, स्वर्ग से उतर कर नरक में आने वाले प्राणी की तरह, बादशाह की सेना से जा मिला ।

उन दोनों के ऐसे दुर्व्यवहार को देख कर राजा ने कलिकाल के कुटिल प्रभाव का विचार करते हुए अपने धान के कोठार के रक्षक जाहड नामक अधिकारी को बुला कर पूछा कि 'कोठार में धान कितना'क है ?' उसने सोचा कि मैं यदि अन्न का अभाव सूचित करूंगा तो राजा जल्दी ही बादशाह से सन्धि कर लेगा – इससे उसने राजा से कहा कि "अन्न तो कुछ भी नहीं है ।" हित की कामना करने वाला भी मूर्ख-जन अहित का ही कारण होता है जिसका वह जाहड एक उदाहरण है । जाहड के कथन से राजा बड़ा चिन्तित हुआ और वह अपने महल में आया । रात्रि के समय जब चन्द्रमा आकाश में दिखाई देने लगा तो उसकी तन्द्रा भंग हो गई और वह मन में सोचने लगा कि—जिनको मैंने अनेक प्रकार के दान और सम्मान से भाई की तरह सत्कृत किया वे भी इस तरह स्वामिद्रोह करने को तत्पर हो गये तो जो स्वभाव से ही नीच हैं उनके बारे में क्या कहा जाय ? राजा सोचने लगा—यदि ये मुगल, जो मेरे पास हैं,

अपने जाति-भाई का पक्ष लेकर मुझे पकड़वा कर शत्रु को दे दें तो मेरी कैसी विडम्बना होगी ? इसलिए किसी तरह समझा-बुझा कर इनको अपने नगर से रवाना करना अच्छा होगा। पराया मनुष्य चाहे जितना प्रेम करे पर वह परायेपन को कभी नहीं छोड़ता ।

प्रातःकाल होने पर राजा स्तुतिपाठ करने वाले बन्दी को पारितोषिक देकर नित्यक्रिया से निवृत्त हुआ। फिर राजसभा में आकर बैठा और अपने भाई के सन्मुख उन मुगल भाइयों के अध्यक्ष महिमासाहि को लक्ष्य कर वह बोलने लगा—'हम क्षत्रिय हैं, हमारा धर्म है कि हम अपनी भूमि की रक्षा के लिये प्राणों का भी त्याग करने में सदैव तत्पर रहें। हमारा यह धर्म युगान्त में भी नष्ट नहीं होता। क्षत्रिय वही है जो प्राणान्त के समय भी अपने हुंकार को नहीं छोड़ता। इसका प्रसिद्ध उदाहरण सुयोधन है, जो सबको विदित है। आप विदेशी हैं, इस संकट काल में आपका यहां रहना योग्य नहीं होगा इसलिये आपकी जहां कहीं जाने की इच्छा हो वह बतलायें तो मै आपको वहां पहुँचा दूं।' राजा के ये वचन भाले की नोक की तरह उस वीर के हृदय को आघात करने वाले बने। वह मूर्छा खा कर पड़ने जैसी दशा में हो गया पर क्रोध के बल से अपने को संभाल कर, अवष्टब्ध हो रहा। बाद में 'ठीक है, ऐसा ही हो।' यह कह कर वह अपने निवास में चला गया। वहां उसने अपने सारे परिवार को तलवार से काट डाला और फिर राजा के पास आकर कहने लगा—'महाराज, आपके भाई की घरवाली जाने के लिए उत्कंठित है पर वह मुझ से गद्गद् होकर कहती है कि—स्वामिन् ! हम इतने वर्षों से यहां इस घर में सुख से रह रहे हैं। हमें अपने पहले के शत्रुओं से प्राप्त दुःखों का किंचित् भी यहां स्मरण नहीं हुआ। जिसकी कृपा से हमें संपूर्ण सुख और धन प्राप्त हुआ है, सूर्य किधर ऊगता है और किधर अस्त होता है यह भी हमने कभी नहीं जाना, यदि उसके दर्शन किये बिना ही हम यहां से चले जाते हैं तो हमारे लिए बड़े दुःख का कारण होगा। इसलिये, महाराज, उन लोगों के मन की शान्ति के लिये आप एक बार हमारे मकान पर चलने की कृपा करें।'

उस महिमासाहि के यह कहने पर राजा तुरन्त उठ खड़ा हुआ और अपने भाई के साथ उसकी भुजा को अपनी भुजा में दबा कर चल पड़ा। महिमासाहि के मकान पर पहुँच कर जब वह उसके अन्दर पहुँचता है तो वहां पर कुरुक्षेत्र की भूमि की तरह उसके सारे आंगण को मृतकों के शवों से भरा पाता है। लोहू के गड्ढों में स्त्रियों के और बच्चों के सिर डूबे पड़े थे। यह भयंकर दृश्य देखते ही राजा मूर्छित हो गया और जमीन पर गिर पड़ा। वीरम आदि

भाईयों के अश्रुओं के सिंचन द्वारा राजा की जब मूर्छा उतरी तो वह महिमा-साहि के गले लग कर इस तरह विलाप करने लगा—'हे कम्बोज-कुलाधार ! हे कीर्तिकुलमन्दिर ! हे अनन्यजनसौजन्य ! हे धन्यतम-विक्रम, हे क्षत्रैकव्रताधार ! हे विश्वजनवत्सल ! मैं प्राण देकर भी तेरा ऋण कैसे चुका सकूंगा ? मुझ से अधिक अधम मनुष्य कोई नहीं है और तेरे से अधिक उत्तम मनुष्य कोई नहीं है। तेरे जैसे प्रेमी पुरुष के बारे में भी मैं मन्द-बुद्धि वैसा दुर्विचार करने में प्रवृत्त हुआ । विधाता की प्रतिकूलता के कारण मुझे यदि ऐसी दुर्मति हो गई परंतु, तुमने ऐसा कृत्य क्यों किया ? परंतु, यह सब भावी के खेल हैं। मनुष्य अपने आत्महित की दृष्टि से जिस बुद्धि का अनुसरण करता है, भवितव्यता उसको अपनी गति के अनुसार ले जाती है। मनुष्य अन्य प्रकार के मनोरथ करता रहता है, दैव उसके कर्मानुसार अन्यथा फल देता है ।'

राजा वहां से लौटता हुआ धान के कोठार की तरफ मुड़ा तो उसने वहां खूब अन्न भरा देखा। तब उस जाहड को पूछा कि, यह क्या है ? तो उसने सच बात कही। तब राजा ने कुपित होकर कहा कि 'तेरी बुद्धि को धिक्कार है, जिसने कुल क्षय का प्रसंग उपस्थित किया।' बाद में राजा ने नगर के दरवाजे खुलवा दिये और सब नगर जनों को इधर-उधर चले जाने की आज्ञा दे दी।

फिर, उसने अपनी रानियों और स्त्रीजनों को अग्नि में जल मरने की आज्ञा दी, स्वयं दान-धर्मादि कार्य करके जनार्दन की पूजा की और फिर पद्मसरोवर के किनारे आकर विषादमुक्त होकर बैठ गया। इतने में रङ्गदेवी-प्रमुख सब रानियाँ पद्मसरोवर में स्नान कर, नाना प्रकार के आभूषणों से सजधज कर राजा के सन्मुख उपस्थित हो गईं। उन्होंने राजा को नमस्कार किया। राजा ने हर्ष के साथ अपने सिर की सुन्दर केश-चूड़ा को काट कर उन सब रानियों के हाथों में, प्रत्यक्ष शृंगार-सर्वस्व के रूप में वितीर्ण कर दी। फिर राजा ने अपनी पुत्री देवल्लदेवी का अपनी भुजाओं से दृढ आलिङ्गन किया और अत्यन्त क्रन्दन करते हुए बड़े कष्ट के साथ उसे दूर किया। फिर बोला—'यदि किसी को पुत्री हो तो तेरे जैसी हो, जिसने अपने पिता को गौरव के शिखर पर चढ़ाया है।' यदि स्वर्ग में पहुंचने पर राजा हमको न पहचान सके तो हम इनको इन केश-चूड़ा के केशों को हाथ में लेकर अपनी पहचान कराएंगीं—इस विचार से उन रानियों ने वे केश अपने वक्षःस्थल पर रख कर, धधकती हुई अग्नि ज्वाला में प्रवेश किया। राजा ने शान्त मन से उन सब को अन्त्यांजलियां दीं और फिर जाजा नामक अपने अत्यन्त प्रिय सामन्त और शूरवीर नर को भी आदेश दिया कि 'भाई तुम भी अब कहीं चले जाओ।' राजा का आदेश सुन कर वह जाजा

भी अपने निवास पर आकर, अपनी आठ पत्नियों और एक पुत्र का मस्तक काट कर, थाल में रख राजा के सामने उपस्थित हुआ। राजा ने पूछा, यह क्या? तो उसने कहा कि 'राजन्, पूर्वकाल में रावण ने जिस तरह अपने दस मस्तक काट कर शिव का अर्चन किया था उसी तरह मैं शिवस्वरूप तुम्हारा इन दस मस्तकों से अर्चन करता हूं। इनमें से ६ मस्तक तो ये मेरे हाथ में हैं और दसवां मस्तक मेरे धड़ पर है जिसको काट कर मैं तुम्हारे चरणों में समर्पण करना चाहता हूं।'

हम्मीर ने अपने भाई वीरम को राज्याधिकार देना चाहा तो उसने इनकार कर दिया और अपने भाई के साथ ही युद्ध में लड़ कर मर जाना चाहा, तब हम्मीर ने जाजादेव को राज्याधिकार समर्पित किया।

राज्य-भण्डार की सब निधि को कहां डाला जाय, इसकी चिन्ता जब राजा को हुई तो रात को स्वप्न में पद्मसरोवर ने आकर कहा कि मेरे अन्दर डाली हुई निधि प्राणान्त तक भी मुसलमान नहीं पा सकेंगे। ये रतिपाल आदि स्वामि-द्रोही जैसा द्रोह कर गये हैं वैसा द्रोह यह किला, ये तेरे साथी सुभट और मैं पद्मसरोवर, कभी नहीं करेंगे। सवेरे उठ कर राजा ने जाहड कोठारी को बुलाया और उसे आदेश दिया कि जो भी राज्य की धन-संपत्ति कोठारों में है उस सब को पद्मसरोवर में डलवा दो। जाहड के वैसा करने के बाद फिर वह बोला कि 'अब और मैं क्या करूं?' तब राजा के आदेशानुसार वीरम ने उसका शिरश्छेद कर उसे भूमिसात् कर दिया।

अब श्रावण महिने के शुक्ल पक्ष की छठ और रविवार के दिन स्वर्ग में अपनी कीर्ति की कला को देखने के लिए उत्सुक होकर राजा ने अपने नौ वीरों के साथ युद्ध-भूमि में प्रवेश किया। हम्मीर युद्ध के मैदान में पहुंच गया है, यह जान कर बादशाह भी अपनी सेना के साथ मैदान में आ पहुंचा। हम्मीर के साथ सब से आगे उसका भाई वीरम था, दूसरा सिंह नामक वीर था, तीसरा गंगाधर टाक था, चौथा क्षेत्रसिंह परमार था, साथ में महिमासाहि आदि वे चारों सच्चे मित्र मुगल भाई थे। सभी वीरों ने बड़ी वीरता के साथ अपना रणकौशल दिखाया और शत्रु के अनेक सुभटों को यम के द्वार पर पहुंचाया। राजा स्वर्ग की जिस लक्ष्मी को स्वाधीन करना चाहता है वह कैसी है इसे देखने के लिये ही मानों सब से पहले वीरम ने स्वर्ग में प्रयाण किया। अन्य वीर भी जीवित से निर्विण्ण होकर हम्मीर से पहले स्वर्ग चले गये। महिमासाहि शत्रु के प्रहार से मूर्छित होकर युद्ध-भूमि में गिर पड़ा, तब फिर स्वयं हम्मीर सक्षम होकर आगे बढ़ा। अपने शस्त्र-प्रहारों से शत्रु के अनेक सुभटों का प्राण-संहार करता हुआ वह अकेला वीर युद्ध-भूमि में ताण्डव-नृत्य करता रहा। चारों

तरफ से आते हुए शत्रु के बाणों से बिंध जाने पर जब उसने देखा कि अब जीवन समाप्त होने वाला है तो, कहीं शत्रु उसे जिन्दा न पकड़ लें, इस विचार से तुरन्त उसने अपने हाथ से अपना कण्ठच्छेद कर डाला और स्वर्ग की ओर प्रस्थान कर गया।

•

महाकवि नयचन्द्र सूरि ने हम्मीर-महाकाव्य के तेरहवें सर्ग में जो वर्णन दिया है उसका यह सारभूत आलेखन है। इस वर्णन के पढ़ने से सामान्य पाठकों को भी यह कल्पना हो सकेगी कि हम्मीर महाकाव्य में कवि ने किस स्वरूप में और किस प्रकार से अपना काव्य-कलाप आलेखित किया है। कवि का लक्ष्य कोई काल्पनिक और पौराणिक शैली का अनुसरण करके अपने काव्य-नायक का कल्पित, अतिरंजित, अमानवीय प्रकृति-चित्रण कर केवल कविता के कलेवर को ही बढ़ाना नहीं है, जैसा कि पृथ्वीराज-विजय के कर्ता कवि जयानक ने अपने काव्य में पृथ्वीराज का चरित्र प्रदर्शित किया है। कवि नयचन्द्र हम्मीर के तथ्यभूत जीवन को स्पर्श करने वाले सत्त्व, औदार्य, धैर्य, वात्सल्य और स्नेह-प्रपूरित उदात्त गुणों का याथातथ्य वर्णन कर, भारत के उस एक अद्वितीय वीर पुरुष की कीर्ति-गाथा का पुण्यगान कर अपनी कवि-प्रतिभा द्वारा राष्ट्र के अमूल्य वाङ्मय भण्डार में एक उत्कृष्ट काव्य-रत्न प्रदान करता है।

•

काव्य का चौदहवां सर्ग छोटा-सा ही है। इस सर्ग में कवि ने प्रारम्भ में हम्मीर के लोकोत्तर गुणों की स्तुति रूप में कुछ पद्य आलेखित किये हैं। हम्मीर देव की इस प्रकार विपत्तिजनक दशा में मृत्यु होने के कारण देश के कवियों और लोगों के कैसे-कैसे उद्गार निकले हैं, उसका आभास कराया गया है। शायद, इनमें के कुछ पद्य अन्य कवियों की रचना-रूप हों। इस सर्ग के पहले पद्य में कवि कहता है कि 'अपने शत्रुओं को त्रास देने के लिए दीक्षा लेने वाले मनुष्यों के गुरु-रूप और लोकप्रिय कार्यों को ही जिसने अपनी उन्नति का मूलाधार माना वैसे हम्मीर नृपति की उस प्रकार मृत्यु होने के दुःखद समाचार सुन कर कई कवियों ने उसके गुणों की स्तुति करने वाले काव्यों की रचना की।'

कोई कवि कहता है—'राजाओं के भाल के तिलक समान हे हम्मीर! तुम्हारे स्वर्ग चले जाने पर आज धर्म ने सुख का स्थान छोड़ दिया, करुणा ने अरण्य की शरण ले ली, वीरता ने बालक्रीडा का रूप धारण कर लिया, औदार्य गल गया, नीति भयभीत हो गई और लक्ष्मी ने वैधव्य रूप धारण कर लिया।'

कोई दूसरा कवि विलाप करता हुआ कहता है कि—'हे हम्मीर ! तुम्हारे बिना अब हमारी क्या गति होगी ? कौन ब्राह्मणों को कांचन का दान दे-दकर पूजा करेगा ? कौन प्रतिदिन षड्-दर्शनों की पालना करेगा ? दुष्ट यवनों द्वारा मारी जाने वाली गायों की कौन रक्षा करेगा ?'

एक कवि कहता है—हे महीमहेन्द्र हम्मीर, विद्वान् लोग जो यह कहा करते हैं कि कलिकाल में कल्पद्रुम, कामधेनु और चिन्तामणि रत्न पृथ्वी में दृष्टिगोचर नहीं होते (परन्तु, तुम्हारे जीवन ने उन सब का प्रत्यक्ष दर्शन कराया था) वह बात तुम्हारे स्वर्ग में जाने पर सत्य सिद्ध हो रही है।

किसी कवि का कथन है कि—'पाताल में नागराज, स्वर्ग में देवगण, उद्यानों में पुष्प-पुंज, सरोवरों में राजहंस, घरों में सन्नारियां और नगरों में प्रेमातुर नागरिक, इस प्रकार आज सब कोई हम्मीर की मृत्यु के बारे में शोक कर रहे हैं।'

एक कवि का विलाप है कि—'दारुण विधाता ने निष्कारण ही वैसे गुणों के आकर समान हम्मीरदेव का हरण करके सारी पृथ्वी के सर्वस्व का अपहरण कर लिया है। हम क्या करें, क्या कहें, किस स्वामी से अनुरोध करें ? किस के सामने हम अपना यह विषम दुःख प्रकट करें ?'

एक कवि का कथन है कि—'इस पृथ्वी में अनेक राजा विद्यमान हैं, जो अपनी प्यारी भूमि की रक्षा के निमित्त अनेक प्रकार के युद्धों का आयोजन करके अपनी दृढ़ता स्थापित करते रहते हैं परन्तु, म्लेच्छों के मस्तकों के निपात से क्षितिमण्डल को दन्तुर बनाने वाला तो इस कलिकाल में केवल एक हम्मीर ही है।'

किसी कवि का विलाप-कथन है कि—'हे हम्मीर नरेश्वर ! (रणथंभोर के) जिस पद्मसरोवर में संध्यावन्दन आदि कर्मों में मस्त ब्राह्मण हंसों की तरह तैरा करते थे, उसमें आज, तुम्हारे बिना गन्दे कपड़े पहने हुए यवन, भैंसों की तरह कूद रहे हैं।' इत्यादि

इस प्रकार, इस सर्ग में १३ पद्य ऐसे दिये गये हैं जिनमें हम्मीर की मृत्यु के कारण सन्तप्त कवियों के हृदयोद्गार हैं। इसके बाद चौदहवें पद्य में शायद कवि नयचन्द्र अपना हृद्गत भाव व्यक्त करते हैं—वे कहते हैं कि 'लोग यों ही अपनी मूढ़ता के कारण भले ही कहते रहें कि यह विश्व का अद्वितीय वीर नरेश्वर, चाहमान हम्मीर स्वर्ग में चला गया है; किन्तु, तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से विचार करते हुए हम तो कहेंगे कि वह राजा अपने उन-उन पराक्रम-

प्रदर्शक-गुणों के कारण पृथ्वी पर जीता-जागता ही दिखाई देता है। (१५)*

इसके बाद, सोलहवें पद्य में कवि ने हम्मीर के ३ सेवकों—सेनापति रतिपाल, मुख्यमंत्री रणमल्ल और परम विश्वस्त जाज को भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्दों से सम्बोधित किया है—'उस शूरवंशाधम रतिपाल को धिक्कार है! वह विलय को प्राप्त हो! वह पापी रणमल्ल अच्छी तरह अपना मुँह काला कर ले! एक जाज ही दुनियां में आनन्दित रहे, जो स्वाभाविक प्रेम की मूर्ति है और जिसने हम्मीर के स्वर्ग चले जाने पर भी दो दिन तक किले की रक्षा की। इस स्वामिभक्त चाहमान जाजा को राजा ने चले जाने का आदेश दे दिया था तब भी वह न जाकर अपने स्वामि के सिंहासन की रक्षा करता हुआ अन्त में अनन्त में चला गया अर्थात् किले की रक्षा करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ।'

बाद के तीन पद्य नयचन्द्र कवि ने महिमासाहि के सम्बन्ध में कहे हैं। कवि कहते हैं—(पुराणों में वर्णन है कि पुरा काल में, दूसरों की रक्षा के लिए) राधेय ने अपना कवच दे दिया था, शिबि ने अपना मांस दे दिया था, बलि राजा ने पृथ्वी दे दी थी, जीमूत ने आधा शरीर दे दिया था तथापि वे हम्मीर देव के समान उदार नहीं हो सकते क्योंकि इसने तो अपने शरणागत महिमासाहि के लिये क्षण भर में पुत्र, कलत्र और सेवक गण के साथ अपने प्राणों तक का विनाश कर दिया। उस महिमासाहि का भी क्या वर्णन किया जाय! वह कम्बोजवंश की कीर्ति बढ़ाने में चन्द्रमा जैसा था, वह निष्कपट वीर-व्रत का धनी था और स्वाभिमान का निवासस्थान था। उसने अपने संरक्षक वीर हम्मीर देव की युद्ध में मृत्यु हो जाने पर भी, उसके शत्रु को, प्राणान्त के अवसर तक, अपना उन्नत मस्तक नहीं झुकाया।

वह महिमासाहि जब उस युद्ध में शत्रु द्वारा जीवित पकड़ा गया तो, अपने जाति भाई को अपनी ही जाति के द्वारा नहीं मारना चाहिए, ऐसी कुल-रीति का अनुसरण करते हुए, बादशाह ने उससे पूछा कि—यदि तुझे जिन्दा छोड़ दिया

---

*नयचन्द्र सूरि के इस पद्य में, उनके प्रगुरु जयसिंह सूरि रचित कुमारपाल-चरित्र के अन्त में इसी भाव को प्रदर्शित करने वाला जो एक पद्य लिखा है उसकी पूरी छाया दिखाई देती है। पूर्वार्ध में तो शब्दावली भी प्रायः समान है। वह पद्य इस प्रकार है—

लोको मूढतया प्रजल्पतु दिवं राजर्षिरध्यूषिवान्
ब्रूमो विज्ञतया वयं पुनरिहैवास्ते चिरायुष्कवत्।
स्वान्ते सच्चरितैर्नमोऽभिधमनुभिः कैलास-वैहासिकैः
प्रासादैश्च बहिर्यशेव सुकृती प्रत्यक्ष एवेक्ष्यते ॥

कुमारपालचरित, सर्ग १०; पद्य २६७

जाय तो मेरे प्रति तेरा कैसा व्यवहार होगा ?' तब महिमासाहि ने अपना पैर दिखाते हुए कहा 'कि जैसा व्यवहार तूने हम्मीर के प्रति किया है वैसा ही व्यवहार मैं भी तेरे प्रति करूंगा।' ऐसे महिमासाह जैसे वीर की समानता करने वाला अन्य कौन वीर होगा ?

इसके बाद के पद्य में, उस दुष्ट रतिपाल के प्रति बादशाह ने कैसा व्यवहार किया उसका उल्लेख है—कहा गया है कि युद्ध भूमि में हम्मीर के मर जाने पर जब बादशाह उसे देखने आया तो दुष्ट रतिपाल ने अपने पैर की ठोकर लगा कर हम्मीर का मृतक मस्तक दिखलाया—बादशाह ने उससे पूछा कि हम्मीर ने तुझे क्या क्या दिया ? तो उसने उन सब दान, सनमान आदि का वर्णन किया जो हम्मीर ने उसे दिया था। बादशाह ने सुन कर उसकी खाल उतरवाने का आदेश दे दिया। यदि ऐसा न किया जाता तो कौन दुष्ट स्वामिद्रोह करने से दूर रहेगा ? (२१)

इस वर्णन के साथ नयचन्द्र सूरि अपने महाकाव्य के वर्ण्य विषय को समाप्त करते हैं। बाद के ६ पद्यों में कवि अपने प्रगुरु और गुरु का परिचय देते हैं, जो ऊपर लिखा जा चुका है। यद्यपि कवि को इस महाकाव्य के प्रणयन की प्रेरणा तो तोमरवंश के वीरमदेव की राजसभा के कतिपय विद्वानों की इस उक्ति से मिली थी कि—'इस समय वैसा कोई प्रतिभाशाली कवि नहीं है जो प्राचीन कवियों के समान उत्कृष्ट काव्य रचना कर सके' और इसी उक्ति के आक्षेप का निवारण करने के लिए नयचन्द्र कवि ने इस महाकाव्य की रचना की है, परन्तु काव्य का विषय हम्मीरदेव का चरित्र-वर्णन पसन्द करने के बारे में कवि कहते हैं कि—'स्वप्न में आकर उस हम्मीरदेव ने ही कवि को प्रेरित किया कि वह उसके चरित को काव्य-रूप में निबद्ध करे।

तेने तेनैव राज्ञा स्वचरिततमने स्वप्न-नुन्नेन कामं

चक्राणं काव्यमेतन्नृपतिततिमुदे चारुवीराङ्करम्यम्। (१४. २६)

उसी वीर नायक के स्वप्नगत निदेशानुसार, राजाओं के आनन्द के लिए यह वीराङ्क काव्य बनाया गया है।

आगे के कुछ पद्यों में कवि ने अपनी काव्य-विषयक रुचि, शैली, शब्दावली आदि के विषय में विचार अंकित किए हैं। कवि को हर्ष और अमर कवि अधिक प्रिय हैं। कवि उन्हीं दोनों कवियों की शैली का अनुसरण करता है। कवि को अपनी रचना को वैशिष्ट्य का पूरा ख्याल है। वह एक उत्तम कोटि का कवि

है और काव्यप्रकाशादि-लक्षणग्रन्थों में पारङ्गत थी। उसने लक्षणग्रन्थों में वर्णित रसबहुल उत्तम काव्य का प्रणयन सरस जनों के मन को प्रसन्न करने के लिए किया है; अतः कोई नीरस व्यक्ति इस काव्य से आनन्द प्राप्त न कर सके तो इस कवि के काव्य का दोष नहीं—

काव्यं काव्यप्रकाशादिषु रसबहुलं कीर्तयन्त्युत्तमं यत्,
तन्नो भावैर्विभावप्रभृतिभिरनभिव्यक्त मुक्तं कदाचित् ।
तेनेति व्यक्तमुक्तं सरसजन मनःप्रीतये काव्यमेतत्,
कश्चिच्चेन्नीरसोऽस्मिन् भजति बत मुदं नोतदाकोऽस्य दोषः ॥३४॥

इस प्रकार अपने काव्य के गुणों के प्रति जागरूक यह कवि स्वाभिमान की अभिव्यक्ति करता हुआ भी समानधर्मा कवियों का सम्मान करना भी जानता है। इसी दृष्टि से वह अपने काव्य में अनजान में प्रयुक्त अपशब्द के लिए क्षमा-याचना करना भी नहीं भूलता है—

क्षन्तव्य एव कविभिः कृपया प्रमादात्,
काव्येऽत्र कश्चिदपि यः पतितोऽपशब्दः ।
प्रीतिर्यथाऽस्तु सुहृदामथवा सुशब्दैः,
किं सा तथाऽस्त्यसुहृदामपि माऽपशब्दैः ॥

ऐसे कवि ही लोकोत्तार आनन्द देते हुए लोकसेवा के साधन अनायास ही उपस्थित कर जाते हैं। अतः यह काव्य निस्संदेह हमारे साहित्य की अमूल्य निधि है। यों तो इस काव्य का नायक ही हमारे इतिहास का एक ऐसा प्रातः-स्मरणीय व्यक्तित्व है जिसके विषय में स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में कहा जा सकता है "कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है", परन्तु कवि की शक्ति, निपुणता और शैली से हम्मीर के लोकोत्तर शौर्य्य, औदार्य्य एवं त्याग के गुण विशेष रूप से मुखरित होकर मानों घोषणा करने लगे हैं कि "अभयं स्वस्ति" और "अरंकृति" के वैदिक आदर्श में निमज्जित यह अद्वितीय वीर स्वयं अभय है और अपने शरणागत को भी अभयदान देने में समर्थ है तथा अपने प्राणों की आहुति देकर भी कृत-संकल्प है। रूप, शील और गुण से संपन्न हम्मीर ने अपनी चारित्रिक समृद्धि द्वारा हमारी मातृभूमि को जो गौरव प्रदान किया वह धन्य है, स्तुत्य है, परंतु ऐसे वीरों की गाथा को जनता के स्मृति-पथ पर लाने के लिए जो रससिद्ध कवीश्वर प्रयत्नशील हैं वे निस्संदेह जनता की सेवा में उतने

ही रत कहे जा सकते जितने कि उस 'परं ज्योतिः' के जिसको हम्मीरमहाकाव्य के प्रारंभ में निम्नलिखित शब्दों में याद किया गया है—

> सदा चिदानन्दमहोदयैकहेतुं परं ज्योतिरुपास्महे तत् ।
> यस्मिन् शिवश्रीः सरसीव हंसीव विशुद्धिकृद्धारिणि रंरमीति ॥

इन शब्दों के साथ सहृदय पाठकों के हाथों में यह ग्रंथ समर्पित किया जाता है ।

प्रास्ताविक परिचय

इतिहास के रूप में हम्मीरमहाकाव्य

[लेखक — प्रो० दशरथ शर्मा, एम. ए., डी. लिट्]

इतिहास शब्द पर्याप्त प्राचीन है; गहन तत्वों को समुचित रूप से समझने के लिए हमने ऐतिहासिक ज्ञान को आवश्यक समझा है। जिस नियमित अर्थ में हम आजकल इतिहास शब्द को प्रयुक्त करने लगे हैं, उसी अर्थ को यदि हम प्राचीन संस्कृत-कृतियों पर भी लागू करें तो प्राचीन संस्कृत-साहित्य में इतिहास-ग्रन्थों की संख्या कुछ अधिक न मिलेगी। हमारे यहां काव्यमयी प्रवृत्ति इतनी अधिक रही है कि इतिहास अधिकतर काव्य का बाह्य रूप ही धारण नहीं करता, उसकी कथा में भी काव्य-तत्वों की इतनी भरमार हो जाती है कि ऐतिहासिक तथ्य उभर नहीं पाते।

कुछ प्राचीन इतिहास–काव्य

'हर्ष-चरित' इसी तरह का इतिहास-काव्य है। भारतीय संस्कृति के चित्र के रूप में यह अमूल्य है। पर स्वयं हर्ष और उन के पूर्वजों के इतिहास की सामग्री इस में अत्यल्प है। पद्मगुप्त के 'नवसाहसांक-चरित' में परमार राजा नवसाहसांक सिन्धुराज की कथा है। किन्तु कवि ने इस में इतने अलौकिक तत्व डाल दिये हैं कि इतिहास के विद्यार्थी के लिए सत्य से असत्य को पृथक् करना अत्यन्त दुष्कर हो गया है। बिल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित्र' कुछ अधिक तथ्यमय है। परन्तु उस में भी काव्य-चमत्कार पर अधिक और तथ्यों के वर्णन पर कम बल है। 'पृथ्वीराज-विजय महाकाव्य' खण्डित रूप में हमें प्राप्त है। इस मे चौहान-इतिहास की पर्याप्त सामग्री है। किन्तु चलते-चलते मानों कवि को अपना कवित्व कुछ विशेष रूप से स्मरण हो जाता है और अनेक सर्ग अलौकिक और काल्पनिक सामग्री को प्रस्तुत करने में समाप्त हो जाते हैं। 'हम्मीर महाकाव्य' से पूर्व अनेक अन्य ऐतिहासिक काव्य भी संस्कृत में लिखे गये।[1] किन्तु विशुद्ध इतिहास को प्रस्तुत करना अधिकतर उन का लक्ष्य न रहा है।

'हम्मीरमहाकाव्य' भी इस इतिहास-काव्य की परम्परा के दोषों से सर्वथा निर्मुक्त न रहा है। इस की रचना ग्वालियर के राजा वीरमदेव के सभासदों के

---

[1] इस प्रसंग में कई वर्ष पूर्व प्रकाशित मुनि श्रीजिनविजयजी का 'प्राचीन गुजरात ना सांस्कृतिक इतिहास नी साधन-सामग्री' नाम सन्दर्भ-ग्रन्थ अब भी पूर्ववत् पठनीय है।

यह कहने पर हुई थी कि उस समय पूर्व कवियों के समान काव्य की रचना करने वाला कोई व्यक्ति न रहा था। ऐसी स्थिति में उस में अनेक काव्य-तत्वों का आना स्वाभाविक ही था। कवि ने पांचवें सर्ग में वसन्त-वर्णन, छठे में जल-क्रीड़ा-वर्णन, सप्तम में रति-वर्णन दे कर इस काव्य-परम्परा का पूरा निर्वाह किया है। किन्तु 'हम्मीर महाकाव्य' की विशेषता इस में है कि अधिकांश में इस का ऐतिहासिक भाग सर्वथा सुस्पष्ट, सुग्रंथित और अलौकिक तत्वों से प्राय: विहीन है। इस के पढ़ने में इतिहास-पठन का आनन्द है। इस के पात्र मानव-गुणों और दोषों से युक्त हैं। हम्मीर कई बातों में महान् है, किन्तु कवि ने उस की कमियों को भी सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किया है। कर्मसिद्धान्तवादी होने के कारण लौकिक घटनाओं के लिए अलौकिक कारण देने की प्रथा से नयचन्द्र आसानी से दूर रह सके हैं। उदाहरण के लिए हम रणथम्भोर के भंग को ले सकते हैं, जिस के कारण, व्यष्टि रूप में अनेकशः और समष्टि रूप में, जैत्रसिंह के अन्तिम उपदेश के रूप में वर्तमान हैं।

हम्मीर काव्य का रचना-काल

कवि नयचन्द्र हम्मीर के समसामयिक न थे। किन्तु अपने दादा गुरु जयसिंह सूरि के ईस्वी सन् १३६५ में रचित 'कुमारपाल चरित' का प्रथम आदर्श नयचन्द्र ने ही लिखा था। हम्मीर की मृत्यु सन् १३०१ में हुई। अत: नयचन्द्र और हम्मीर के समय में बहुत अधिक अन्तर नहीं है सन् १३६५ में नयचन्द्र २४ साल के रहे हों तो उन के जन्म और हम्मीर के देहान्त का अन्तर केवल ४० साल का रह जाता है। दीक्षा तो नयचन्द्र ने जयसिंह सूरि के शिष्य प्रसन्नचन्द्र से प्राप्त की थी; किन्तु काव्यशिक्षा-गुरु उन के जयसिंह सूरि ही थे। इस से भी नयचन्द्र का समय लगभग सन् १३४० से सन् १४२० माना जा सकता है। 'हम्मीरमहाकाव्य' की रचना ग्वालियर के तंवर नरेश वीरम के समय हुई जिस के राज्य का अन्तिम ज्ञात सम्वत् १४७९ (सन् १४२२) है। संवत् १४८१ में उस का पौत्र डूंगरेन्द्र सिंहासनासीन हो चुका था। इस से प्रतीत होता है कि वीरम ने दीर्घकाल तक राज्य किया और सन् १४२२ में वह पर्याप्त वृद्ध हो चुका था। उस का राज्य-काल हम सन् १३८२ से १४२२ ई० तक रखें तो हम काव्य का रचना-काल सन् १३९० के आस पास रख सकते हैं। उस समय तक कवि की काव्यशक्ति पूर्णतया प्रस्फुटित हो चुकी होगी। उन की स्मृति में प्राय: वे सब हम्मीर-विषयक बातें भी रही होंगी जिन्हें वे बाल्यकाल से सुन रहे थे। वीरम नरेश के सभासदों की उक्ति काव्य-प्रणयन के लिए निमित्त मात्र थी। अन्यथा भी सम्भवत: नयचन्द्र इस काव्य का प्रणयन करते। 'रम्भामंजरी'

नाटिका की रचना से स्पष्ट है कि कवि को ऐतिहासिक विषयों से कुछ प्रेम था। इसीलिए 'दलपंगुल' कान्यकुब्जाधीश जयचन्द्र को नयचन्द्र ने नाटिका का नायक बनाया। हम्मीर जयचन्द्र से कहीं अधिक उन की प्रशंसा का पात्र था। सत्ववृत्ति हम्मीर ने अलाउद्दीन को अपनी पुत्री न दी। शरणागतों को प्रदान न किया। उस ने राज्यश्री के विलास और जीवन को तृण तुल्य समझा। फिर ऐसे व्यक्ति पर इतिहासानुरागी नयचन्द्र सूरि की कलम कैसे न चलती ? प्रतीत होता है कि वे स्वप्न में भी उसे भूल न पाते थे। इसीलिए तो उन्हें यह आभास हुआ कि स्वयं हम्मीर स्वप्न में आकर उन्हें 'हम्मीर-चरित' के तनन (स्वचरिततनन) के लिए उत्साहित कर रहे हैं (१४–२६)।

काव्य का कथा-सार

प्रथम सर्ग में चाहमान से सिंहराज तक के राजाओं का वर्णन है। ब्रह्मा ने पुष्कर में यज्ञ आरम्भ करते समय दैत्यों से यज्ञ को बचाने के लिए सूर्य का स्मरण किया। उन के यह चाहते ही सूर्य-मण्डल से उतर कर एक योद्धा ने यज्ञ की रक्षा की। वही 'चाहमान' नाम से प्रसिद्ध हुआ। ब्रह्मा की कृपा से उस ने एक महान् साम्राज्य की स्थापना की (१५–२५)। इसी के वंश में दीक्षित वासुदेव हुआ (२७–३१)। उस के बाद क्रम से नरदेव ३२–३६), चन्द्रराज (३७–४०), चक्री जयपाल (४१–५२), जयराज (५३–५७), सामन्तसिंह (५८–६२), गूयक (६३–६६), नन्दन (६७–७१), वप्रराज (७२–८१), हरिराज (८२–८९) और सिंहराज (९०–१०४) गद्दी पर बैठे। इन में जयपाल ने अजयमेरु दुर्ग की स्थापना की (५२)। वप्रराज ने शाकम्भरी देवी को प्रसन्न कर शाकम्भरी में लवण की झील को प्रकट की (८१)। हरिराज ने शकाधिराज को हरा कर मुग्घपुर पर अधिकार किया (८२)। यह भी सम्भव है कि उस ने वराह, कछवाहा और नागवंशी राजाओं को परास्त किया हो (८७)। सिंहराज के सेना-प्रयाण के पटह को सुनते ही कर्णाट, लाट, चोल, गूर्जर, अंगादि देशों के अधिप भयभीत हो उठते (९७)। इस ने होतिम नामक शकराज को हरा कर उस के चार हाथी छीने (१०४)।

दूसरे सर्ग में भीम, विग्रहराज (प्रथम), गुंददेव, वल्लभराज, राम, चामुण्डराज, दुर्लभराज, दुःशलदेव, विश्वल (प्रथम), पृथ्वीराज (प्रथम), आल्हणदेव, आनल्लदेव, जगदेव, विश्वलदेव (द्वितीय), जयपाल, गंगदेव, सोमेश्वर और पृथ्वीराज द्वितीय का क्रमशः वर्णन है। भीम सिंहराज का भतीजा था (१)। विग्रहराज (प्रथम) ने गूर्जराधिप मूलराज को युद्ध में मारा (६)। चामुण्डराज ने

युद्ध में शकाधिराज हेजमदीन का वध किया (२४)। दुर्लभराज ने सहाबदीन को युद्ध में पराजित कर पकड़ा (२८) । दुःशलदेव ने समरांगण में कर्ण को मारा (३१)। विश्वलदेव (प्रथम) ने एकाधिपत्य राज्य किया और म्लेच्छराज सहाबदीन को मार कर मालव देश को म्लेच्छों से स्वतन्त्र किया (३२-३७)। आनल्लदेव ने (अजमेर में) पुष्कर के समान पवित्र एक तालाब खुदवाया (५१)। सोमेश्वर की रानी कर्पूर देवी से पृथ्वीराज (द्वितीय) का जन्म हुआ। पृथ्वीराज को शस्त्र और शास्त्रविद्या में निष्णात देख कर सोमेश्वर ने उसे राज्य दिया (६७-७७)। बाकी के तेरह श्लोकों में पृथ्वीराज के प्रतापयुक्त राज्य का वर्णन है।

तीसरे सर्ग का विषय पृथ्वीराज (द्वितीय) और सहाबदीन का युद्ध है। सहाबदीन से त्रस्त पश्चिम देश के राजाओं ने गोपाचल नगर के स्वामी चन्द्रराज को अग्रणी बनाया और पृथ्वीराज की सभा में जा कर रक्षा के लिये प्रार्थना की। सहाबदीन अनेक क्षत्रिय राजाओं को हरा कर उस समय मूलस्थान (मुल्तान) में अपनी राजधानी स्थापित कर चुका था (१-१३)। पृथ्वीराज ने सहाबदीन को मयूरबन्ध से बांध कर राजाओं के चरणों में डालने की प्रतिज्ञा की (१५)। तुरुष्क सेना हारी, किन्तु सहाबदीन ने क्रुद्ध होकर फिर भी पृथ्वीराज पर हमला किया। पृथ्वीराज ने उसे बांध कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। इस प्रकार उस ने यवनाधिराज को सात बार हराया (१८-४६)। विजय का और कोई उपाय न देख कर शकेश सहाबदीन खर्प्परेश के पास पहुंचा, और खर्परेश ने उसे काम्बोज, लंगाह, भिल्ल आदि की सेना दी (४७-४६)। इस सेना को सहायता से अकस्मात् दिल्ली पहुंच कर सहाबदीन ने उस पर अधिकार कर लिया (५०)। पृथ्वीराज अपनी थोड़ी सी सेना को लेकर उस के सामने आ डटा। शकेश ने पृथ्वीराज के अश्वपाल और बाजे वालों को अपनी ओर मिला लिया। उषाकाल में शकों ने पृथ्वीराज के शिविर पर आक्रमण किया। अश्वपाल ने पृथ्वीराज को नटारम्भ नाम के अश्व पर चढ़ा दिया। बाजे बजते ही घोड़ा नाचने लगा। शत्रुओं ने राजा को घेर लिया। एक बार पृथ्वीराज किंकर्तव्य-विमूढ़ हुआ। फिर घोड़े से कूद कर उस ने युद्ध करना शुरू किया। किन्तु इतने में ही पीछे की तरफ से राजा के गले में धनुष की प्रत्यंचा डाल कर किसी शक ने उसे गिरा दिया। अन्य मुसलमानी सैनिकों ने राजा को बांध लिया (५१-६४)।

इसी बीच में पृथ्वीराज का सेनानी उदयराज गौड़ वहां आ पहुंचा। उस ने एक महीने तक शकपति की नगरी को रुद्ध किया। क्रुद्ध शकेश ने पृथ्वीराज को किले में चुनवा दिया और वहीं उसकी मृत्यु हुई (६५-७२)। उदयराज ने

भी तदनन्तर युद्ध कर स्वर्ग-यात्रा की (७३)। पृथ्वीराज के बाद हरिराज राजा हुआ। काव्य के श्लोक ७४-८२ में हरिराज का वर्णन है।

चतुर्थ सर्ग का आरम्भ हरिराज के राज्य से है। राजा को प्रसन्न करने के लिए गूर्जरेश ने उस के पास अनेक नवयौवना नर्तकियां भेजी थीं। हरिराज का समय उन्हीं के साथ बीतने लगा। राज्य के प्रबन्ध में शिथिलता आ गई। वेतन ठीक न मिलने से सेवक उसे छोड़ कर जाने लगे और प्रजा उस से विरक्त हो गई। इस स्थिति की सूचना मिलते ही शकेश हरिराज की सीमा पर आ पहुंचा। हरिराज ने पृथ्वीराज की मृत्यु के अनन्तर प्रतिज्ञा की थी कि वह कभी शकों के मुख को न देखेगा। अतः रानियों समेत उसने अग्नि में प्रवेश किया (१-१६)।

स्थिति को विचार कर मंत्रियों ने रणथम्भौर में जाकर पृथ्वीराज के पुत्र गोविंद के यहां शरण ली। अजमेर शकेश के हाथ आया। गोविन्द ने चाचा के और्ध्व दैहिक कार्य किये और सब को समुचित वृत्ति दी (२१-३१)। इस के बाद बाल्हण राजा हुआ। उस के दो पुत्र थे प्रह्लाद और वाग्भट। बाल्हण ने प्रह्लाद को राजा और वाग्भट को प्रधान मंत्री बनाया (३२-४१)। एक बार सिंह का शिकार करता राजा बुरी तरह से जख्मी हुआ। अपने को दुश्चिकित्स्य जान कर उस ने अपने पुत्र वीरनारायण को अभिषिक्त किया। पर वीरनारायण लघु-वयस् था, अतः राजा ने उस का अनुशासन वाग्भट को सौंपा (४२-७७)। वीरनारायण एक बार कछवाहे राजा की पुत्री से विवाह करने आमेर गया। वहां शकराज ने उस पर हमला किया और उसका पीछा करता हुआ रणथम्भौर पहुंचा। जब वह बल से रणथम्भौर को न ले सका तो उसने कपट से काम लिया। राजा उस की बातों में आ गया। उसे यह भी सूझी कि शकराज चाहमानों को वक्षःस्थलपुर के राजा विग्रह के विरुद्ध सहायता देगा। इसलिए वाग्भट की मन्त्रणा के विरुद्ध भी वह दिल्ली गया। इस से अपने को अपमानित समझ कर वाग्भट मालवा चला गया। शकेश ने प्रीति का खूब ढोंग किया; और धोखे से वीर-नारायण को जहर दे कर मरवा डाला। रणथम्भौर शकों के हाथ आया (७८-१०६)।

इधर शकराज के कहने पर मालवे के राजा ने वाग्भट को मारने का प्रयत्न किया। किन्तु वही वाग्भट के हाथों मारा गया और मालवे का राज्य वाग्भट के हाथ आया। जब खर्परों (मुगलों) ने जल्लालदीन पर आक्रमण किया तो वाग्भट ने भी अपनी सेना एकत्रित की और रणथम्भौर को जा घेरा। अन्न-पानादि की कमी से पीड़ित होकर शक वहां से भाग निकले। उस के बाद वाग्भट ने बारह वर्ष तक रणथम्भौर में राज्य किया (१०७-१३०)।

वाग्भट का पुत्र जैत्रसिंह भी प्रतापी राजा था। हम्मीर का जन्म उस की रानी हीरा देवी से हुआ। पिता ने हम्मीर का सात राजकुमारियों से विवाह किया। जैत्रसिंह के दो और पुत्र भी थे। सुरत्राण जो हम्मीर से बड़ा और वीरम जो हम्मीर से छोटा था (१३१-१६०)।

पंचम सर्ग में वसन्त का, छठे में जल-क्रीड़ा का और सातवें में सुरतादि का वर्णन है। आठवें सर्ग की कथा का प्रारम्भ प्रभात के वर्णन से है (१-३५)। तत्कालीन कृत्य को समाप्त कर जब हम्मीर राज-सभा में पहुंचा तो जैत्रसिंह ने उसे राज्य सौंपने का प्रस्ताव किया। हम्मीर को पिता का यह अनुरोध मानना पड़ा। संवत् १३३३ की पौष शुक्ला पौर्णिमा रविवार (१६ दिसम्बर १२८२) मेष लग्न में हम्मीर का राज्याभिषेक हुआ। हम्मीर को उचित उपदेश देकर (३६-१०६) जैत्रसिंह ने आत्महित की साधना के लिए श्री आश्रम नाम के पत्तन के लिए प्रस्थान किया जहां जम्बूमार्ग महादेव का मन्दिर था और सरिद्वरा चम्बल नदी बहती थी। किन्तु वह वहां न पहुंच सका। पल्ली नगरी पहुंचते ही उस का लू-ताप से देहान्त हो गया। विप्र बीजादित्य आदि के समझाने से हम्मीर का शोक कुछ कम हुआ (१०७-१३१)।

नवम सर्ग का आरम्भ हम्मीर की दिग्विजय के वर्णन से है। उस की बहुसंख्यक सेना ने भीमरस के राजा अर्जुन को हराया। उस के बाद मांडलकृत् दुर्ग से कर लेकर वह धारा पहुंचा और परमार राजा भोज को हराया। उज्जयिनी में महाकाल की अर्चना की। वहां से लौट कर उस ने चित्तौड़ को दंडित किया और आबू पहुंच कर अपनी सेना का पड़ाव डाला। उस ने विमल-वसही में ऋषभदेव को प्रणाम किया। वस्तुपाल के मन्दिर को देख कर उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उस ने अर्बुदा देवी की अर्चना की और वशिष्ठाश्रम में कुछ समय तक विश्राम कर मन्दाकिनी में स्नान किया। उस ने अचलेश्वर का पूजन किया। आबू के राजा ने उसे खूब धन दिया। वहां से उतर कर उस ने वर्धनपुर को निर्धन और चंगा को रंग रहित बनाया। फिर अजमेर होता हुआ वह पुष्कर पहुंचा। वहां उस ने भगवान वराह का पूजन किया। फिर शाकम्भरी, महाराष्ट्र, खण्डिल्ल, चम्पा आदि को लूटता हुआ वह ककराला पहुंचा जहां त्रिभुवनादि के स्वामी ने उस की अर्चना की। इस प्रकार चारों दिशाओं को विजित कर हम्मीर रणथम्भौर लौटा (१-५१)। पुरोहित विश्वरूप से कोटियज्ञ का फल सुन कर उस ने कोटियज्ञ करने का निश्चय किया। विधिपूर्वक यज्ञ सम्पन्न कर उस ने ब्राह्मणों को प्रभूत हिरण्यमयादि दक्षिणा दी और एक महीने का मुनिव्रत लिया (५२-९०)।

इसी समय दिल्ली में अलाउद्दीन राजा हुआ। उस ने अपने भाई 'उल्लूखान' से कहा, 'पहले रणथम्भौर का स्वामी जैत्रसिंह मुझे कर दिया करता था, हम्मीर तो गर्व-वश मुझ से बात भी नहीं करता। अब वह व्रतस्थ है, इसलिए आसानी से जीता जायेगा। जाओ और रणथम्भौर के आसपास के देश को नष्ट करो।' स्वामी की आज्ञा से उल्लूखां बनास नदी के किनारे पहुंचा, किन्तु घाटी के अन्दर वह न घुस सका; वहीं अठारह दिन तक लूट-पाट करता रहा। हम्मीर व्रत के कारण चुप था। इसलिए मन्त्री धर्मसिंह की सलाह से सेनानी भीमसिंह ने शक (मुसलमानी) सैन्य पर आक्रमण किया। शक सेना भाग खड़ी हुई। भीमसिंह वापस लौटा, किन्तु छिपे-छिपे उल्लूखां उस के पीछे लगा रहा। बहुत से राजपूत जीत के उल्लास में आगे बढ़ गये। इधर पहाड़ी घाटी में घुसते समय भीमसिंह ने मुसलमानी फौज से छीने हुए बाजों को बजा डाला। उस की आवाज सुनते ही चारों ओर से मुसलमानी फौज ने उसे आ घेरा। भीमसिंह मारा गया। मुसलमान सेनापति भी दिल्ली वापस लौटा (९१-१५०)।

व्रत के पूर्ण होने पर हम्मीर ने धर्मसिंह को बुला भेजा। 'पीछे आते मुसलमानी सेनापति को न देखना उस की अन्धता थी, और भीमसिंह को छोड़ देना नपुंसकता'। इस तरह धर्मसिंह पर दो दोष लगा कर हम्मीर ने वास्तव में उसे अन्धा और नपुंसक बना दिया। धर्मसिंह का पद उसने खंगग्राही भोजदेव को दिया जिस का उस से वही सम्बन्ध था जो विदुर का पाण्डु से (१५१-१५५)। पर भोजदेव अर्थ-संग्रह में निपुण न था। इसलिए नर्तकी धारा देवी के कहने पर हम्मीर ने फिर धर्मसिंह को पुराने पद पर नियुक्त किया। अनेक प्रकार के अनुचित कर लगा कर धर्मसिंह ने राज-कोश को परिपूर्ण किया। भोजदेव से उस ने हिसाब मांगा, लाचार भोजदेव को अपना सर्वस्व देना पड़ा। राजा को अपने विरुद्ध जान कर भोजदेव काशी-यात्रा के बहाने अपने भाई पीथसिंह को लेकर रणथम्भोर से निकल गया। हम्मीर ने दण्डनायक का पद रतिपाल को दिया (१५६-१८८)।

दसवें सर्ग का नाम 'अलाउद्दीना मर्षणो' है जो उस के विषय के उपयुक्त है। भोज अपमानित हो कर क्रोध से जल उठा और अपमान का बदला लेने के लिए वह दिल्ली पहुंच कर अलाउद्दीन से मिला। प्रसन्न हो कर सुल्तान ने उसे जगरा का स्वामी बना दिया जो किसी समय मुगलों के अधिकार में थी, और कुछ समय के बाद उस से अलाउद्दीन ने भोजदेव से हम्मीर को जीतने का उपाय पूछा। इस पर उस ने हम्मीर के शौर्य की प्रशंसा करते हुए कहा—'जिस से कुन्तल, मध्यप्रदेश, कांची, अंग, वंग, काश्मीर, गूर्जरादि देशों के राजा घबराते

हैं, जिस की सेवा वीरम, महिमासाहि आदि करते हैं, उसे आसानी से किस प्रकार जीता जा सकता है ?' किन्तु उस के नाश का कारण अन्धा धर्मसिंह अब उदित हो चुका है। इस समय नई फ़सल उगी है। उसे जीतना चाहो तो जल्दी सेना भेजो (१-२८)।

उल्लूखान बड़ी सेना के साथ हिन्दूवार पहुँचा। चरों से हम्मीर ने जब यह बात सुनी तो हम्मीर ने उस उल्लूखान के विरुद्ध अपने वीरम आदि आठ योद्धाओं को भेजा। वीरम ने पूर्व से, पश्चिम से महिमासाहि ने, जाजदेव ने दक्षिण से, उत्तर से गर्भसक ने, आग्नेय से रतिपाल ने, तिचर ने वायव्य से, रणमल्ल ने इशान से और नैर्ऋत से वैचर ने ख़ल्जी सैन्य पर आक्रमण किया। ख़ल्जी सेना बुरी तरह हारी। उल्लूखान किसी तरह जीता भाग निकला, किन्तु उस के शिविर को चौहानों ने पूरी तरह लूटा। रतिपाल ने राजा की ख्याति को बढ़ाने के लिए बन्दीकृत मुसलमानी स्त्रियों से गांव-गांव में मठा बिकवाया और राजा ने उस के शौर्य से प्रसन्न होकर यह कहते हुए कि 'यह मेरा मस्त हाथी है' उस के पैरों में सोने की शृंखलाएं डालीं। दूसरों को भी राजा ने प्रचुर पारितोषिक दिया (२९-६४)।

महिमासाहि ने भोज की जागीर जगरा पर आक्रमण करने की अनुमति मांगी। उन के लिए यह असह्य था कि उन के जीते जी कृतघ्न भोजदेव उन की पुरानी सम्पत्ति का उपभोग करे। आज्ञा मिलते ही उन्होंने जगरा को जा लूटा, और सकुटुम्ब भोज के भाई को बन्दी कर रणथम्भौर आ पहुँचे (६५-६८)।

उधर उल्लूखान दिल्ली पहुँच कर जब अपने दुर्भाग्य की कथा कह रहा था, भोजदेव भी वहां पहुँचा। उस के रुदन ने अलाउद्दीन की कोपाग्नि में घृत की आहुति का काम दिया। सुल्तान ने कहा, 'भोज, शोक छोड़ो। हम्मीर ने सोते सिंह को जगाया है। हम्मीर कहीं भी हो, मैं उसे पकड़े और नष्ट किए बिना न छोड़ूंगा (६९-८८)।'

ग्यारहवें सर्ग में मुसलमानी सेना द्वारा रणथम्भौर के विफल रोध और 'निसुरतखान' की मृत्यु का वर्णन है। भारत के सभी भागों से यवन सेना एकत्रित हुई। अलाउद्दीन के छोटे भाई 'उल्लूखान' और 'निसुरतखान' उस के अध्यक्ष बने। पहाड़ी घाटी के पास पहुँच कर उन्होंने अपने दूत माल्हण को सन्धि के लिए हम्मीर के पास भेजा। इसी बहाने अन्दर घुस कर उल्लूखान ने अपनी सेना को मण्डप दुर्ग में, मुण्डी और प्रतोली में निसुरतखान की फौज को और जैत्रसर के पास दूसरों की फौजें रखीं। यह सोच कर कि पहाड़ियों में घुसी सेना सुसाध्य होगी, राजपूतों ने इस की विशेष परवाह न की (१-२४)।

माल्हण ने रणथम्भोर पहुँच कर हम्मीर से कहा, 'जिस ग्रलाउद्दीन ने देव-गिरि जैसे दुर्ग्राह्य दुर्गों को लीला मात्र से जीत लिया है, उस के छोटे भाई उल्लूखान और निसुरतखान ने उसी की आज्ञा से कहलाया है, 'हे हम्मीर, यदि तेरी राज्य करने की इच्छा है तो लक्ष स्वर्ण, चार हाथी, तीन सौ घोड़े, और अपनी पुत्री देकर हमारी आज्ञा का पालन कर। यह भी शायद छूट सके। मेरी आज्ञा को प्रलुप्त करने वाले चार मुगलों को देकर तुम राज-लक्ष्मी का आनन्द लो।' क्रोध से आविष्ट हो कर हम्मीर ने उत्तर दिया, 'यदि तुम दूत के रूप में ये बातें न कहते तो मैं तुम्हारी ज़बान निकलवा डालता। चाहमान के जीते उस का धन कोई नहीं छू सकता। मैं तुम्हारे स्वामी को एक विंशोपक मुद्रा का शतांश भी न दूंगा। शरणागत मुगलों को मांगने वाले तुम्हारे स्वामी तो मूर्ख-राज हैं।' (२५-६९)

दुर्ग में युद्ध की तैयारी हुई। मुसलमानों ने बाण, अग्निबाण, पत्थर आदि चलाए और राजपूतों ने भी। कई ने दीवारों को खोद कर, कई ने सीढ़ियों द्वारा चढ़ कर गढ़ लेने का प्रयत्न किया। परन्तु ये सब प्रयत्न विफल हुए। एक दिन दो गोले परस्पर भिड़ गए और उन के एक टुकड़े की चोट से निसुरतखान मारा गया। उल्लूखान ने उस का शरीर दिल्ली भिजवा दिया। उस के अन्तकृत्य के बाद स्वयं अलाउद्दीन ने रणथम्भोर के लिए प्रस्थान किया (७०-१०३)।

बारहवें सर्ग का मुख्य विषय हम्मीर और अलाउद्दीन का दो दिन का संग्राम है। अलाउद्दीन रणथम्भोर पहुंचा। वीर क्षत्राणियों ने युद्ध के लिए अपने स्वजनों को विदा दी। पहले दिन घनघोर युद्ध हुआ और इसी तरह दूसरे दिन भी। इस युद्ध में ८५००० यवन योद्धा मारे गए।

तेरहवें सर्ग में अवशिष्ट कथा का और हम्मीर के स्वर्ग-गमन का वर्णन है। एक दिन हम्मीर ने दुर्ग पर ऐसे स्थान पर शृंगार-सभा की जो मुसलमानी शिविर से दिखाई पड़ती थी। वहां ताण्डव करती हुई रम्भा ने ताल-समाप्ति के समय अधःस्थ शकेन्द्र को अपना पश्चाद्-भाग दिखाया। इस से खिन्न सुल्तान ने उड्डानसिंह को रम्भा पर बाण चलाने की आज्ञा दी। बाण से बिद्ध हो कर रम्भा तलहटी में जा गिरी। महिमासिंह की इच्छा थी कि इस का बदला अला-उद्दीन को मार कर ले, किन्तु हम्मीर की आज्ञा से उस ने उड्डानसिंह को ही मारा। इससे चकित हो कर शकेश्वर ने तालाब के अग्रिम भाग को छोड़ कर अपना शिविर पीछे की ओर कर लिया (१-३८)।

अलाउद्दीन ने कई धावे किये, सुरंग लगाई और मिट्टी, पत्थर, लकड़ी के टुकड़ों और पूलियों से खाई को भरा। कई महीने में जब ये दो काम सिद्ध हुए

तो मुसलमानों ने फिर धावे किए। हम्मीर ने अग्नि के गोलों से परिखा में एकत्रित लकड़ी आदि को जला डाला और सुरंग मे लाक्षा युक्त खौलता तेल डाला जिस से मुसलमानी सैनिक जल-भुन गए (३६-४७)।

वर्षाकाल आ गया। सैनिक थक गए। तब दूतों द्वारा अलाउद्दीन ने रतिपाल को बुला भेजा। हम्मीर ने भी उसे जाने की अनुमति दी। सुल्तान ने रतिपाल का अच्छा सत्कार किया; और रणथंभौर का राज्य देने का आश्वासन दे कर उसे अपनी ओर कर लिया। रणथम्भौर पहुंच कर विरोध को और भड़काने की इच्छा से उस ने हम्मीर से कहा—'शकेन्द्र आप की पुत्री मांग रहा है। मैं तो उसे धमका कर चला आया हूं। रणमल्ल कुछ रुष्ट है। आप पांच-छः आदमियों के साथ जाकर उसे मना लें।' वीरम को रतिपाल पर सन्देह हुआ। किन्तु राजा ने लोकापवाद के भय से केवल संशय के आधार पर रतिपाल के हर्ष का पूरा दण्ड देना उचित नहीं समझा। अन्तःपुर में जब यह वार्ता पहुंची कि शकेन्द्र पुत्री को मांगता है तो देवल्ल देवी इस आत्मोत्सर्ग के लिए तैयार हो गई। किन्तु मनस्वी हम्मीर ने कन्या के प्रस्ताव को ठुकरा दिया (४८-१२६)।

उधर रतिपाल ने रणमल्ल से जा कर कहा, 'तुम क्या सुख से बैठे हो? राजा कई आदमियों को लेकर तुम्हें पकड़ने आ रहा है।' राजा को उसी तरह आता देख वह डर के मारे किले से उतर गया और शत्रु से जा मिला। इसी तरह रतिपाल भी अलाउद्दीन के पास जा पहुँचा (१३०-१३५)।

इसी बीच में हम्मीर ने कोशाधिकारी जाहड़ से पूछा, 'हमारे कोश में कितना अन्न है?' जाहड़ ने यह सोच कर कि झूठमूठ अन्नाभाव की सूचना देने से राजा शत्रु से सन्धि कर लेगा, उत्तर दिया कि अन्न सर्वथा समाप्त है (१३६-१३८)।

अब हम्मीर को सब पर सन्देह होने लगा। प्रातःकाल सभा में उस ने महिमासाहि से कहा, 'हम तो अपनी भूमि के लिए प्राणों का भी त्याग करते हैं। यह क्षत्रियों का सनातन धर्म है। किन्तु तुम विदेशी हो। आपत्ति के समय तुम्हारा यहां रहना ठीक नहीं है। जहां जाना उचित समझो, चले जाओ। राजा के वचनों से महिमासाहि ने कहा, 'ऐसा ही होगा', और घर जा कर अपने कुटुम्बियों को तलवार की धार उतार दिया। फिर आकर उसने हम्मीर से कहा, 'तुम्हारी भाभी जाने से पूर्व एक बार तुम से मिलना चाहती है। बिना मिले जाने से उस के हृदय में सदा पश्चाताप रहेगा।' हम्मीर ने महिमासाहि के भवन में जब स्त्रियों और बच्चों के सिरों को खून में तैरते देखा तो वह मूच्छित हो

कर गिर पड़ा। विमूर्च्छित होने पर उस ने महिमासाहि के गले लग कर बहुत विलाप किया (१३९–१६८)। किन्तु अब क्या बन सकता था ?

वहां से लौटने पर हम्मीर ने देखा कि कोष्ठ अन्न से परिपूर्ण हैं। जाहड़ से पूछने पर उसे सब बात मालूम हुई। उस ने नागरिकों को निकल जाने के लिए धर्मद्वार खोल दिया और रानियों को अग्नि-प्रवेश की आज्ञा दी। स्वयं सब विषाद छोड़ कर वह पद्मसर के किनारे जा बैठा (१६८–१७२)।

रंगदेवी आदि रानियों ने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण किए। राजा ने अपनी वेणी काट कर उन्हें दी। राजकुमारी देवल्ल देवी ने भी उन के साथ चिता में प्रवेश किया (१७३–१८६)।

वीर राजा ने रानियों को अन्त्याञ्जलि दी—इस आशय से कि शत्रु के हाथ में कुछ न पड़ सके, उसने नौ हाथियों के मस्तक भी काट डाले। जब वीरम ने राज-पद स्वीकार न किया, तो राजा ने चाहमान जाजा को राज्य दिया और सब द्रव्य पद्मसर में फेंक कर कोष्ठाधिकारी जाहड़ को प्राण-दण्ड दिया। श्रावण शुक्ल पक्ष की षष्ठी, रविवार के दिन, रात्रि के समय, नौ वीर—वीरम, सिंह, टाक गंगाधर, राजद, चारों मुगल भाई, और क्षेत्रसिंह परमार हम्मीर के साथ युद्ध में उतरे। सब से पहले वीरम ने वीर-गति प्राप्त की। महिमासाहि के मूर्च्छित होने पर स्वयं हम्मीर ने युद्ध किया और शत्रु के हाथ में न पड़ने का निश्चय कर अपने हाथ ही गला काट कर प्राण-त्याग किया।

चतुर्दश सर्ग में हम्मीर के गुणों की स्तुति और कथा का उपसंहार है। जाजा धन्य है जिस ने हम्मीर की मृत्यु के बाद भी दो दिन तक दुर्ग का त्राण किया। स्वामी के बार-बार कहने पर भी जाजा ने वहीं जम कर युद्ध किया। महिमासाहि भी धन्य है जिस ने हम्मीर की मृत्यु के बाद भी सुल्तान के यह पूछने पर कि उसे जीवित रहने दिया जाए तो वह क्या करेगा, यही उत्तर दिया कि वही जो सुल्तान ने हम्मीर के लिये किया था। यह भी उचित हुआ कि सुल्तान ने युद्ध में हम्मीर के सिर को पैर से दिखाने वाले रतिपाल की खाल खिचवा डाली।

प्रशस्तिभाग में कवि का परिचय है। कृष्णगच्छ में जयसिंह सूरि हुए जिन्होंने षड्भाषा कवि चक्रवर्ती प्रामाणिकाग्रेसर सारंग को विवाद में हराया। जयसिंह ने न्यायसार की टीका, नवीन व्याकरण और कुमारपाल के चरित का प्रणयन किया। इन के शिष्य प्रसन्नचन्द्र, और प्रसन्नचन्द्र के शिष्य नयचन्द्र सूरि थे जिन्होंने इस काव्य की रचना की। ये जयसिंह के पौत्र होते हुए भी काव्य-कला में उन के पुत्र थे। तोमर राजा वीरम के सभासदों के यह कहने पर कि अब

पूर्व कवियों के समान कोई रचना नहीं कर सकता, नयचन्द्र कवि ने इस काव्य की रचना की।

इतिहास की दृष्टि से विवेचन

काव्य की दृष्टि से यह सफल कृति है। श्री नयचन्द्र के एक शिष्य के शब्दों में इस में 'अमर का-सा लालित्य और हर्ष की-सी वक्रिमा है।' यह व्यर्थ के शब्दाडम्बर से शून्य और अर्थालंकारों से परिपूर्ण है। इस का काव्य-सौष्ठव स्वत: अच्छा विवेच्य विषय है, किन्तु अभी हम इस का केवल इतिहास की दृष्टि से विवेचन कर रहे हैं। नयचन्द्र ने कई शब्दों का ऐसे अर्थों में प्रयोग किया है जिन्हें वर्तमान इतिहासविद् शायद ठीक न समझें। मुसलमानों के लिए उस ने शक, तुरुष्क और यवन शब्दों का प्रयोग किया है। मुगलों को वह घटैकदेशीय या षर्प्पर पद से अभिहित करते हैं। मुसलमानी नाम अशुद्ध रूप में हैं, चाहे उन्हें पहिचानना कठिन न हो। सहाबदीन या शहाबदीन, जल्लालदीन, अल्लावदीन, उल्लूखान, महिमासाहि, गर्भरूक, तिचर, वैचर, निसुरतखान आदि शब्द क्रमश: शिहाबुद्दीन, जलालुद्दीन, अलाउद्दीन, उलुगखान, मुहम्मदशाह, कामरू, यलचक, बर्क और नुसरतखान हैं। दिल्ली और योगिनीपुर दिल्ली के पुराने नाम हैं। हम्मीरमहाकाव्य को पढ़ते समय पाठक शुद्ध नामों को ध्यान में रख सकते हैं। हमने प्रायश: नयचन्द्र सूरि द्वारा प्रयुक्त नामों को ही दिया है।

प्रथम और द्वितीय वर्ग की कथा कुछ अंश में पृथ्वीराज-विजय की कथा से मेल खाती है। पृथ्वीराज-विजय में भी चाहमान के सूर्यमण्डल से अवतरण की कथा है। उस में भी वर्णित चाहमान राजा वासुदेव है। किन्तु उस के बाद का हम्मीरमहाकाव्य का वंशक्रम कुछ अस्तव्यस्त है। हर्षनाथ का शिलालेख (वि० सं० १०३०), बिजोल्या का शिलालेख (सं० १२२६) और पृथ्वीराज-विजय (लगभग सं० १२४८) के आधार पर ठीक वंशावली निम्नलिखित रूप में की जा सकती है—

चाहमान
|
वासुदेव
|
सामन्त, जो अनन्त देश का सामन्त था
|
नरदेव, जिस ने पूर्णतल्ल में राज्य किया
|

जयराज

|

विग्रहराज (प्रथम)

|

चन्द्रराज (प्रथम)

|

गोपेन्द्रराज

|

दुर्लभराज (प्रथम) जिस की सेना गंगासागर तक पहुँची

|

गूवक (प्रथम) यह नागभट्ट द्वितीय का ख्याति-
| प्राप्त सामन्त था। हर्षनाथ का मन्दिर प्रथमतः
| इसी ने बनवाया था।

चन्द्रराज (द्वितीय)

|

गूवक (द्वितीय) जिस ने अपनी बहिन कलावती का
| विवाह कान्यकुब्ज के सम्राट (भोज प्रथम) से
| किया।

(महाराज) वाक्पतिराज (वप्पराज) जिस ने १८८
| युद्धों में विजय प्राप्त की।[1]

(महाराजाधिराज) सिंहराज (जिस का वि० सं०
| १०१३ का थांवले का लेख प्राप्त है) इस ने
| तंवर राजा सलवण का वध किया। हर्षनाथ का
| जीर्णोद्धार इसके समय हुआ।
|

परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर विग्रहराज
| (द्वितीय) जिस ने गूर्जरराज मूलराज को हराया।[2]

दुर्लभराज (द्वितीय) जो दुर्लंघ्यमेरु के नाम से प्रसिद्ध
| था और जिस ने नाडोल के राजा महेन्द्र को
| अभिभूत किया।

---

[1] इस के बाद बिजोल्या के शिलालेख में विन्ध्य नृपति का नाम है।

[2] हर्षनाथ का वि० सं० १०३० का शिलालेख इसी के समय का है।

गोविन्दराज – इस की पदवी बैरिघरट्ट थी।

(१) वाक्पतिराज (द्वितीय) जिस ने आघाट के स्वामी अम्बाप्रसाद को युद्ध में मारा।

(२) वीर्यराम जो परमार राजा भोज के हाथों मारा गया।

(३) चामुण्डराय

दुर्लभराज (तृतीय)[1] जो मातंगों से युद्ध करता काम आया (यह मातंगाधिराज सम्भवतः गज़नी का शासक इब्राहीम था)

विग्रहराज (तृतीय) जिस की सहायता से उदयादित्य परमार ने कर्ण चौलुक्य को पराजित किया (बीसलदेव रासा का बीसल शायद यही हो।)

परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर पृथ्वीराज (प्रथम) जिस के राज्य का वि० सं० ११६२ का एक अभिलेख प्राप्त है। इस ने गज़नी के अमीर की सेना को हराया।

अजयराज–जिस ने मालवराज नरवर्मा को हराया, गज़नी के मातंगों को पराजित किया, अजयमेरु (अजमेर) नगर बसाया और अपनी तथा अपनी रानी सोमल्लदेवी के नाम से मुद्राएं चलाईं।

अर्णोराज – जिस ने मुसलमानों को अजमेर के निकट परास्त कर उस युद्ध के मैदान में आनासागर झील खुदवाई। मालवे के राजा नरवर्मा को हराया। सिन्धु और सरस्वती तक धावा किया और हरियाने के तंवरों को हराया। द्वयाश्रय काव्य से हमें ज्ञात है कि वह गुजरात के राजा कुमारपाल से हारा।

---

[1] बिजोल्या के शिलालेख में चामुण्डराय और दुर्लभराज के बीच में सिंहट का नाम है जो शायद दुर्लभराज का बड़ा भाई हो।

अर्णोराज

- (१) जगदेव- यह पिता को मार कर गद्दी पर बैठा।
- (२) विग्रहराज (चतुर्थ), बीसलदेव, जिस ने कुमारपाल के राज्य के अनेक भागों को लूटा, चित्तौड़ पर अधिकार जमाया, भादाणकों को पराजित किया, दिल्ली के तंवरों को अधीन कर हांसी पर अधिकार किया और मुसलमानी आक्रमणकारी (गजनी के अमीर खुसरो शाह) को हराया। उस ने अनेक दुर्ग बनवाए। वह साहित्य का परम अनुरागी, स्वयं संस्कृत का अच्छा कवि, कवि-पण्डित-बन्धु और कला-प्रिय नरेश था। उस की प्रकृष्ट अभिलाषा थी कि आर्यावर्त वास्तव में आर्यावर्त रहे।
- (३) अमरगांगेय
- (४) पृथ्वीराज द्वितीय यह अमरगांगेय को हरा कर गद्दी पर बैठा।
- (५) सोमेश्वर कर्पूरदेवी जो कलचुरि अचलराज की पुत्री थी।
  - पृथ्वीराज (तृतीय)[1]
  - हरिराज

---

[1] 'हम्मीरमहाकाव्य' का पृथ्वीराज द्वितीय।

इस वंशावली के आधार पर 'हम्मीरमहाकाव्य' की अशुद्धियां और कमियां किसी अंश में पूरी की जा सकती हैं। चक्री जयपाल को अजयमेरु का संस्थापक मानने में नयचन्द्र ने भूल की है। वास्तव में इस नगर के निर्माण का श्रेय अर्णोराज के पिता अजयराज को है जिस का देहान्त वि० सं० ११६० से कुछ पूर्व हुआ। जयराज चक्री नाम के राजा का बिजोल्या अभिलेख और पृथ्वीराज-विजयादि के वर्णन में अभाव है। सांभर से नमक निकालने का भी श्रेय पृथ्वीराज-विजय के आधार पर वासुदेव को मिलना चाहिए, वप्रराज या बप्पराज को नहीं। वप्रराज के पुत्र हरिराज को हम कल्पित न मानें तो यह बिजोल्या के विन्ध्यनृपति का दूसरा नाम हो सकता है। किन्तु उस का शकाधिराज को हरा कर मुग्धपुर पर अधिकार करना निरी कल्पना है। सिंहराज प्रतापी राजा था। किन्तु नयचन्द्र का यह कथन कि उस के प्रयाण-ढक्का के वादन से कर्णाट अंगादि देशों के राजा कांप उठते थे, अतिशयोक्ति मात्र है। हेतिम नाम के शकाधिराज की सत्ता भी जन-मानस की निरी कल्पना ही प्रतीत होती है।

शाकम्भरी में चार विग्रहराज या बीसल हुए हैं। नयचन्द्र ने उन की घटनाएं उल्टी-सीधी कर दी हैं। वास्तव में विग्रहराज द्वितीय ने मूलराज द्वितीय को हराया; मारा किसी ने भी नहीं। विग्रहराज तृतीय या विश्वल का सम्बन्ध शायद मालवे से रहा हो। म्लेच्छों को पराजित करने वाला विग्रहराज चतुर्थ था। चामुण्डराज का विरोधी हजिमदीन इतिहास को अज्ञात है। चामुण्डराज का पुत्र दुर्लभराज तृतीय मुसलमानों के हाथों मारा गया; उस ने स्वयं किसी शिहाबुद्दीन नाम के मुसलमानी शासक को नहीं पकड़ा। इन दो सर्गों के पढ़ने से स्पष्ट है कि पृथ्वीराज से पूर्व के चाहमान राजाओं का नयचन्द्र को कुछ विशेष ज्ञान न था। उन के विषय में जैसा सुना, वैसा उस ने लिख दिया है। इस से उस के वर्णन में सत्य और असत्य, दोनों को ही स्थान मिला है।

तीसरे सर्ग में हम्मीर महाकाव्य ने पृथ्वीराज के बारे में कुछ बातें ऐसी दी हैं जो अन्यत्र नहीं मिलतीं, कुछ ऐसी भी हैं जो नयचन्द्र से छूट गई हैं। पृथ्वीराज के भादानकों, चौलुक्यों, और गुडपुर के नागार्जुन से युद्धों का वर्णन इस में नही है। किन्तु मुल्तान के आसपास के राजाओं का पृथ्वीराज से सहायता मांगना असत्य प्रतीत नहीं होता। शकेश के खर्प्परेश के पास सहायता के लिए पहुंचने का मतलब शायद यही हो कि सन् ११९१ में पृथ्वीराज से पराजित हो कर शिहाबुद्दीन ने अपने बड़े भाई गोर नरेश अलाउद्दीन से युद्ध सामग्री को प्रार्थना की हो। मुसलमानी इतिहासों से यह समर्थित है कि पृथ्वीराज के गले में धनुष की प्रत्यंचा डाल कर ही एक मुसलमान सैनिक ने उसे पकड़ा था।

गौड़ सामन्त उदयराज भी ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होता है।

चतुर्थ सर्ग में वर्णित घटनाएं प्रायः ठीक हैं। हरिराज का अन्त वास्तव में दयनीय था। उस के बाद चौहान-राज्य रणथम्भोर में चलता रहा। गोविन्द को पृथ्वीराज का पौत्र और हरिराज का पुत्र लिख कर कवि ने कुछ अड़चन पैदा कर दी। गोविन्द सम्भवतः पृथ्वीराज का पुत्र रहा हो। राज्यारूढ़ होने के समय उस की अवस्था भी कुछ अधिक नहीं रही होगी।

गोविन्द से हम्मीर तक 'हम्मीर-महाकाव्य' रणथम्भोर के इतिहास का मुख्य आधार है। इस के लिए नयचन्द्र सूरि के पास पुष्कल सामग्री रही होगी। हम ने काव्य में वर्णित अनेक घटनाओं को मुसलमानी इतिहासकारों के कथन से तुलना करने पर सर्वथा सत्य पाया है।[1] नयचन्द्र ने वाग्भट के प्रतापयुक्त राज्य का वर्णन किया है। मुसलमानी तवारीखों से हमें ज्ञात है कि वह वास्तव में अपने समय का सब से प्रतापी उत्तर भारतीय राजा था।

आठवें सर्ग में वाग्भट के पौत्र हम्मीर के राज्याभिषेक का सम्वत् नयचन्द्र ने सं० १३३९ दिया है जो प्रबन्धकोश के अन्त में दो हुई राज-सूचियों की तिथि सं० १३४२ से भिन्न है। दोनों की संगति तब ही हो सकती है जब हम यह मानें कि हम्मीर को अभिषिक्त करने के बाद जयसिंह तीन वर्ष तक जीवित रहा हो। जम्बूमार्ग महादेव जिस के लिए जैत्रसिंह ने प्रस्थान किया था सम्भवतः पार्वती और चम्बल नदियों के संगम पर स्थित थे। ब्रह्मविद् बीजादित्य का नाम जिस ने जैत्रसिंह की मृत्यु पर हम्मीर को धैर्य बंधाया, हमें बलबन के शिलालेख से भी ज्ञात है।

नवें सर्ग की दिग्विजय को कथा अधिकांश में ठीक है। किन्तु यह सम्भव है कि कवि ने एक से अधिक विजययात्राओं को मिला कर दिग्विजय का स्वरूप दिया हो। अमीर खुसरो ने हम्मीर के एक सेनानी का जिक्र किया है जिस ने मालवा और गुजरात तक धावे किए थे।[2] सम्भवतः वही हम्मीर-महाकाव्य का सेनानी भीमसिंह है जो बनास के निकट वाली घाटी की लड़ाई में काम आया। हम्मीर के वि० सं० १३४५ के शिलालेख में भी विशेष रूप से अर्जुन को पराजित कर मालव देश की लक्ष्मी के ग्रहण का वर्णन है। अन्य विजित स्थानों में से कुछ की पहिचान कठिन है। किन्तु भीमरस शायद मालवे में रहा होगा।

---

[1] देखें, Early Chauhan Dynasties, pp. 100–119

[2] देखें, हम्मीरायण में हमारी भूमिका, पृष्ठ–१११।

उस के राजा अर्जुन से हम्मीर ने चार हाथी छीने थे। मण्डलकृत की पहचान माण्डलगढ़ से हो सकती है और माण्डू से भी। माण्डू शायद ठीक हो। यहीं से बढ़ कर हम्मीर ने धाराधीश भोज पर आक्रमण किया था। नयचन्द्र के वर्णन के अनुसार हम्मीर ने उज्जयिनी में महाकाल का पूजन कर मुड़ते समय चित्तौड़ और आबू से कर वसूल किया। चित्तौड़ का समसामयिक राजा समरसिंह और आबू का प्रतापसिंह परमार था। वर्धनपुर बदनौर है और चंगा इसी नाम का मेरों का दुर्ग है। महाराष्ट्र, मरोठ; चम्पा, चाटसू और खंडिल्ल खंडेला हैं। कर्कराला तहनगढ़ के यादवों का दुर्ग था।

हम्मीर-महाकाव्य में एक ही कोटि-यज्ञ का वर्णन किया है। हम्मीर के वि० सं० १३४५ के शिलालेख में दो कोटि-यज्ञों का उल्लेख है। यज्ञ के साथ ही कवि ने अलाउद्दीन का प्रसंग भी रख दिया है। किन्तु वास्तव मे उस समय दिल्ली के सिंहासन पर पहले कैकुबाद और बाद में जलालुद्दीन खल्जी बैठा और इसी जलालुद्दीन के समय से ही रणथम्भौर पर खल्जी-आक्रमण शुरू हुए। जिस खल्जी आक्रमण में भीमसिंह मारा गया वह वास्तव में जलालुद्दीन खल्जी का आक्रमण था और जैसा हम ऊपर कह चुके हैं यही 'सेनानी भीमसिंह' अमीर खुसरो के 'मिफ्ता' उलफ्तूह का 'साहणी' था, जो हिन्दू नही अपितु लोहे का पहाड़ था।[१]

मुहम्मद शाह और उस के भाइयों को रणथम्भौर में शरण लेने की कथा नयचन्द्र ने नहीं दी है। कारण शायद यह हो कि उस के समय बच्चा-बच्चा इस बात से परिचित था। बात यह थी कि गुजरात और सौराष्ट्र की विजय के बाद जब उलुगखां दिल्ली वापस जा रहा था तो जालोर-राज्य के सिराणा गांव के निकट उस ने सैनिकों को लूट का सब माल वापस करने के लिए विवश किया। इस से क्रुद्ध होकर कमीजी (हम्मीर महाकाव्य के काम्बोज कुलीन) मुहम्मदशाह, कामरू, यलचक और बर्क रात को उलुगखां के तम्बू में जा घुसे। किन्तु भाग्य-वशात् उलुगखां बच गया! अनेक स्थानों पर शरण लेने का प्रयत्न करने के बाद उन्होंने हम्मीर के दरबार में शरण प्राप्त की।[२] इन्हें अपने दरबार में रखना हम्मीर और अलाउद्दीन के संघर्ष का तात्कालिक कारण बना। वैसे भी इन

[१] विशेष विवेचन के लिए देखें हम्मीरायण की भूमिका, पृष्ठ ११६।

[२] हम्मीरायण की भूमिका में फुतूहुस्सलातीन और तारीख फिरोजशाही आदि के अवतरण। सादूळ राजस्थानी इंस्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित हम्मीरायण में हम्मीर सम्बन्धी साहित्य संगृहीत है।

उच्चाभिलाषी और स्वाभिमानी शासकों का संघर्ष अवश्यंभावी था। बिना हम्मीर को पराजित किए कौन ऐसा शासक था जो आर्यावर्त का सम्राट होने का दावा कर सके ?

हम्मीर की पराजय के अनेक कारण थे। नयचन्द्र सूरि ने उस की राजनीतिक भूलों का तो उल्लेख किया ही है, साथ ही जनता को रुष्ट करने वाली उस की आर्थिक नीति का भी उस ने अच्छा वर्णन किया है। धर्मसिंह ने राजा को उल्टे रास्ते डाल कर अपने अपमान का भयंकर बदला लिया। नयचन्द्र के कथनानुसार जैत्रसिंह ने राज्यत्याग करते समय हम्मीर से कहा था, प्रजा से इस तरह कर लेने चाहिए जिस से उन्हें पीड़ा न हो। क्या पुष्प चुनने वाली पुष्पों को इस तरह नहीं चुनती कि उन्हें बाधा न हो ? सर्वस्वनाश होने पर भी मनुष्य कुल में विरोध उत्पन्न न करें। कुल के विरोध ने क्या दुर्योधन को नष्ट न कर दिया ? राजा माता के समान प्रजा का हितकर है। नियोगी वर्ग सपत्नी के तुल्य है। मां उस के हाथ यदि सन्तान को सौंप दे तो उस की कहां से वृद्धि और कहां से जीवन हो सकता है ? जिसका पहले अपकार किया हो उसे कभी प्रधान पद न दो, ऐसा व्यक्ति युगान्तर में भी विरोध-भाव को नही छोड़ता।[1]

यह उपदेश जैत्रसिंह ने दिया हो, या न दिया हो, घटनाएं तो वास्तव में इसी रूप में घटित हुई। हम्मीर ने अपकृत धर्मसिंह को फिर प्रधान पद दिया। अपने ही कुल के खड्गधर भोज से उस ने विरोध किया। नियोगी वर्ग ने उस के समय में काफी मनमानी की। प्रजा करों के बोझ से पीड़ित हुई। हम्मीर विषयक अन्य ग्रन्थों को देखने से भी इसी धारणा की परिपुष्टि होती है कि हम्मीर के अन्तिम समय प्रजा बहुत-कुछ उस से विरक्त हो चुकी थी।

दसवें सर्ग में वर्णित खल्जी सेना की हार और मुगल भाइयों द्वारा जगरा की लूट का वर्णन मुसलमानी तवारीखों में नहीं मिलता। किन्तु इसे असत्य या कल्पित मानने के लिए कोई सबल कारण नहीं दिया जा सकता।

ग्यारहवें सर्ग की कथा प्रायशः हिन्दू और अहिन्दू लेखकों द्वारा समर्थित है। इसामी ने लिखा है कि हम्मीर ने उलुग़खां और नुसरतखां के दूत से कहा था जो मेरी शरण में आ चुका है मैं उसे किसी प्रकार हानि नहीं पहुंचा सकता, चाहे प्रत्येक दिशा से इस किले पर अधिकार जमाने के लिए तुर्क एकत्रित क्यों

[1] ८–८७–१०२।

न हो जायं ? हम्मीर-महाकाव्य का सा विशद गढ़रोध का वर्णन अन्यत्र प्राप्य नहीं है। किन्तु इस का एक-एक शब्द मुसलमानी तवारीखों और हिन्दू-काव्यों के वर्णन से समर्थित है। गढ़ के रोध में संलग्न अपने अनुज नुसरतखा की मृत्यु के बाद मुसलमानी सैन्य का होंसला बढ़ाने के लिए यह आवश्यक हुआ कि स्वयं अलाउद्दीन यह कार्य अपने हाथ में ले।

बारहवें सर्ग में विवेच्य वस्तु कुछ नहीं है। युद्ध में मारे हुए यवन योद्धाओं की संख्या को ८५००० बताना अत्युक्ति है।

तेरहवें सर्ग में नर्तकी धारा के मरण की कथा है। यह हम्मीरायण आदि काव्यों में भी प्राप्य है। इस कथा की वास्तविकता के बारे में कोई निश्चित मत देना कठिन है। प्रायः ऐसी ही कथा कान्हड़दे प्रबन्ध में भी है।

जिस वीरता से किले वालों ने मुसलमानी हमलों का उत्तर दिया उस का वर्णन हम्मीर महाकाव्य के अतिरिक्त अनेक अन्य काव्य और मुसलमानी तवारीखों मे भी प्राप्त है। फुतूहुस्सलातीन से भी हमें ज्ञात है कि मुसलमानी सैनिकों ने चमड़े और कपड़े के थैले बना कर खाई को पाटने का प्रयत्न किया था। तारीखे-फरिश्ता में भी ऐसा ही वर्णन है। और राजस्थानी कवि भाण्डउ ने तो परिखा को भरने का बड़ा मनोरंजक दृश्य उपस्थित किया है, जिसे स्थानाभाव के कारण यहां नहीं दिया जा रहा है।[1] अमीरखुसरो के कथनानुसार मुसलमानी सेना रजब से जीकाद (मार्च से जुलाई) तक किले को घेरे रही। 'किले से बाणों की वर्षा होने के कारण पक्षी भी न उड़ सकते थे। इस कारण शाही बाज भी वहां तक न पहुंच सकते थे।'

अन्ततः अलाउद्दीन सफल हुआ। इस के दो कारण थे, दुर्ग में अन्न की कमी और रतिपालादि का विश्वासघात। नयचन्द्र सूरि ने केवल दूसरे कारण पर बल दिया है। किन्तु हिन्दू और अहिन्दू सभी लेखकों के प्राप्य अवतरणों की तुलना करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि—

१. घेरे से दुर्ग की स्थिति विषम हो चली थी, तो भी हम्मीर ने लगातार युद्ध किया और मुसलमानों को गरगचों तथा पाशेबों के प्रयोग से गढ़ न लेने दिया।

२. दुर्ग में दुर्भिक्ष की स्थिति वास्तव में उत्पन्न हो गई थी। किन्तु बर्नी आदि के कथनानुसार मुस्लिम सेना घेरे से तंग आ चुकी थी। अला-

---

[1] देखें हम्मीरायण की भूमिका, पृष्ठ १२६।

उद्दीन को आन्तरिक स्थिति का पता न चलता तो दुर्गस्थ लोगों को आशा थी कि सुल्तान घेरा उठा लेगा ।

३. इस स्थिति में सुल्तान ने कूटनीति का प्रयोग किया । उस ने रतिपाल, रणमल्ल आदि को फोड़ लिया । उन्हीं से दुर्ग की आन्तरिक स्थिति का उसे ज्ञान हुआ ।

४. दुर्ग का पतन १० जुलाई, सन् १३०१ के दिन हुआ ।

चतुर्दश सर्ग मे वर्णित घटनाएं भी तथ्यमयी हैं । इस अन्तिम युद्ध में केवल नौ व्यक्ति हम्मीर के साथ थे । तारीखे फरिश्ता और तबकाते-अकबरी में मुहम्मद शाह के वीरोचित उत्तर का उल्लेख है । अलाउद्दीन ने क्रुद्ध होकर उसे हाथी से कुचलवा दिया, परन्तु अच्छी तरह दफनाया । स्वामीभक्ति की वह कद्र करता था । रणमल्ल, रतिपाल और उन के साथियों को सुल्तान ने मरवा दिया । फिरिश्ता के शब्दों में अलाउद्दीन का विचार था कि 'जो लोग अपने चिरंतन स्वामी को धोखा देते हैं, वे किसी दूसरे के नहीं हो सकते ।' जाजा का चित्र भी जिन ओजस्वी शब्दों में नयचन्द्र सूरि ने प्रस्तुत किया है वह उन के योग्य था । हम्मीर की तरह जाजा भी जनमानस में अमर है ।[1]

ऊपर के विवेचन से सिद्ध है कि भारतीय ऐतिहासिकों में हम नयचन्द्र सूरि को अच्छा स्थान दे सकते हैं । पहले दो सर्गों में वर्णित घटनाओं में अवश्य अनेक ऐतिहासिक त्रुटियां है । इस का कारण यह है कि कवि कई सदियों के बाद हुआ और उसे ऐसे साधन उपलब्ध न थे जिन से ऐतिह्य से प्राप्त (देखें १, १३) सामग्री का वह परीक्षण कर सके । किन्तु रणथम्भौर के लिए तो उस ने सम्वत्सर, मास, पक्ष, तिथि, वार और नक्षत्रादि भी दिए हैं । घटनाओं में कारण और कार्य के सम्बन्ध को प्रदर्शित कर तो कवि ने ऐतिहासिकों के हृदय में और भी अधिक सम्मान का स्थान प्राप्त किया हैं । रणथम्भौर के दुर्ग का भंग उस के लिये मानवी घटना है । उस ने उसे मानवी घटना के रूप में ही प्रदर्शित किया है । देवी-देवताओं और अमानुषी घटनाओं के लिए उस के वर्णन में स्थान नहीं है ।

इस काव्य की रचना के लिए कवि ने दो कारण दिए हैं–

---

[1] हम्मीर महाकाव्य आदि सब इतिहास के साधनों की सहायता से लिखित हम्मीर की जीवनी के लिए पाठकवर्ग 'अर्ली चौहान डिनेस्टीज़' (प्राचीन चौहान राजवंश) या हम्मीरायण की भूमिका के पृष्ठ १०७-१३४ देखें । स्थानाभाव के कारण यह पूरी जीवनी यहां नहीं दी जा सकती ।

१. कवि जनोचित यह अभिलाषा कि सर्वत्र यह प्रसिद्ध हो कि उस समय भी कोई ऐसा कवि है जिस का काव्य प्राचीन महाकाव्यों से टक्कर ले सके

२. राजन्य-पुपूषा

इन दोनों लक्ष्यों में कवि को असामान्य सफलता मिली है। कवि ने तत्कालीन समाज और उस के आदर्शों का भी ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत किया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। नयचन्द्र सूरि के कवित्व के लिए हम्मीर उपयुक्ततम नायक था तो हम्मीर के लिए नयचन्द्र भी ऐसा ही उपयुक्ततम कवि था, जिस ने अपनी कृति द्वारा हम्मीर को अमर कर दिया है। वह तो यह मानने के लिए ही तैयार नहीं है कि सामान्य जनों की तरह हम्मीर अपनी इहलीला का संवरण कर चुका है-

> लोको मूढतया प्रजल्पतुतमां यच्चाहमानः प्रभुः
> श्री-हम्मीर-नरेश्वरः स्वरगाद् विश्वैकसाधारणः।
> तत्त्वज्ञत्वमुपेत्य किञ्चन वयं ब्रूमस्तमां स क्षितौ
> जीवन्नेव विलोक्यते प्रतिपदं तैस्तैर्निजैर्विक्रमैः॥ (सर्ग १४, श्लोक १५)

—दशरथ शर्मा

'नवीन वसन्त'
ई ४।१, कृष्णनगर,
दिल्ली-३१
दिनांक : ७-१०-६३

हम्मीर महाकाव्य में ऐतिह्य सामग्री

[लेखक:— प्रोफेसर, दशरथ शर्मा, एम. ए., डी. लिट्]

दिल्ली विश्वविद्यालय

संस्कृत के इतिहास-साहित्य में हम्मीर-महाकाव्य का स्थान बहुत ऊंचा है। प्रारंभिक भाग में कुछ अशुद्धियां अवश्य हैं, किन्तु ऐसा होना स्वाभाविक ही है। विश्वसनीय ऐतिह्य सामग्री के अभाव में यह असम्भव है कि कोई कवि या इतिहासकार अपने से अधिक पूर्ववर्ती इतिहास का सर्वथा समीचीन रूप से निर्माण कर सके।

हम्मीर-महाकाव्य में पृथ्वीराज तृतीय के पूर्वजों की वंशावली इस प्रकार दी है —

सूर्य मण्डल से उत्पन्न... ...	चाहमान
	|
	दीक्षित वासुदेव
	|
	नरदेव
	|
	चंद्रराज
	|
	चक्री जयपाल
	|
	जयराज
	|
	सामन्तसिंह
	|
	गूयक
	|
	नन्दन
सांभर में शाकम्भरी देवी को प्रकट करने वाला...	वप्रराज
	|
शाकराज को मार कर पुष्पपुर जीतने वाला...	हरिराज
अपने प्रयाण से कर्णाट, लाट, चोल, गुर्जरादि नृपों को त्रस्त करने वाला और शकपति हेतिम	|

को मार कर चार मस्त हाथी ग्रहण करने वाला...	सिंहराज	सिंहराज का भाई[1]
		भीम
मूलराज को हरा कर गुर्जरदेश को लूटने वाला...	विग्रहराज	
	श्री गुंद देव	
	वल्लभराज	
	राम	
युद्ध में शकाधिराज हेजमदीन को मारने वाला...	चामुण्डराज	
सहाबदीन को हरा कर पकड़ने वाला...	दुर्लभराज	
कर्ण को युद्ध में मारने वाला...	दुःशल	
सहाबदीन को युद्ध में मारने वाला...	विश्वल	
	पृथ्वीराज	
	आल्हण	
पुष्कर को खुदाने वाला... ...	आनल्लदेव	
	जगदेव	
	विश्वल	
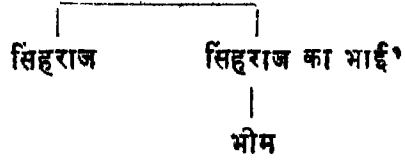
[1] इसने राज्य नहीं किया।
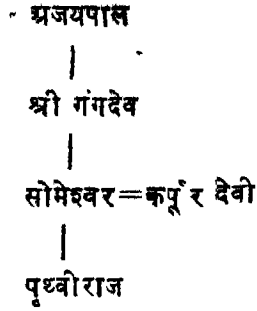
बिझोली के शिलालेख (सं. १२२६) और पृथ्वीराज-विजय से तुलना करने से प्रतीत होता है कि वास्तविक वंशावली और घटनाएं इससे कुछ भिन्न थीं –

(१) चन्द्रराज नरदेव का पुत्र नहीं, पौत्र था।

(२) जयराज चन्द्रराज का पौत्र नहीं, पितामह था।

(३) चन्द्रराज के पुत्र का नाम दुर्लभराज था, न कि जयपाल चक्री।

(४) सामन्तसिंह नरदेव का पिता था।

(५) गूवक प्रथम दुर्लराज का पुत्र था, न कि सामन्तसिंह का। गूवक के पौत्र का नाम भी गूवक था।

(६) नन्दन वास्तव में गूवक द्वितीय का पुत्र चन्दन है। सम्भव है कि हम्मीर-महाकाव्य का शुद्ध पाठ चन्दन ही हो।

(७) वप्पराज वप्पयराज का दूसरा रूप है; किन्तु, शाकम्भरी देवी को प्रकट करने वाला वासुदेव था, न कि वप्पराज।

(८) हरिराज नाम का कोई राजा वप्पयराज के ठीक बाद सांभर की गद्दी पर नहीं बैठा, किन्तु यह सम्भव है कि विंध्य-नृपति हरिराज का ही नाम हो।

(९) सिंहराज वप्पयराज का पुत्र था, न कि पौत्र। शिलालेखों के आधार पर नहीं कहा जा सकता कि उसने हेतिम नाम के किस शकाधिराज का वध किया था।

(१०) सिंहराज का उत्तराधिकारी उसका पुत्र विग्रहराज था, न कि उसका भ्रातृव्य भीम।

(११) विग्रहराज (द्वितीय) ने गुर्जराधिराज मूलराज को केवल परास्त किया, उसे मारा नहीं।

(१२) गुन्ददेव या गोविन्दराज विग्रहराज (द्वितीय) के भाई दुर्लभराज (द्वितीय) का पुत्र था।

(१३) वल्लभ के स्थान में वाक्पति (द्वितीय) होना चाहिये।

(१४) चामुण्डराज वीर्यराम का भाई था, न कि पुत्र। उसने शायद ही किसी शकाधिराज से युद्ध किया हो।

(१५) दुर्लभराज ने किसी सहावदीन (शहाबुद्दीन) नाम के शासक को नहीं पकड़ा; प्रत्युत वह स्वयं म्लेच्छों से युद्ध करता हुआ मारा गया।

(१६) दुःशल ने कर्ण को न युद्ध में मारा और न परास्त ही किया; गुर्जराधिराज कर्ण को हराने वाला वास्तव में विग्रहराज तृतीय था।

(१७) आनल्लदेव, आनाक या अर्णोराज ने आनासागर खुदवाया था, पुष्कर नहीं।

(१८) अजयराज वीसल का पुत्र नहीं, पितामह था।

हम्मीर के समय के आस-पास रचित प्रबन्धकोश की कई प्रतियों में प्राप्त चाहमान वंशावली हम्मीर-महाकाव्य की वंशावली से अधिकांश में मिलती है। इससे स्पष्ट है कि नयचन्द्र के समय से कुछ पूर्व भी शुद्ध वंशावली प्राप्य नहीं थी। शाकम्भरी के चाहमानों का वास्तविक वंशवृक्ष बिझोली-शिलालेख एवं पृथ्वीराज-विजय के आधार पर निम्नलिखित रूप में दिया जा सकता है—
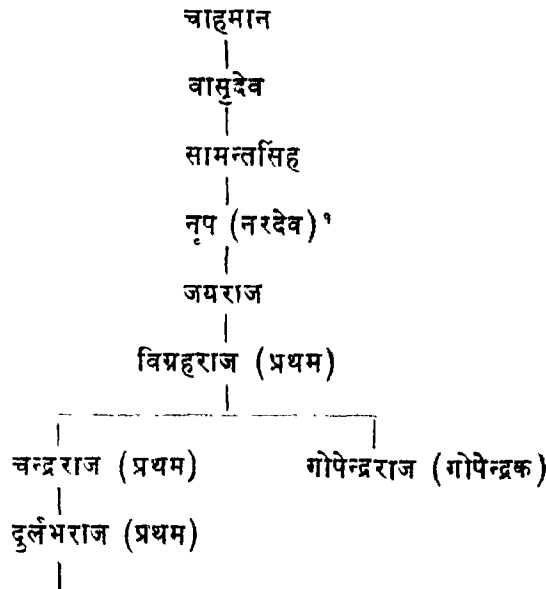
[1] पृथ्वीराज-विजय में यह नाम नहीं है। कई विद्वान् नरदेव के स्थान पर पूर्णतल्ल लिखते हैं, किन्तु ऐसा करना अशुद्ध है।

---

[1] विंध्य-नृपति नाम केवल बिझोली शिलालेख में है। उसका सिंहराज से ठीक संबंध अनिश्चित है।

[2] हर्ष-शिलालेख में उसके भाई वत्सराज का नाम मिलता है। लक्ष्मण नाम का दूसरा भाई नड्डूल शाखा का पूर्व-पुरुष था।

[3] उसके चन्द्रराज और गोविन्दराज नाम के दो भाई और थे (देखो, हर्ष-शिलालेख)
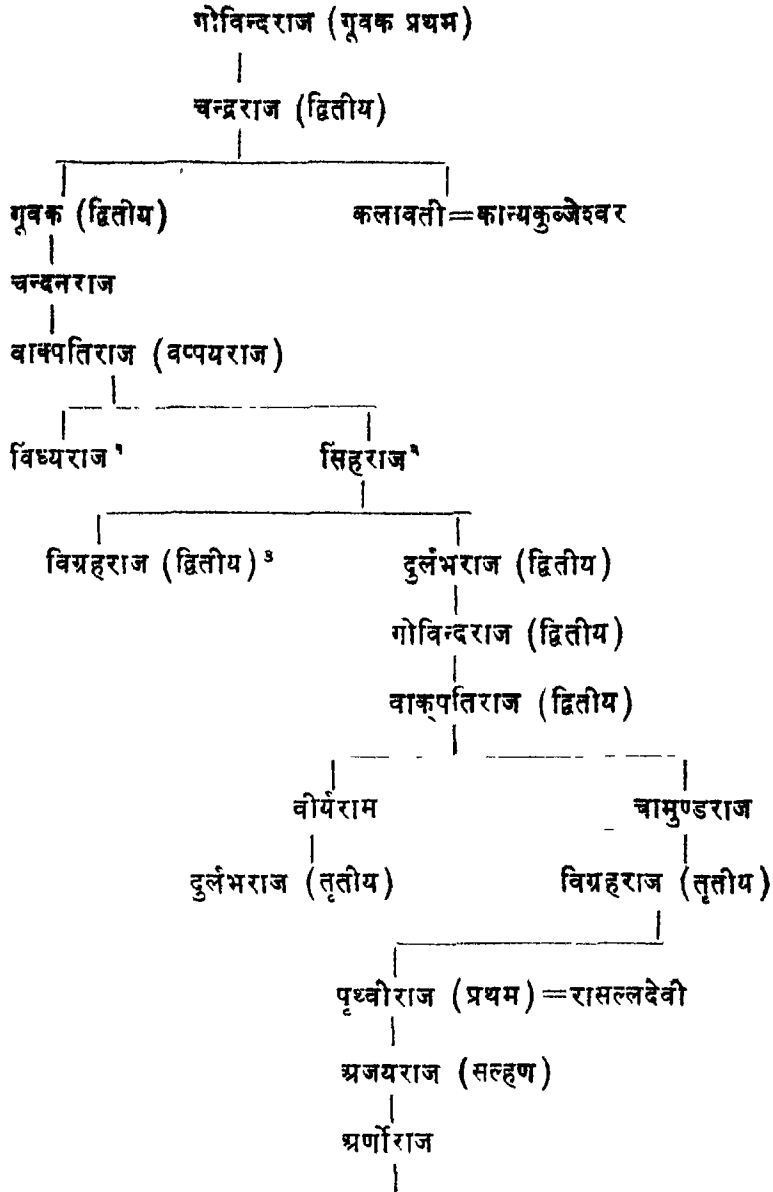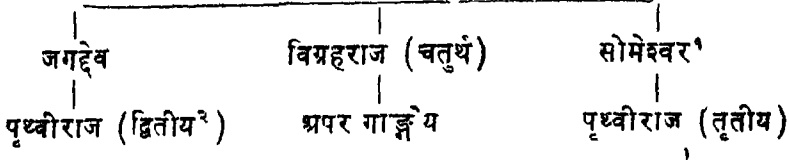
हम्मीर महाकाव्य में दिया हुआ पृथ्वीराज तृतीय का वर्णन कुछ विशेषता रखता है। उसके अनुसार सहाबदीन (शहाबुद्दीन गोरी) के आक्रमणों से त्रस्त पश्चिमी राजाओं ने गोपालचन्द्र के पुत्र चन्द्रराज के नेतृत्व में पृथ्वीराज के द्वार पर जाकर रक्षा की प्रार्थना की। पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को पकड़ने की प्रतिज्ञा कर शकराज शहाबुद्दीन के देश पर आक्रमण किया। युद्ध में मुसलमानी सेना पराजित हुई और पृथ्वीराज ने द्वन्द्व युद्ध कर शहाबुद्दीन को पकड़ लिया। इसी प्रकार चाहमान सम्राट् ने शहाबुद्दीन को सात बार परास्त और सात बार मुक्त किया। आठवीं बार षर्परेश से बहुत बड़ी सेना प्राप्त कर शहाबुद्दीन ने अकस्मात् दिल्ली पर अधिकार कर लिया। अपनी पुरानी विजयों के गर्व पर पृथ्वीराज बहुत थोड़ी सेना लेकर शकराज का सामना करने के लिए रवाना हुआ। शहाबुद्दीन ने चाहमान के अश्वपाल और बाजे वालों को अपनी ओर मिला लिया और प्रातःकाल से कुछ पूर्व पृथ्वीराज के शिविर पर उसने आक्रमण किया। अश्वपाल ने पृथ्वीराज को नाटारम्भ नाम के घोड़े पर चढ़ा दिया। नाटारम्भ तो केवल नृत्य करना जानता था। युद्ध के बाजे बजते ही वह नाचने लगा। विवश होकर पृथ्वीराज घोड़े से उतरा और युद्ध करता हुआ बंदी बना लिया गया। कुछ दिन बाद शहाबुद्दीन ने उसे एक किले में चिनवा दिया। गौड़-वंशीय उदयराज ने इसी बीच में दिल्ली पर घेरा डाला और एक महीने तक लगातार युद्ध कर पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद लड़ाई में काम आया।

पृथ्वीराज का यह वर्णन इतिहास की दृष्टि से कहां तक ठीक है, यह कहना कठिन है। चन्द्रराज संभवतः ऐतिहासिक व्यक्ति था, शायद वह कुरुक्षेत्र के निकटस्थ किसी प्रदेश का राजा रहा हो। पृथ्वीराज-रासो में चन्द्रपुण्डीर नामक एक सामन्त का वर्णन है। क्या यह गोपालचन्द्र का पुत्र चन्द्रराज हो सकता है? मुसलमान इतिहासकार केवल दो युद्धों का वर्णन करते हैं, सात का नहीं। रासो आदि पुस्तकों में इक्कीस युद्धों तक का वर्णन है। अतः यह मानना ही

[1] यह अपर गाङ्गेय को हरा कर गद्दी पर बैठा।
[2] पृथ्वीराज द्वितीय के मरने पर मन्त्रियों ने इसे गद्दी पर बैठाया।

शायद उचित होगा कि पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी का सामना केवल दो युद्धों में ही हुआ, बाकी में दोनों तरफ के सामन्त लड़ते रहे। ये पारस्परिक सीमा-प्रांतीय छेड़छाड़ थी, जिन्हें हिन्दुओं ने अत्यधिक और मुसलमानों ने अत्यल्प महत्व दिया है। अन्तिम युद्ध के वर्णन में नयचन्द्र की निम्नलिखित बातें सर्वथा ठीक हैं या ठीक प्रतीत होती हैं—

(१) मुहम्मद गोरी ने अकस्मात् ही प्रातःकाल से कुछ पूर्व चाहमान-शिविर पर आक्रमण किया था।[1]

(२) पृथ्वीराज युद्ध में मारा नहीं गया, बन्दी हुआ[2]।

(३) सभवतः मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज के कुछ अधिकारियों को अपनी ओर मिला लिया था; किन्तु, केवल नाटारम्भ को पृथ्वीराज की पराजय का कारण मानना कवि-कल्पना मात्र है। पृथ्वीराज की पराजय के कारण इससे कहीं अधिक गंभीर थे।[3]

पृथ्वीराज के भाई एवं उत्तराधिकारी हरिराज के विषय में हम्मीर-महाकाव्य में दो बातें मिलती हैं—

(१) उसने अपना समय गुर्जरेश्वर द्वारा प्रदत्त वेश्याओं के साथ आनन्द मे बिताया।

(२) शकेश्वर के हमला करने पर वह स्त्रियों सहित अग्नि में जल कर मर गया।

इतिहास की कसौटी पर कसने से दोनों बातें प्रायः ठीक उतरती हैं। यद्यपि पहली बात के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है, तथापि यह असंभव प्रतीत नहीं होती। पृथ्वीराज किसी हद तक विलासी था; उसका छोटा भाई उससे कुछ बढ़ कर हो तो आश्चर्य क्या है? अजमेर-दुर्ग के रक्षकों की अग्नि में जल मरने की कथा समसामयिक ग्रंथ ताजुलमासिर में मिलती है।[4]

---

[1] देखो, लक्ष्मीधर-रचित विरुद्धविधिविध्वंसप्रशस्ति-श्लोक २३; पुरातन-प्रबंधसंग्रह-पृथ्वीराज-प्रबन्ध, पृष्ठ ८६ (सिंघी जैन ग्रंथमाला); प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ११७ (सिंघी जैन ग्रथमाला)

[2] देखो, रैवर्टी-तबकाते नासिरी, पृष्ठ ४६८।

[3] लेखक द्वारा शीघ्र ही प्रकाश्य 'प्राचीन-चाहमान-राजवंश' में इस विषय पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

[4] Elliot and Dowson—History of India as told by its own Historians, vol. II, p. 226

हरिराज के बाद रणथम्भोर राज्य की कथा आरम्भ होती है। इसके लिए हम्मीर-महाकाव्य ही मुख्य ऐतिहासिक साधन है। हम्मीर के पूर्वज गोविन्द से लेकर हम्मीर के पिता जैत्रसिंह तक की कथा का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है –

सर्ग	श्लोक	
४	२३-३१	रणस्तम्भपुर में पृथ्वीराज का पुत्र[1] गोविन्द राज्य करता था। पृथ्वीराज ने उसे अजमेर से निकाल दिया था। हरिराज की मृत्यु के बाद मन्त्रियों ने उसका आश्रय लिया।
,,	३२-४१	गोविन्द के उत्तराधिकारी वाल्लण के दो पुत्र थे, प्रह्लादन और वाग्भट। वाल्लण ने प्रह्लादन को गद्दी पर बैठाया और वाग्भट को मन्त्री का पद दिया।
,,	४३-७८	शेर का शिकार करते हुए प्रह्लादन बुरी तरह घायल हुआ। अपने को दुश्चिकित्स्य जान कर उसने अपने पुत्र वीरनारायण को अभिषिक्त किया और वाग्भट को उसका संरक्षक बनाया।
,,	७९-१०६	वीरनारायण जवान होने पर आम्रपुर (आमेर) के कत्सवाह (कछवाह) की पुत्री से विवाह करने के लिए आमेर गया। शकराज जल्लालुद्दीन के आक्रमण करने पर वह रणथम्भोर वापिस चला आया। जब जल्लालुद्दीन बल से रणथम्भोर न ले सका, तब उसने मैत्री का प्रस्ताव किया और वीरनारायण को मिलने के लिए दिल्ली बुलाया। वाग्भट के विरोध करने पर भी, वक्षःस्थलपुर के राजा विग्रह से बदला लेने की इच्छा से वीरनारायण दिल्ली चला गया। शकेश ने उसका अच्छी तरह स्वागत किया किन्तु कुछ दिन बाद उसे विष देकर मार डाला। वाग्भट तिरस्कृत होकर मालवे चला गया था इसलिए रणथम्भोर आसानी से मुसलमानों के हाथ आ गया।

---

[1] कीर्तने के संस्करण में उसे गलती से पृथ्वीराज का पौत्र लिखा है; वास्तव में, वह हरिराज का भतीजा अर्थात् पृथ्वीराज का पुत्र था।

४ १०७-१३० मालवा के राजा ने शकेश की प्रेरणा से वाग्भट को मारने का प्रयत्न किया किन्तु वाग्भट ने, मालूम होते ही, मालवेश्वर को मार कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया और शक-राज्य कर पर्परों के आक्रमण का समाचार सुनते ही रणथंभोर को जा घेरा। भूख और प्यास से व्याकुल होकर लगभग तीन महीनों के बाद मुसलमान दुर्ग को छोड़ कर भाग गये। वाग्भट रणथंभोर का स्वामी हुआ और उसने वहाँ १२ वर्ष तक राज्य किया।

,, १३१- वाग्भट के बाद उसका पुत्र जैत्रसिंह गद्दी पर बैठा। हम्मीरदेव उसकी रानी हीरादेवी का पुत्र था। जैत्रसिंह के दो पुत्र और थे, जिनमें एक का नाम सुरत्राण और दूसरे का नाम वीरम था।[1]

८ ३९-१३१ कुमार हम्मीरदेव को सर्वथा राज्य-योग्य देख कर जैत्रसिंह ने उसे अभिषिक्त करने का विचार किया। हम्मीरदेव जैत्रसिंह का ज्येष्ठ पुत्र न था[2] इसलिए उसने राज्य लेने से आना-कानी की किन्तु राजा के यह कहने पर कि यह भगवान् विष्णु की आज्ञा है, उसने पिता की आज्ञा मानी और संवत् १३३९, माघ शुक्ला पूर्णिमा रविवार के दिन वृश्चिक लग्न एवं पुष्य नक्षत्र में हम्मीर का राज्याभिषेक हुआ। रोग के कारण अपना देहावसान निकट जान कर जैत्रसिंह ने हम्मीर को नीतिपूर्ण शिक्षा दी और स्वयं चम्बल-नदी पर स्थित पत्तनतीर्थ के लिए प्रस्थान किया। यहाँ जंबूपथसार्थवाही भगवान् शिव का मंदिर था।[3] रास्ते ही में पल्लीनामक ग्राम में राजा का देहावसान हो गया। हम्मीरदेव को अत्यन्त शोक हुआ, किन्तु बीजादित्यादि विद्वानों के समझाने पर उसने धैर्य धारण किया।

---

[1] सर्ग ५—७ और सर्ग ८ के ३५ वें श्लोक तक ऋतु, जल-क्रीड़ा, प्रभातादि विषयों का वर्णन मात्र है।

[2] सर्ग ८ श्लोक ५३।

[3] सुर्जन-चरित के इसी प्रसंग को देखने से ज्ञात होता है कि तीर्थ का नाम पत्तन था, श्री आश्रम नहीं।

समसामयिक इतिहास-ग्रन्थों और शिलालेखों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि हम्मीर-महाकाव्य के उपरि-लिखित वर्णन में सत्य की पर्याप्त मात्रा है। गोविन्द ने मुसलमानों की अधीनता स्वीकार कर वास्तव में रणथंभोर में अनेक वर्षों तक राज्य किया। उसका पुत्र वाल्लण शमसुद्दीन अल्तमश के अधीन था। इसी सुलतान ने सन् १२२६ में रणथंभोर पर अधिकार कर लिया। यही नयचन्द्र का शकाधिराज 'जल्लालदीन' है। बहुत संभव है कि सुलतान ने किला लेने में छल का प्रयोग किया हो। वीरनारायण का विरोधी वक्षःस्थलपुर का विग्रह कौन था, यह बतलाना कठिन है।

वाग्भट ने जिस मालवेश का वध किया वह संभवतः देवपाल हो सकता है। संवत् १२९२ के बाद उसका कोई लेख नहीं मिलता, किन्तु यह कहना, कि वाग्भट ने उसके संपूर्ण राज्य पर अधिकार कर लिया, अतिशयोक्तिपूर्ण है। मालवे पर परमार ही राज्य करते रहे यद्यपि उसके कुछ अंश आसपास के राजाओं ने दबा लिये। वाग्भट के पुत्र जैत्रसिंह को मालवराज परमार जयसिंह से युद्ध करना पड़ा था।

रणथंभोर-विजय की कथा प्रायः सत्य है। नयचन्द्र ने खर्पर शब्द का अनेकशः मुगलों के लिए प्रयोग किया है। सं० १२९० के आसपास मुगल-तुर्क, ख्वारिज्मी आदि भारत में अवश्य आ चुके थे, किन्तु इनमें से शायद ही कोई रणथंभोर तक पहुँचा हो। अतः इस दुर्ग की विजय का वास्तविक श्रेय स्वयं वाग्भट को है। मुसलमान इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि बुरी तरह से घिर जाने के कारण रजिया के राज्य के आरंभ में मुसलमानों को रणथंभोर छोड़ना पड़ा था।[1]

जैत्रसिंह की कथा में कोई ऐसी बात ही नहीं है जिसे अनैतिहासिक कहा जा सके। हम्मीरदेव के प्रति जैत्रसिंह की शिक्षा अवश्य कुछ कवि-कल्पना-प्रसूत है।

हम्मीर-महाकाव्य के अंतिम ६ सर्गों में हम्मीरदेव की कथा है। इसका कितना भाग ऐतिहासिक है और कितना अनैतिहासिक, यह बतलाने के लिए यहाँ इन सर्गों का विषय-विश्लेषण किया जाता है:—

सर्ग	श्लोक	
९	१-९८	राज्यारोहण के कुछ समय बाद हम्मीरदेव ने चतुरंग सेना सहित दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। भीमरस नगर पहुँच

[1] वाग्भट की पूरी कथा के लिए लेखक का शीघ्र ही प्रकाश्य 'प्राचीन-चाहमान-राजवंश' देखें।

कर उसने अर्जुन राजा को वशीभूत किया। इसके बाद मंडलकृत्[1] (मण्डलगढ़) से कर लेकर वह धारा गया। वहां उसने परमार राजा भोज को हराया और फिर उज्जयिनी होता हुआ वह चित्तौड़ पहुँचा। तदनंतर उसने अर्बुदाचल में निष्पक्ष भाव से अनेक तीर्थों में अवगाहन किया और अनेक देवी देवताओं की पूजा की। अभिमानी अर्बुदेश्वर ने उसे खूब धन दिया। फिर वर्धनपुर और चंगा को लूटता हुआ वह पुष्कर पहुँचा। वहां स्नान कर वह शाकंभरी को गया। उसने महाराष्ट्र, खंडिल्ल और चंपा को लूटा और ककराल में त्रिभुवनाद्रि के अधिपति ने उस की अधीनता स्वीकार की। इस प्रकार दिग्विजय कर वह रणथंभोर वापिस आया और कुछ दिन बाद पुरोहित विश्वरूप के कहने पर उसने कोटि-यज्ञ किया।

९ ९९-१५० कोटि-यज्ञ के बाद हम्मीर ने एक मास का मुनिव्रत स्वीकार किया। इसी समय अलाउद्दीन ने अपने भाई उल्लूखान (उलूग खां) को रणथंभोर देश नष्ट भ्रष्ट करने के लिए भेजा। उसने बनास नदी के किनारे डेरा डाला और देश को लूटना आरंभ किया। राजा मौन था। अतः प्रधान धर्मसिंह की सलाह से सेनापति भीमसिंह ने मुसलमानों पर आक्रमण किया। मुसलमानों को हरा कर भीमसिंह वापिस लौटा। उलूगखां ने छिप कर उसका पीछा किया। धर्मसिंह को यह पता न था। अतः भीमसिंह को अकेला छोड़ और स्वयं लूट का सामान लेकर वह रणथंभोर चला गया। घाटी में घुसते समय भीमसिंह ने खुशी के मारे मुसलमानों से छीने हुए बाजे बजवा दिये। मुसलमान इसे अपनी जय का संकेत समझ कर एकत्र हो गये और भीमसिंह युद्ध में काम आया। उसके बाद उलूग खां दिल्ली वापिस चला गया।

„ १५१-१८८ धर्मसिंह भीमसिंह को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ गया था। इससे अप्रसन्न होकर 'तू हिजड़ा है' ऐसा कह कर राजा ने उसे वास्तव में हिजड़ा करवा दिया और उसका पद अपने दासीजात भाई खड्गग्राही भोज को दे दिया, किन्तु भोज अच्छा

[1] अनेक इतिहासज्ञों ने इसे गढ़मण्डल मानने की भूल की है।

अर्थ-मंत्री न था। वह राजा की धन और घोड़ों की मांग को पूर्ण न कर सका। इसलिए धर्मसिंह को शिष्या नर्तकी धारा-देवी की सिफारिश से धर्मसिंह फिर राजमंत्री बना दिया गया। उसने प्रजा पर अनेक कर लगा कर कोश भर दिया पर प्रजा इससे अत्यन्त असन्तुष्ट हुई। सिखा बुझा कर उसने राजा को भोज के विरुद्ध भी कर दिया। राजा ने उसका प्राय: सब धन ज़ब्त कर लिया। अंत में, राज-तिरस्कार से दु:खी होकर उसने काशीयात्रा के बहाने अपने भाई पीथसिंह सहित रणथंभोर छोड़ दिया। राजा ने प्रसन्नतापूर्वक दण्डनायक पद पर रतिपाल को अभिषिक्त किया।

१० ९-८८ तिरस्कृत भोज सिरोह होता हुआ दिल्ली पहुंचा। अलाउद्दीन ने उसका अच्छी तरह स्वागत किया और जगरा नाम के स्थान की जागीर दी। भोज की सलाह से फसल कटने से पूर्व ही उलुग खां बड़ी सेना सहित भेजा गया। मुसलमान सैन्य हिन्दू-वाट पहुंच चुका था। चारों ओर अंधकार ही अंधकार था। उस समय वीरम, जाजदेव, रतिपाल, रणमल्ल, महिमासाहि (मुहम्मद शाह) और उसके भाइयों ने मुसलमान-शिविर पर आक्रमण किया। मुसलमान हार कर भाग गये। कुछ समय बाद मुहम्मद शाह और उसके भाइयों ने जगरा पर छापा मारा और भोज के भाई और कुटुम्ब को कैद कर रणथंभोर ले आये। इन बातों से क्रुद्ध होकर अलाउद्दीन ने शीघ्र ही हम्मीर को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की।

११ ९-१०३ मुसलमान सम्राट् ने चारों तरफ से फौजें इकट्ठी कीं और उन्हें उल्लूखां (उलूग खां) और निसुरतखां (नसरत खां) की अध्यक्षता में हम्मीर को जीतने के लिए भेजीं। घाटियों में प्रवेश करना आसान न था। उलूग खां को अपना पहला अनुभव याद था, इसलिए उसने मोल्हण को संधि के बहाने हम्मीर के पास भेजा। हम्मीर के सैनिकों ने भी यह सोच कर उसकी उपेक्षा की कि घाटी में घुसने पर यह सुख-साध्य होगा। मुसलमान सेनापतियों ने घाटियां पार कर लीं और जैत्रसर आदि पर अपने डेरे डाले। मोल्हण ने हम्मीर के सामने ये शर्तें पेश कीं,

"हे हम्मोर ! यदि तुम्हें राज्य करने की इच्छा हो तो लाख मोहर, चार हाथी, तीन घोड़े और अपनी बेटी देकर हमारी आज्ञा स्वीकार करो या चाहो तो केवल मेरी आज्ञा-भंग करने वाले चार मुगलों को मुझे सौंप सकते हो।" हम्मीर ने इन शर्तों का अत्यन्त तिरस्कारपूर्ण उत्तर दिया और किले की रक्षा की तैयारी की। मुसलमान तीन महीनों तक घेरा डाले युद्ध करते रहे। एक दिन एक गोले का टुकड़ा चटक कर नसरतखां के मस्तक में लगा और वह मर गया। उलूग खां ने नसरत खां का मृत शरीर दिल्ली भिजवाया और साथ ही अपनी स्थिति भी कहला भेजी। क्रोध और शोक से झल्ला कर अलाउद्दीन स्वयं हम्मीर से लड़ने के लिए आया।

१२	१-६	अलाउद्दीन को आया हुआ सुन कर हम्मीर ने किले पर शूर्प बंधवा दिये और अलाउद्दीन के पूछने पर उससे कहला दिया कि भरी गाड़ी में शूर्प का भार कुछ विशेष नहीं होता। तुम्हारा आकर सेना में मिलना भी वैसा ही है। अलाउद्दीन ने प्रसन्न होकर हम्मीर से जो इच्छा आये मांगने के लिए कहा, किन्तु वीर हम्मीर ने केवल दो दिन के लिए युद्ध ही मांगा।
१२	७-५६	दूसरे दिन शाम तक दोनों सेनाओं में अत्यन्त भयंकर युद्ध हुआ।
,,	६०-८८	प्रातःकाल फिर युद्ध आरंभ हुआ और इस समर में ८५,००० मुसलमान योद्धा काम आये। इसके बाद दोनों पक्षों ने कुछ दिनों तक युद्ध बन्द किया।
१३	१-३८	एक दिन हम्मीर ने नाच और गान का प्रबंध किया। उसमें सभी सामन्तादि सम्मिलित हुए। धारा देवी नाचने लगी। उसकी तिरस्कार-पूर्ण चेष्टाओं से क्रुद्ध होकर अलाउद्दीन ने अपने आदमियों को उस पर निशाना लगाने की आज्ञा दी और उड्डानसिंह नाम के एक धनुर्धर ने अपने बाण से उसे किले की दीवार से उपत्यका में गिरा दिया। महिमासाहि (मुहम्मद शाह) ने अलाउद्दीन को बाण का निशाना बना कर इसका बदला लेना चाहा, किन्तु हम्मीर ने 'यदि तुम इसे मार दोगे तो मैं किससे लडूंगा' ऐसा कह कर उसे रोक दिया। उड्डानसिंह को मार कर ही मुहम्मदशाह को संतोष करना पड़ा।

इस जबरदस्त निशाने बाजी से डर कर मुसलमान तालाब की दूसरी ओर अपना शिविर ले गये ।

१३ ३६-६८ इसके बाद मुसलमानों ने सुरंग लगाई और खाई को पूलों से, मिट्टी से और पत्थरों से भरना शुरू किया। जब ये दोनों काम पूरे हो गये तो मुसलमानों ने फिर युद्ध के लिए तैयारी की। हम्मीर ने यह सुनते ही खाई को अग्नि के गोलों से जला डाला और सुरंग में लाख और तेल फिकवाया। मुसलमान योद्धा बुरी तरह से जल गये। शकाधीश ने जिन शकों से सुरंग खुदवाई थी उन्हीं के कलेवरों से हम्मीर ने उसे भर दिया। अलाउद्दीन के अनेक प्रयत्न विफल हुए। ग्रीष्म ऋतु बीत गई और वर्षा आ गई। यथा तथा संधि करने की इच्छा से अलाउद्दीन ने हम्मीर के दण्डनायक रतिपाल को बुला भेजा और हम्मीर ने भी कौतुकवश उसे जाने की आज्ञा प्रदान की।

,, ६६-८६ अलाउद्दीन ने मान और दान दोनों ही से रतिपाल को वशीभूत किया। सभासदों में से अपने भाई के सिवाय सब को दूर कर सुलतान ने रतिपाल के सामने पल्ला पसार कर केवल जय की याचना की। अन्तःपुर में ले जाकर उसने रतिपाल को भोजन कराया और बहिन के हाथ से मदिरा पिलाई। इस आशा में कि शकेश जय के बाद अपने वचनानुसार उसे किला दे देगा, रतिपाल हम्मीर के पास पहुंचा और उसे झूठ-मूठ कहा, हे देव ! शकेश ने कहा है—मूर्ख हम्मीर मुझे अपनी पुत्री नहीं देता है। यदि मैं उसकी रानियों को भी न ले लूं तो मुझे अलाउद्दीन न समझना।" रणमल्ल हम्मीर का अच्छा योद्धा था। वह इस बात से नाराज़ था कि शकेश से संधि की बात हो रही है। हम्मीर को रणमल्ल से लड़ाने के लिए रतिपाल ने कहा, "आज रणमल्ल किसी कारण से अप्रसन्न हो गया है। आप पांच सात आदमियों सहित जाकर उसे मनावें।"

,, ६०-१०४ रतिपाल हम्मीरदेव के भाई वीरम के पास से होकर जब निकला तब शराब की दुर्गन्ध से वीरम समझ गया कि दुष्ट रतिपाल शत्रु से मिल गया है। हम्मीर को भी संशय हुआ

किन्तु उसकी इच्छा न हुई कि रतिपाल के वध के कारण उसे अपयश का भागी बनना पड़े ।

१३-१०५-१२६ इधर जब रानियों को मालूम हुआ कि शकेश केवल पुत्री ही मांगता है तो उन्होंने सिखा-बुझा कर देवल्ल देवी को हम्मीर के पास भेजा । उसने पिता से प्रार्थना की कि वह उसे शकेश को देकर कुल की रक्षा करे । अपने कुल और धर्म के विरुद्ध इस बात का क्रोध एवं ओजपूर्ण शब्दों में हम्मीर ने तिरस्कार किया ।

,, १३०-१३४ उधर रतिपाल ने रणमल्ल से कहा "भाई ! भागने की तैयारी करो । हम्मीर तुम्हें पकड़ने के लिए आ रहा है । जब रणमल्ल ने यह बात न मानी तब उसने कहा, "यदि सायंकाल पांच सात आदमियों सहित हम्मीर इधर आये तो मेरा विश्वास करना ।" राजा को उसी तरह आता हुआ देख कर रणमल्ल डर गया और शत्रु से जा मिला ।

,, १३५-१६८ रतिपाल भी दुर्ग से उतर कर शत्रु से जा मिला । इन बातों से खिन्न होकर राजा ने जाहड से पूछा, "कोश में अन्न कितना है ?" "यदि मैं कहूं कि अन्न नहीं है, तो अवश्य सन्धि हो जायगी" यह सोच कर जाहड ने उत्तर दिया कि अन्न है ही नहीं । हम्मीर अब खिन्न होने लगा था । चारों तरफ की धोखेबाजी से उसे मुगल (मुहम्मद शाह आदि) भाइयों पर सन्देह होने लगा, इसलिये दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही उसने मुहम्मदशाह से कहा, "तुम वैदेशिक हो, आपत्ति के समय तुम्हारा यहां रहना ठीक नहीं । तुम जहां चाहो वहीं मैं तुम्हें पहुँचा दूं ।" इन वचनों से मर्मविद्ध होकर मुहम्मद शाह घर पहुँचा और उसने अपने सब कुटुंब को कत्ल कर दिया । फिर आकर वह राजा से कहने लगा, "तुम्हारी भाभी जाने से पूर्व तुम्हारे दर्शन करना चाहती है । जिसकी कृपा से हम इतने दिन आनंद से रहे, उसके दर्शन किये बिना जाने से उसे सदैव दुःख होगा ।" राजा मुहम्मदशाह के घर पहुँचा । चारों तरफ खून की नदी में बच्चों और स्त्रियों के शिर तैरते हुए देख कर वह मूर्च्छित हो गया और पृथ्वी पर गिर पड़ा । उसे अत्यंत पश्चात्ताप हुआ, पर अब हो ही क्या सकता था ।

१३-१६१-१८९ वहाँ से वापिस आकर हम्मीर ने कोश को अन्न से परिपूर्ण देखा । उसे जाहड़ की बुद्धि पर अत्यंत क्रोध आया और खजाने को पद्मसर तालाब में डलवाने के बाद वीरम ने जाहड को प्राण-दंड दिया ।

स्थिति गंभीर थी। इसलिए नगरवासियों के लिए मुक्ति-द्वार खोल दिया गया। रंगदेवी आदि रानियों ने और हम्मीर की परम प्रिय पुत्री देवल्ल देवी ने अग्नि-प्रवेश किया ।

,, १९०-२२५ वीरम ने जनापवाद के भय से राज्य-ग्रहण नहीं किया। इस लिए राजा ने जाजदेव को गद्दी दी और नौ वीरों सहित युद्ध में प्रवेश किया । हम्मीर आ गया है, यह सुन कर शकराज भी युद्ध के लिये आ पहुँचा ।

राजा से पूर्व वीरम ने स्वर्ग को प्रस्थान किया। मुहम्मद शाह के मूर्छित होने पर स्वयं हम्मीर ने वीरतापूर्वक युद्ध किया और अंत में शत्रुओं के बाणों से जर्जर होकर उसने स्वयं अपने हाथों अपना प्राणांत किया । उसे यह सह्य न था कि वह जीवित ही शत्रु के हाथ आये ।

१४ १-२१ राजा की मृत्यु के बाद जाज ने दो दिन तक और युद्ध किया, मुहम्मदशाह अलाउद्दीन की सभा में (सिर झुका कर नहीं, बल्कि) पदतल दिखाता हुआ घुसा । जब अलाउद्दीन ने पूछा, "यदि तुम जीवित रहो तो मेरे से कैसा व्यवहार करोगे ?" उसने उत्तर दिया, "वही जो तुमने हम्मीर से किया है ।" रतिपाल ने संग्राम-भूमि में अपने पदतल से हम्मीर का शिर दिखाया। पूछने पर उसने हम्मीर की अनेक कृपायें भी स्वीकार कीं । अलाउद्दीन ने उसकी खाल निकलवा कर उचित ही किया, अन्यथा कौन स्वामी से द्रोह न करेगा ?

हम्मीर की जीवनी के लिए हमें अनेक अन्य साधन भी प्राप्त हैं । हम्मीर-महाकाव्य की कथा उनसे कहीं-कहीं मिलान खाती है और कहीं-कहीं नहीं । कौन किस स्थान पर ठीक है, हम इस बात का यहां विचार करेंगे ।

नयचंद्र ने हम्मीर की दिग्विजय का काफी अच्छा वर्णन किया है, किन्तु इसकी पूर्ण सत्यता में हमें संदेह है । दिग्विजय के अंत में एक कोटि-यज्ञ किया गया था ।

इसका जिक्र हम्मीर के पौराणिक एवं मंत्री वैजादित्य द्वारा रचित संवत् १३४५ के एक शिलालेख में भी है। उसमें लिखा है कि हम्मीर ने दो कोटि-होम किये, मालवा के राजा अर्जुन को युद्ध में हराया, अनेक हाथी छीने और रणथंभोर में पुष्पक नाम का महल बनाया। शिलालेख में कोटि-होमों का जिक्र होने से यह निश्चित है कि यह हम्मीर की तथाकथित दिग्विजय के बाद लिखा गया था; किन्तु, इसमें केवल मालवा के राजा अर्जुन पर विजय का वर्णन है, किसी दिग्विजय का नहीं। अतः क्या यह मानना उचित न होगा कि या तो हम्मीर ने कोई दिग्विजय की ही नहीं या संवत् १३४५ के बाद मालव-विजय के अतिरिक्त समय-समय पर अन्य कुछ विजय प्राप्त कीं जिन्हें कवि ने अपनी कल्पना से एक स्थान पर ग्रथित कर दिया है; किन्तु, इस बात का ध्यान देते हुए कि न केवल हम्मीर-महाकाव्य का दिग्विजयान्त कोटि-होम सं० १३४५ से पूर्व हो चुका था, अपि तु नयचंद्र ने मालव-राज के अतिरिक्त किसी राजा का नाम ही नहीं दिया है, हमें दूसरे विकल्प की संभावना अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होती।

नयचंद्र ने अलाउद्दीन के अनेक आक्रमणों का वर्णन किया है। इनमें पहले दो आक्रमणों का वर्णन मुसलमान इतिहासों में नहीं है; किन्तु, उनका कथा से इतना अधिक संबंध है और उनका सब वर्णन इतना ब्योरेवार है कि उन्हें असत्य मानना सभवतः केवल धृष्टता-मात्र या हिन्दू इतिहासकारों के प्रति व्यर्थ अश्रद्धा का सूचक होगा। हां, यह बहुत संभव है कि भीमसिंह की मृत्यु अकस्मात् या केवल मुसलमानी बाजे बजाने से न हुई हो। मुसलमानी सेनापतियों की अनेक बार यह नीति रही है कि वे शत्रु के आक्रमण करते ही या तो पीछे हटते हैं या बिखर जाते हैं और फिर शत्रु के असावधान होने पर उस पर आक्रमण करते हैं। तरावड़ी के युद्ध में मुहम्मद गोरी ने इस नीति का अनुसरण किया था। बहुत सभव है कि उलूग खां भी इसी नीति द्वारा भीमसिंह का वध करने में समर्थ हुआ हो। दूसरा खिल्जी आक्रमण मुसलमानों के लिए कोई विशेष कीर्त्ति की चीज नहीं थी। संभव है, इसी कारण मुसलमान इतिहासकारों ने उसका जिक्र न किया हो। अमीर खुसरो ने केवल एक आक्रमण का वर्णन किया है और बर्नी ने दो का, यद्यपि वास्तव में आक्रमण चार या उससे भी अधिक हुए थे।[1]

हम्मीर के अंतिम दिनों में प्रजा किस तरह दुःखी हुई और किस प्रकार क्रोध और लोभ एव प्रतिहिंसा की मूर्ति धर्मसिंह के वशीभूत होकर हम्मीर ने अनेक अनुचित कार्य किये—इन सबके ज्ञान का एकमात्र साधन तो केवल हम्मीर-

---

[1] कुछ आक्रमण जलालुद्दीन के समय में हो चुके थे। नयचंद्र ने भी इनका वर्णन किया है।

महाकाव्य ही है। इसके अभाव में हम्मीर के पतन के वास्तविक एवं आभ्यन्तरिक पतन के कारणों का संभवतः कभी पता न चलता। खड्गधारी भोज की सत्यता या असत्यता जांचने के लिए हमारे पास कोई बाह्य साधन नहीं है, किन्तु उसमें कहीं असत्यता प्रतीत नहीं होती।

अलाउद्दीन के तीसरे और चौथे आक्रमणों के वर्णन का मिलान मुसलमान इतिहासकारों के वर्णन से किया जा सकता है। दोनों में प्रायः एक सा ही वर्णन है। नसरत खां की मृत्यु और मुसलमानों की अस्थायी पराजय का जिक्र फरिश्ता, बर्नी आदि के पृष्ठों में भी उतना ही स्पष्ट है जितना हम्मीर-महाकाव्य में। चौहानों ने सुरंगों में मुसलमानों को किस प्रकार जला दिया यह खजाइन-उल-फुतूह में पढ़ा जा सकता है।

धारादेवी की कथा के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, यद्यपि यह असंभव प्रतीत नहीं होती। रतिपाल के षड्यंत्र का वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता, किन्तु यह असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि ऐसा षड्यंत्र अवश्य हुआ था। फरिश्ता को इस बात का ज्ञान था। उसने लिखा है, "राजा का मंत्री रणमल एक मजबूत दल सहित सुल्तान से आ मिला था। सुल्तान ने यह कहते हुए "जिन आदमियों ने अपने सच्चे स्वामी को धोखा दिया है वे किसी के लिए सच्चे नहीं हो सकते' रणमल और उसके आदमियों को मरवा डाले। रतिपाल इन्हीं साथियों के अंतर्गत था। सुल्तान उसे अंतःपुर में ले गया, उसके सामने अंचल पसार कर याचना की आदि कथाएं सर्वथा कल्पित प्रतीत होती हैं। यदि ऐसा हुआ भी हो तोभी नयचंद्र के पास कौन सा साधन था जिससे वह यह मालूम कर सका ?

जौहर की कथा भी सर्वथा सत्य है। मुसलमान सिपाहियों तक ने चिताग्नि की ज्वालाओं को दूर से देखा था। अंतिम युद्ध में नयचंद्र के कथनानुसार हम्मीर के साथ जो साथी थे उनके संबंध में अमीर खुसरो ने केवल 'एक या दो काफ़िर' लिखा है।

मुहम्मद शाह की वीर मृत्यु का वर्णन नयचंद्र ने जान कर छोड़ दिया है; केवल उसके वीरतापूर्ण उत्तर का ही वर्णन किया है। हिन्दू और मुसलमान सभी सच्ची वीरता का सम्मान करते हैं और उसको नहीं भुलाते, यह तबकाते अकबरी के निम्नलिखित उद्धरण से सुस्पष्टतया प्रतीत हो सकेगा:—

"मुहम्मद शाह घायल पड़ा था। सुल्तान की दृष्टि उस पर पड़ी और उसने दयार्द्र होकर कहा, 'यदि मैं तुम्हें इस भयंकर खतरे से बचा लूं और तुम्हारे जख्मों की मरहमपट्टी करवा कर तुम्हें ठीक कर दूं तो तुम क्या करोगे और

इसके बाद तुम्हारा व्यवहार कैसा होगा ?' उसने उत्तर दिया, "यदि मैं घावों से ठीक हो जाऊँ तो मैं तुम्हें मार कर हम्मीरदेव के पुत्र को सिंहासन पर बैठाऊंगा। जो स्वभाव से ही दुष्ट होता है वह किसी के लिए सच्चा नहीं होता। जो कुजात है वह सदा बुरा ही करता है।"

सुल्तान ने उसे मस्त हाथी के पैर के नीचे डलवा कर कुचलवा दिया। कुछ समय बाद जब उसे याद आया कि "मुहम्मद शाह अपने शरणदाता के प्रति कितना सच्चा व नमक-हलाल निकला तो उसने मुहम्मद शाह को विधिवत् दफनाने की आज्ञा दी।"[1]

हिन्दू पक्ष से मुहम्मद शाह की स्मृति को सजीव रख कर नयचंद्र ने एक महान् कार्य किया है।

हम्मीर महाकाव्य के अनुसार दुर्ग का पतन श्रावण कृष्णा ६ रविवार, सं० १३५८ को हुआ। अमीर खुसरो की तिथि इस से दो दिन पूर्व है। यह भेद नगण्य है। चाहमान जाज ने हम्मीर की मृत्यु के बाद दो दिन तक युद्ध किया। नयचद्र ने संभवतः उसकी मृत्यु के दिन दुर्ग का पतन माना है।

साहित्यिक दृष्टि से हम्मीर-महाकाव्य

साहित्यिक दृष्टि से हम्मीर-महाकाव्य का स्थान पर्याप्त ऊँचा है। स्वयं नयचन्द्र इसे पूर्व-कवियों की कृतियों से हीनतर नहीं समझते। हम चाहे इस निर्णय से सर्वथा सहमत न हों, तथापि यह मानने में तो हमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि नयचन्द्र ने इस काव्य में इतिहास और कविता का सुन्दर समन्वय किया है। कथा का स्रोत कभी रुद्ध नहीं होता; केवल दो तीन सर्ग का ऋतु-वर्णन ऐतिहासिक तथ्य मात्र से क्लान्त पाठक के विश्राम के लिए हरे-भरे द्वीप का काम दे सकता है। हम्मीर-महाकाव्य वीररसप्रधान काव्य है। नयचन्द्र चाहते तो इन दो तीन सर्गों को दूर कर सकते थे किन्तु उस समय काव्य-लेखन की परिपाटी ही कुछ ऐसी थी। मुख्य रस चाहे कोई हो, शृङ्गार रस का पुट तो आवश्यक समझा जाता था। काव्य से शृङ्गार को दूर रखना उतना ही आपत्तिजनक था जितना कि भोजन से लवण को।[2]

कृष्णर्षिगच्छीय नयहंस ने लिखा है—

---

[1] दे का अनुवाद, पृष्ठ ६७ (Bibliotheca Indica Series)

[2] रसोऽस्तु यः कोपि परं स किञ्चिन्नास्पृष्टशृङ्गाररसो रसाय।
सत्यप्यहो पाकिमपेशलत्वे न स्वादु भोज्यं लवणेन हीनम्॥
(हम्मीर-महाकाव्य, सर्ग १४, श्लोक ३६)

लालित्यममरस्येव श्रीहर्षस्येव वक्रिमा ।
नयचन्द्रकवेः काव्ये दृष्टं लोकोत्तरं द्वयम् ॥

और यह सम्मति अधिकांश में ठीक है । हम्मीर-महाकाव्य में लालित्य और वक्रिमा दोनों वर्तमान हैं; अलंकारों का सुन्दर समावेश है और कथा हृदयग्राहिणी है । हम्मीर-महाकाव्य रसप्रधान काव्य है, शब्दप्रधान नहीं। केवल शब्दाडम्बर का आश्रय लेना तो सामान्य कवियों का कार्य है । नयचन्द्र ने यथार्थ ही लिखा है—

वदन्ति काव्यं रसमेव यस्मिन्निपीयमाने मुदमेति चेतः ।
किं कर्णतर्णर्णसुपर्णपर्णाभ्यर्णाहि वर्णार्णवडम्बरेण ॥[1]

हम्मीर-महाकाव्य में चौदह सर्ग हैं । हर एक अपने ढंग से निराला है । हर एक मननयोग्य है; किन्तु, विस्तारभय से हम केवल प्रथम सर्ग के पूर्वार्ध से कुछ अलङ्कार एवं रसमय श्लोकों का उदाहरण देकर संतोष करेंगे । सुविज्ञ पुरुष एक दो पत्तों से भी वृक्ष की पहचान कर सकते हैं ।

(१) गुरुप्रसादाद् यदि वास्मि शक्तस्तदीयवृत्तस्तवनं विधातुम् ।
सुधाकरोत्संगसरंगयोगान्मृगो न खे खेलति किं सखेलम् ॥[2]

यह प्रतिवस्तूपमा का सुन्दर उदाहरण है । हम्मीर की कथा का गान कोई साधारण कार्य नहीं, किन्तु गुरुकृपा से यह भी किया जा सकता है । मृग का आकाश में खेलना प्रायः असंभव है; किन्तु चन्द्रमा की स्नेहपूर्ण गोद को प्राप्त कर क्या वह ऐसा नहीं करता, अर्थात् करता ही है ।

(२) प्रतापवह्निर्ज्वलितो यदीयस्तथा द्विषां कीर्तिवनान्यधाक्षीत् ।
तदुत्थधूमाश्रयतो जहाति वियद्यथाद्यापि न कालिमानम् ॥२१॥

यहां पूर्वार्ध में रूपक एवं उत्तरार्ध मे अतिशयोक्ति दर्शनीय है । कवि आकाश की कालिमा का कारण ढूढने चले हैं । मालूम हुआ कि चाहमान की प्रतापाग्नि ने शत्रुओं के कीर्तिरूपी वनों में आग लगा दी है । आकाश की कालिमा का कारण इसी दावाग्नि से उत्पन्न धूम है ।

(३) जयश्रिया प्राप्तमहावियोगान् संमूर्छयन् वैरिगणान्निकामम् ।
यो युध्यवाप्तो पवनायितोऽपि चित्रं द्विजिह्वांश्च सुखीचकार ॥२३॥

---

[1] सर्ग १४; श्लोक ३५

[2] सर्ग १; श्लोक १२

यह विरोध और श्लेष के संकर का अच्छा नमूना है। राजा और मलयानिल का कार्य एकसा ही था। एक जयश्री से वियुक्त वैरियों को, दूसरा वधूवियुक्त पुरुषों को मूर्च्छित करता है किन्तु, मलयानिल द्वि-जिह्वों (सर्पों) को सुखी और राजी, द्विजिह्वों अर्थात् पिशुनों को दुःखी करता है।

(४) प्रस्पर्धते मद्यशसाऽस्य सूनुः शशीत्यमर्षात् किल योऽम्बुराशेः।
गाम्भीर्यलक्ष्मीं हरति स्म किन्न सुतापराधे जनकस्य दण्डः ॥२४॥

यहां नयचन्द्र ने गूढोपमा और अर्थान्तरन्यास का अच्छा मिश्रण किया है। समुद्र का पुत्र चन्द्रमा अपनी धवलता के कारण उसके यश की बराबरी करता है। यह उसका महान् अपराध है, यही सोच कर उसने चन्द्रमा के पिता समुद्र की गाम्भीर्य-लक्ष्मी का हरण कर लिया। यदि किसी का पुत्र प्रमाद या मदवश राजा की बराबरी करने चले तो उसे दण्ड दिया ही जाता है।

(५) प्रवाद्यमाने रणवाद्यवृंदे संपश्यमानेषु दिवः सुरेषु।
शौर्यश्रियं यो रणरंगभूमावनर्तयद्वेल्लदसिच्छलेन ॥३०॥

इतनी सुन्दर गूढोपमा कितनी मिल सकती है ? जब नट नर्तकी को नचाता है तो अनेक प्रकार के वाद्य बजते हैं और प्रेक्षक अपने-अपने स्थान पर बैठ कर नृत्य का आनन्द लेते हैं। राजा ने अपनी चक्कर लगाती हुई तलवार के बहाने जब शौर्यश्रीरूपी नर्तकी को रण-रंगभूमि में नचाया उस समय उसी तरह चारों तरफ जुझाऊ बाजे बज रहे थे और देवता लोग आकाश से इस विचित्र नृत्य का प्रेक्षण कर रहे थे।

(६) यस्य प्रतापज्वलनस्य किंचिदपूर्वमेवाजनि वस्तुरूपं।
जज्वाल शत्रौ सरसे प्रकामं यन्नीरसेस्मिन् प्रशशाम सद्यः ॥३८॥

यहां कवि ने विरोधालङ्कार का प्रयोग किया है। चन्द्रराज की प्रतापाग्नि का कुछ विचित्र ही स्वरूप था। अग्नि नीरस को जलाती और सरस को छोड़ती है, किन्तु उसकी प्रतापाग्नि सरस शत्रुओं को जलाती और नीरस अर्थात् दुर्बल शत्रुओं का त्याग करती थी।

(७) चापस्य यः स्वस्य चकार जीवाकृष्टिं रणे क्षेप्तुमनाः शरौघान्
जवेन शत्रून् यमराजवेश्माऽनैषीत्तदेतन्महदेव चित्रम् ॥३९॥

यह श्लेष के आधार पर विरोधालङ्कार का नमूना कहा जा सकता है। राजा युद्ध में बाण चलाने की इच्छा से इधर अपने धनुष की जीवा-

कृष्टि करता और उधर उसके शत्रुओं का जीवाकर्षण अर्थात् जीवान्त होता। यह अत्यन्त ही विचित्र बात थी कि जीवाकर्षण एक का हो और जीवान्त किसी अन्य का। विरोध यह जानते ही दूर हो जाता है कि धनुष के जीवाकर्षण का अर्थ किसी जीव का आकर्षण नहीं, अपितु उसकी जीवा यानि प्रत्यंचा का खींचना मात्र है।

(८) यत्कीर्तिपूरैरभितः परीते विश्वत्रये सूरिभिरित्यतर्कि।
तप्तं प्रतापैर्ध्रुवमेतदीयैर्विलिप्तमेतन्नवचन्दनेन ॥४५॥

यदि कवि समय के अनुसार ही संसार की स्थिति मानी जाय तो अच्छी अतिशयोक्ति है। त्रिलोकी भूपाल की धवल एवं आनन्ददायिनी कीर्ति से परिपूर्ण हो गई। यह देख कर विद्वानों ने सोचा, 'विश्वत्रय राजा के तीव्र प्रताप से निश्चित ही तप्त हो चुका था। कीर्ति का प्रसार सम्भवतः उस ताप को दूर करने के लिए चंदन का लेप है।

(९) यदीयकीर्त्यापिहृतां समंतान् निजां श्रियं स्वर्गधुनी विभाव्य।'
पतत्प्रवाहध्वनिकैतवेन कामं किमद्यापि न फूत्करोति ॥४६॥

यह अतिशयोक्ति भी कुछ कम नहीं है। जल-प्रपात की ध्वनि को किसने नही सुना है? किन्तु, उससे यह कल्पना करना कि यह गङ्गा का मात्सर्ययुक्त फूत्कार है कवि नयचद्र का ही कार्य है। गङ्गा को शायद अपनी धवलिमा और स्वच्छता का अत्यंत गर्व था। चक्री जयपाल की धवल कीर्ति ने गङ्गा के इस गर्व को चूर्ण कर दिया; उसने इसकी शोभा का सर्वथा हरण कर लिया। फिर बेचारी स्वर्धुनी फूत्कार न करती तो क्या करती?

(१०) कामं यदोजः सृजि वेधसोऽपि स्वेदोदयः कोऽपि स आविरासीत्।
प्रसर्पता येन नदीवदम्बुराशेरपि क्षारमकारि वारि ॥५१॥

प्रतीत होता है कि नयचन्द्र अतिशयोक्ति में खूब सिद्धहस्त थे। चक्री जयपाल साधारण तेज वाला पुरुष न था। अतः ब्रह्मा ने जब जयपाल की सृष्टि की तो परिश्रम के मारे उसके शरीर से पसीना बहने लगा, और वह भी इतनी मात्रा में कि उसकी नदी ने समुद्र के जल को खारा कर दिया।

(१२) यशोविताने स्फुरिते यदीये व्यक्तो यदालक्षि न शीतरश्मिः।
तदाविशंके विधिना व्यधायि तदीयबिम्बान्तरयं कलंकः ॥५४॥

चन्द्रबिंब में धब्बा दिखाई पड़ता है। इसके विषय में कवियों की एक से एक बढ़ कर कल्पनाएं हैं। नयचन्द्र की सूझ शायद सबसे अच्छी न हो; किंतु तो भी कवित्वपूर्ण है। "जयराज के धवल यशःसमूह के सर्वत्र प्रसृत होने पर धवल वर्ण वाली वस्तुएं स्वभावतः उसमें विलीन हो गईं। धवल रंग वाला चन्द्रमा भी न दिखाई पड़ने लगा। सम्भवतः उसी समय ब्रह्मा ने चन्द्रमा की पहचान के लिए उसके श्वेत बिंब में यह काला धब्बा लगाया था।

चरित्र-चित्रण में भी नयचन्द्र ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। इनकी लेखनी-तूलिका से छोटे-से-छोटे पात्रों की भी चरित्र-रेखाएं अत्यंत स्पष्टता और खूबी से खींची गई हैं। वीर महिमासाहि, अन्धा धर्मसिंह, वेश्या धारा, स्वामिद्रोही रतिपाल, खड्गग्राही भोज, विलासप्रिय हरिराज—ये सब नयचन्द्र की लेखनी से केवल चित्रित ही नहीं हुए, अपितु प्रायः सजीव हो उठे हैं। जहां कवि ने चरित्रनायक हम्मीरदेव के गुणों की प्रशंसा की है, वहां उसके दुर्गुणों का भी दिग्दर्शन कराया है। काव्य को पढ़ कर हम सहज ही समझने लगते हैं कि क्रोध की अत्यधिक मात्रा, प्रजा में अनुचित करों के कारण असन्तोष, आन्तरिक फूट आदि भी हम्मीरदेव के पतन के मुख्य कारण थे। स्त्रियों में देवल्लदेवी का चरित्र सबसे अधिक स्पष्ट है। नयचन्द्र ने पिता-पुत्री के पारस्परिक प्रेम और कुल-गौरव की वेदी पर इस स्नेहमयी बालिका के बलिदान का अच्छा वर्णन किया है।

नयचन्द्र ने यशःप्राप्ति, हमीर-वृत्तस्तवन एवं राजन्यपुपूषा इन तीन प्रयोजनों से हम्मीर-महाकाव्य की रचना की थी। कवि को इन तीनों लक्ष्यों में पूर्ण सफलता मिली है। नयचन्द्र का यश चिरस्थायी है, उनकी लेखनी ने उन्हें और वीरवर हठीले हम्मीरदेव को अमर कर दिया है। राजन्यपुपूषा के लिए भी ग्रंथ में पर्याप्त सामग्री है। इस वीर-चरित को पढ़ कर किस राजपुत्र के हृदय में यह इच्छा उत्पन्न नहीं होती कि वह इस चाहमान वीर के समान कर्तव्य-पालन कर अपने यशः शरीर को चिरस्थायी करे? इसके अतिरिक्त यह काव्य राजनीति का प्रकृष्ट भण्डार है। कान्ता-सम्मित ललित शब्दों में नयचन्द्र ने सुन्दर उपदेश की पर्याप्त योजना की है। पृथ्वीराज तृतीय के छोटे भाई विलासी हरिराज का चरित्र चित्रित करते हुए आप लिखते हैं—

---

[1] देखो हम्मीर महाकाव्य, सर्ग १, श्लोक ६–१०, सर्ग १४ श्लोक ४३

इति तासां स्फुरद्भासां नाटचं पश्यन्नहर्निशम् ।
क्षणमात्रमपि त्यक्तुं नालंभूष्णुरभूदयम् ॥१२॥

ततोसौ गीतनृत्तादिदक्षदानपरायणः ।
मितपचत्वं शिश्राय सेविनां जीविकार्पणे ॥१३॥

वार्तामलभमानास्ते तस्य सेवामहासिषुः ।
स्वार्थसिद्धिं विना कोपि किं स्यात्कस्यापि सेवकः ॥१४॥

राजस्थितिं तथाभूतां दर्शं दर्शं प्रजा अपि ।
विरज्यन्ते स्म तस्मात् स्राक् स्त्रितमा दुर्भगादिव ॥१५॥

एतत्स्वरूपं विज्ञाय प्राग्वैरी शकनायकः ।
स सैन्योऽभ्येत्य दिल्लीतो देशसीमानमानशे ॥१६॥

सांतःपुरपुरंध्रीकस्ततोऽसौ ज्वलनेऽविशत् ।
भाविनी यादृशी कीर्तिर्मतिः स्यात्तादृशी नृणाम् ॥१९॥[1]

जैत्रसिंह का हम्मीर को उपदेश, धर्मसिंह द्वारा रणथम्भोर राज्य में कर-वृद्धि और उसका बुरा फल, खड्गग्राही भोज का विभीषण की तरह रणथम्भोर का त्याग, रतिपाल का स्वामिद्रोह और उसकी कुगति आदि स्थल केवल राजन्यों के लिए ही नहीं अपितु जन-साधारणमात्र के लिए भी उतने ही पठनीय हैं। धर्मसिंह द्वारा अनुचित कर-वृद्धि के विषय में ये दो श्लोक कम-से-कम मुझे तो अच्छे प्रतीत हुए हैं—

द्रव्यैः संपूरयन् कोशं राज्ञोऽभूद् भृशवल्लभः ।
वेश्यानां च नृपाणां च द्रव्यदो हि सदा प्रियः ॥१६९॥
प्रजादण्डेन यत्तेन प्रतेने कोशवर्धनम् ।
तत्किं स्वस्यैव मांसेन न स्वदेहोपबृंहणम् ॥१७०॥[2]

नयचन्द्र के काव्य-विषयक विचार

संभवतः अब पाठकों को नयचन्द्र के कवित्व के विषय में कुछ संदेह न रहा होगा; किंतु, नयचन्द्र केवल कवि ही नहीं काव्य-सिद्धांत के पंडित भी थे।

हम्मीर-महाकाव्य के अंतिम सर्ग में नयचन्द्र ने अपने सिद्धांतों का कुछ आभास दिया है। वे यह मानने के लिए तैयार नहीं कि सरस काव्य का आधार अनुभव मात्र है। वास्तव में कवि का सरस कवित्व इतना ही स्वभावजन्य है

---

[1] सर्ग, ४
[2] ,, ९

जितना कि चपलनयना युवतियों के तारुण्य का लालित्य। कविसम्मत कई बातें तो अनुभव के आधार पर सिद्ध ही नहीं हो सकती; कुन्दोज्ज्वला कौमुदी, श्वेत-कीर्ति और कृष्णवर्णा अकीर्ति का किसने अनुभव नहीं किया है? वाग्देवी स्वयं कुमारी हैं। काम-शास्त्र के अनेक लेखक जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी और कवि अमर स्वयं महा तपस्वी थे। यदि शृंगार-रस के वर्णन के लिए अनुभव को आवश्यक माना जाय तो यह तो अनेक पुरुषों में है। फिर भी, वे इन महान् कवियों के समान या बढ़ कर कविता क्यों नहीं करते? सच तो यह है कि शृंगार-रस का ललित शब्दों में वर्णन करने वाले तो और ही होते हैं, और उसका अनुभव करने वाले और ही। हाथी के खाने के दांत और होते हैं और दिखाने के और।

काव्यों में भी उत्तम वही है जो रस-बहुल हो; जिसे पढ़ते ही हृदय आनंद से परिपूर्ण हो जाय; वर्ण, तर्ण, सुपर्ण अभ्यर्णादि के शब्दाडम्बर से क्या लाभ? काव्य में एक-आध अप-शब्द भी हों तो कोई हानि नहीं, आवश्यकता केवल इतनी ही है कि वे अर्थ देने में समर्थ हों और इसकी परिपुष्टि करें।[1]

नयचन्द्र के ये विचार कहां तक युक्तियुक्त हैं; यह हम यहाँ विचार न करेंगे। कम-से-कम इनकी मौलिकता तो स्पष्ट ही है।

नयचन्द्र

काव्यालोचन के बाद काव्यकर्ता नयचन्द्र के विषय में भी कुछ शब्द आवश्यक हैं। आप कृष्णर्षिगच्छ के श्री जयसिंह सूरि के प्रशिष्य थे। जयसिंह अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे। उन्होंने छः भाषाओं में कविता करने वालों के शिरोमणि सारंग को वाद में पराजित किया था।[2] यह सारंग सुप्रसिद्ध शार्ङ्गधरपद्धति के संकलयिता कवि-श्रेष्ठ शार्ङ्गधर हो सकते हैं। श्री जयसिंह ने न्यायसार पर टीका और एक नवीन व्याकरण की रचना भी की थी। जयसिंहरचित कुमारपाल-चरित प्रसिद्ध हैं। सम्भवतः साहित्य, व्याकरण और दर्शन-शास्त्र, इन तीनों विद्याओं में पूर्ण निष्णात होने के कारण ही इन्हें 'त्रैविद्यवेदिचक्री' की पदवी मिली थी।[3] नयचन्द्र इन्हीं जयसिंह के शिष्य प्रसन्नचन्द्र के शिष्य थे।

कुछ विद्वानों ने इन जयसिंहसूरि को वस्तुपाल के समकालीन जयसिंह-

---

[1] हमीर महाकाव्य, सर्ग १४, श्लोक २६–४०

[2] ,, ,, ,, ,, २३

[3] ,, ,, ,, ,, २४

सूरि मानने की भूल की है। वस्तुपाल का समय विक्रम की तेहरवीं शताब्दी के अन्त में और नयचन्द्र के प्रगुरु जयसिंह का समय पन्द्रहवीं शताब्दी के आरंभ में है। इन्होंने सं० १४२२ में कुमारपाल-चरित की रचना की और नयचन्द्र ने उसका प्रथम आदर्श लिखा।

रम्भामञ्जरी नाटिका के लेखक का नाम भी नयचन्द्र है। ये भी अच्छे कवि होने का दावा करते हैं; किंतु, न उनकी रचना में इतना गाम्भीर्य है और न ऐतिहासिक तथ्य। सम्भवत: वे जैन भी न थे; उन्होंने रम्भामञ्जरी का आरंभ वराहावतार, सरस्वतीकटाक्षादि की स्तुति से किया है। शब्दाडम्बर का भी इन्होंने कुछ अधिक प्रयोग किया है। इसलिये उन्हें हम्मीर-महाकाव्य के रचयिता नयचन्द्र से भिन्न मानना ही सम्भवत: उचित होगा।

ग्वालियर के तोमर नरेश वीरम की सभा में हमारे काव्यकर्ता का अच्छा सम्मान था। उसी के दरबारियों के यह कहने पर कि अब पूर्व-कवियों के समान कोई काव्य रचना नहीं कर सकता और राजा का इशारा पाने पर नयचन्द्र ने शृङ्गारवीराद्‌भुत रसपूर्व हम्मीरमहाकाव्य की रचना की थी।[1] वीरम का पौत्र डूंगरसिंह संवत् १४९७ में[2] और वीरम का दादा सुल्तान फिरोज तुग़लक (सन् १३५१-१३८८ ई.) के समय वर्तमान था।[3] इसलिये बहुत सम्भव है कि हम्मीरमहाकाव्य का प्रणयन संवत् १४४० के कुछ बाद हुआ हो। नयचन्द्र ने सं० १४२२ में कुमारपाल-चरित का प्रथम आदर्श लिखा था। संवत् १४४० में उनकी आयु पचास के आसपास रही होगी। वे उस समय तक अपने कवित्व का पूर्ण विकास कर चुके थे; राजाओं को भी यह विश्वास होने लगा था कि वे पूर्व-कवियों के समान प्रतिभायुक्त हैं। अत: यह मानना सम्भवत: अनुचित न होगा कि हम्मीर-महाकाव्य नयचन्द्र की प्रौढ, शायद सब से अधिक प्रौढ़, कृति है।

आचार्य-प्रवर मुनिराज श्री जिनविजयजी की कृपा के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूं। यह आप ही का अनुग्रह है कि मैं ये शब्द पाठकों के सम्मुख रख रहा हूं। मुझे खेद केवल इतना ही है कि मैं आचार्य देव की आज्ञा का इतने विलम्ब से और इस अपूर्ण रूप में पालन कर सका हूं।

विक्रम भवन,   दशरथ शर्मा
इन्द्रप्रस्थ,
प्रथम चैत्र शुक्ला एकादशी, सं० २००२

---

[1] हम्मीर-महाकाव्य, सर्ग १४, श्लोक ४३

[2] D. R. Bhandarkar, Inscriptions of Northern India, No. 785

[3] श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा—राजपूताने का इतिहास, जिल्द पहली, (द्वितीय संस्करण), पृ० २६७

Introduction to the First edition of

The Hammira Mahakavya

written by

Nilkanth Janardan Kirtane

THE HAMMIRA MAHĀKĀVYA

OF NAYACHANDRA SŪRI

[By - Nilkanth Janārdan Kirtane]

Dr. Bulher, in his Introduction to the *Vikramānka Charitra* (p.2), mentions the *Hammīramardana*, or "The destruction of Hammira", as an historical Sanskṛit poem that was extant some ninety years ago in the Jain library at Jēsalmir. I have recently obtained a work, written in the Jain character, styled *The Hammīra Mahākāvya*, which, not withstanding the difference of the title, I presume is a copy of the same work as that which was once in the Jēsalmir Sarasvati Bhāṇḍār, since it ends with the death of H a m m ī r a and a lamentation over the event. Colonel Tod, indeed, mentions in his *Rājasthān* a *Hammīra Kārya* and a *Hammīra Rāsā*, both composed, he says, by S'ā r a ṅ g a d h a r a, whom he makes the bard of H a m m ī r a C h o h ā n of R a ṇ a t h a ṁ b h ō r. We have the authority of S'āraṅgadhara himself for stating that he was not contemporary with H a m m ī r ā C h o h ā n of Raṇathaṁbhōr, and that his grandfather, R a g h u n ā t h a, was that prince's G u r u or spiritual teacher. S'ā r a ṅ g a d h a r a in his *Paddhati,* and G a d ā d h a r a in his *Rasika Jīvan*, under the head of "anonymous," quote some verses relating to H a m m ī r a that have no place in the present *Kāvya.* Appayyā Dīkshita, also, in his *Kuvalayānanda,* cites a verse as an instance of the *Akramātis'ayokti Alaṁkāra* of which the subject is H a m m ī r a, and which is not to be found in the work of our author. This shows that there must be some other poem in Sanskṛit bearing the name of *Hammīra Kārya*; but it may be doubted whether it has any reference to the history of the hero of our poem. Colonel Tod does not inform us in what language the *Hammīra Kāvya* and the *Hammīra Rāsā* were written, though he says he possessed both, and mostly translated with the assistance of his Jain Guru. He does not attempt anything like a connected narrative of H a m m ī r a.

Indeed, what he says incidentally of Hammīra does not at all relate to any one individual of that name, but is a jumble of anecdotes relating to several distinct personages bearing the same name.

I obtained the *Hammīra Mahākāvya* through Mr. Govinda S'ās'-tri Nirantar of Nāsik, who got it from a friend of his.

The colophon reads—"The present copy was made for the purpose of reading by N a y a h a ṁ s a, a pupil of Jayasiṁha Sūri, at Firuzpur, in the month of S'rāvaṇa of the Saṁvat year 1542" (A.C. 1496). Possibly this was made from the poet's original copy, and, as such, possesses an interest of its own.

N a y a c h a n d r a S ū r i's work, as a poetical composition, has considerable merits, and deserves publication as a specimen of the historical poems so rarely met with in the range of Sanskṛit literature. Though the author did not live, like B ā ṇ a and B i l h a ṇ a, in the reign of the hero whose history he celebrates, yet his work is not of less historical importance than theirs. The information that the poems of Bāṇa and Bilhaṇa contain has been made accessible to English readers through the labours of two eminent European Sanskṛitists. The present attempt to place the English reader in possession of the historical information contained in the *Hammīra Kāvya* will, I presume, be acceptable to those who are interested in the advancement of our knowledge of Indian history.

Following the custom of other writers in Sanskṛit, who have attempted historical compositions, our author devotes the greater part of one entire chapter, the fourteenth and last, to an account of his lineage, and the reasons that led to the production of his work. Part of this will bear reproduction here in an English dress:-

"Hail, Kṛishṇa Gachha, who gladdened the whole earth, the beauty of whose person was like that of a blooming bunch of the *Navajāti* flower, and whose praises were celebrated by crowds of learned men, who might well be compared to so many black humming-bees;- he whose feet were ever borne on the crowns of the followers of the Jain religion !

"In the circle of the Sūris, whose actions are the homes of wonders, in time, J a y a s i ṁ h a S ū r i was born, who was the crowning

ornament of the wise; who easily vanquished in disputation S'ā r a ṅ g a, who was the leading poet among those who were able to write poetical compositions in six languages, and who was honest among the most honest; who wrote three works,—(1) *Nyāya Sāraṭīkā*, (2) A New Grammar, (3) A Poem on K u m ā r a N ṛ i p a ṭ i,—and who hence became known as the chief of those who knew the three sciences of logic, grammar, and poesy.

"To the lotus-like Gādi of J a y a s i ṁ h a, N a y a c h a n d r a is like the life-giving sun; who is the essence of the knowledge of the sciences, who is the exciting moon to the sea of the races of the poets. This poet, his spirits raised to the height of the subject by a revelation imparted to him in a dream by the king H a m m ī r a himself, has composed this poem,[1] which is gratifying to the assembly of the kings, and in which the heroic (*rasa*) is developed.

"The author in lineal descent is the grandson of J a y a s i ṁ h a S ū r i, the great poet, but in that of poesy his son.

"Let not good readers take into much account the faults of expression that I may have fallen into. How can I, who am of mean capacity, escape stepping into that path which even poets like Kālidāsa[2] were not able to avoid? But a poem that is replete with good matter loses none of its value for a few common-places of expression."

The poem begins, as is usual with Sanskṛit authors, with invocations addressed to several deities, and the author has been at the pains of making the invocations seem applicable to both the Hindu gods and some of the Tīrthaṅkaras of the Jainas. This procedure

---

1 Our poet also says that he was incited to the composition of this poem by a rash assertion, which some courtiers of king Tomara Vīrama had the presumption to make in the presence of our poet, that there existed no one now who could compose a poem that would come up to the excellence of the works of old Sanskṛit poets. King Tomara Vīrama whoever he was, appears to have lived seventy years before Akbar.

2 Perhaps our author had in view the following lines of *Dhanañjaya* :

अपशब्दशतं माघे भारवौ तु शतत्रयम् ।
कालिदासे न गण्यंते कविरेको धनञ्जयः ॥

calls for remark. N a y a c h a n d r a S ū r i, as his name implies, is a Jain by persuasion, and his seeming to invoke blessings at the hands of the most prominent members of the orthodox Hindu pantheon is to be explained either by the freedom of thought so characteristic of the age in which the author lived, when the narrow and bigoted intolerance even of the Muslim had begun to appreciate the beauties of the allegorical language of the Hindu popular religion, or by the strong desire of writing *dvayartha* ('having two meanings') verses, with which the author seems possessed.[3]

The hero of the poem is H a m m ī r a C h o h ā n of R a ṇ a s t h a ṁ b h a p u r a (R a ṇ a t h a ṁ b h ō r), a name celebrated in Hindi song. H a m m ī r a is one of those later heroes of India who measured their swords with the Muhammadan conquerors and fell in the defence of their independence. Even the history of the conquered is not without interest. The man who fights against hope,—fights because he thinks it his duty to do so,—who scorns to bow his neck before the oppressor, because he thinks such a course opposed to the ways of his ancient house, deserves our sympathy and our admiration. H a m m ī r a is such a character. The poet places him

3 Probably everybody has heard of the *Rāghava Pāṇḍavīya Kāvya*, every line of which can be so construed as to apply to either Rāma or the Pāṇḍavas, at the option of the reader. I have recently been shown a *Kāvya* called the *Sapta Sandhān Mahākāvya*, by Megha Vijaya Gaṇi, a learned Jain of recent times, every verse of which can be made to apply alike to Rāma, Kṛishṇa, and Jinendra.

In the present *Kāvya* the first *s'loka* of the Nāndi is addressed to the Paranjyotis—'the divine flame,'—a manifestation of the divine being in whom both Hindus and Jainas, especially the Kevali Jainas, believe. The second *s'loka* is addressed to Nābhibhū, which may mean the Brahmā of the Hindus, or the son of Nābhi (Rishabha Deva), the first Tīrthaṅkara of the Jainas. The third is addressed to S'rī Pārs'va, whom the Hindus may take for Vishṇu, the Jainas for S'rī Pārs'vanātha, the 23rd Tīrthaṅkara. The 4th *s'loka* is addressed to S'aṅkara Vīravibhu, which may mean either Mahādeva or Mahāvīra, the 24th Jain Tīrthaṅkara. The fifth verse is addressed to Bhāsvān Sas'ānti, who may either stand for the Sun, or S'ānti, the 16th Jain Tīrthaṅkara. The sixth is addressed to Samudra Janman, which may be either the Moon, or Neminātha, son of Samudra, the 22nd Jain Tīrthaṅkara.

on a par with M ā ṅ d h ā t ā, Y u d h i s h ṭ h i r a, and R ā m a. This is poetical exaggeration, but we have no mean measure of praise in the following verses; and the grounds of eminence mentioned are some of the proudest that a Rājput can cherish, and a rigid maintenance of which singles out the race of the Sisodyās of U d a y a p u r and the H ā r ā s of K o ṭ ā and B ū ṅ d ī as the noblest among the chivalry of Rājasthān :

"सत्त्वैकवृत्ते: किल यस्य राज्यश्रियो विलासा अपि जीवितं च ।
शकाय पुत्रीं शरणागतांश्चाऽप्रयच्छत: किं तृणमप्यऽभूवन् ।"

Born in the noble house of the C h o h ā n s, to whom, as Tod observes, "the palm of bravery amongst the Rājput races must be assigned," H a m m ī r a tried to uphold the independence of his race and to make its usages respected, and was for a time preeminently successful in his wars against his enemies. Some of these were undertaken to protect those who had sought refuge with him (*saraṇā*) , and so far were disinterested. Indeed, he fell in a war undertaken to protect a Moṅgol nobleman who had fled to him from the tyranny of A l ā u' d - d ī n. "In the third year of the reign of, A l ā u' d - d ī n, a nobleman whom he had disgraced took refuge with Hammira, the Chohān prince of Raṇthambhōr, one of the strongest forts in India. A l ā u' d - d ī n demanded the delinquent of the Hindu monarch, who nobly replied that the sun would sooner rise in the west, and Sumeru be levelled with the earth, than he would break his plighted faith to the unfortunate refugee. The siege of R a ṇ a t h a ṁ b h ō r was immediately commenced, and the fort was at length captured, but the heroic Hammīra fell in its defence; and the females of his family, determining not to survive him, perished on the funeral pile." This history of Hammīra supplies some information which the sentimental and enthusiastic annalist of Rājasthān would have gladly interwoven into the pages of his work, and which sheds fresh light on the eventful period in which the hero lived.

The *Hammīra Mahākāvya* is divided into fourteen cantos, of which the first four are concerned with the hero's ancestors,—the C h o h ā n s, many of whom were paramount lords of India. 'The empire belongs to the Chohān' is an admitted Indian historical fiction,

and the mere mention of the names of the old kings, many of whom were the lords paramount of India, accompanied as it is with much poetical nonsense, carries our knowledge of them a step further than the researches of Colonels Wilford and Tod.

The narrative is, all through, very uneven. The genealogy of the C h o h ā n s, as given in the first three chapters, though with some more names than are to be found in Tod's list, cannot be regarded as satisfactory. The author really knew nothing about the more ancient kings of the race; the names are simply brought into give him opportunities of displaying his power for poetical conceits, and thus the accounts of the princes about whom he had no historical information are filled with fanciful conceptions, in which some of the natural phenomena are explained with admirable contempt of the teachings of the "proud philosophy" of Nature. From P ṛ i t h-v i r ā j a C h o h ā n to the death of H a m m ī r a the narrative is fairly historic; but the author now and then, even here, relapses into rhapsody which amounts to a confession of his ignorance of the historical facts of the reign in hand.

Cantos V.—VII. of the poem are taken up, according to the rules of Sanskṛit epic poetry, with descriptions of the seasons, and the sports and festivities in which Hammīra engaged. These cantos, as not possessing any historical value, may be ignored in this precis of the poem. I pass over a long lecture also on *Nītis'āstra* which Jaitrasingh, the father of Hammīra, is made to deliver to Hammīra. Chand gives a similar dissertation on grammar in his *Pṛithvirāja Rāsau*.

With these introductory remarks, I come to the *Pūrvaja Varaṇanam*, i. e., the account of the ancestry of H a m m ī r a; and, in order to give some faint idea of the author's style of writing, I shall, in the following, attempt some sort of translation of the first few reigns. The style throughout is so ornate, inflated, and redundant, and the tendency of the author to punning is so persistent, that a longer translation is as difficult as the task would be tedious:—

"Once upon a time, Brahmā wandered in search of a holy place where to hold a sacrifice. The lotus which he held in his hand fell on the ground as if unable to bear the superior beauty of the lotus-

like palm of the god. The god from this circumstance regarded the spot where the lotus fell as an auspicious one, and there, freed from anxiety, commenced the sacrifice. Anticipating persecution from the Dānavās, the god remembered the thousand-rayed one (*the Sun*), when a being, his face surrounded by a halo of radiance, came down from the orb of the sun. Him, the destroyer, Brahmā appointed to the work of protecting the sacrifice.

I. "From that very day the place where the lotus fell has been called P u s h k a r a, and he who came down from the sun the C h o h ā n.[4] Having obtained the paramount power from the four-faced Creator, he ruled over the heads of the kings, as his ancestor the sun rules over the heads of the mountains. B a l i, mortified at seeing the glory of his charity eclipsed by the greater charity of this king, has hidden himself in the nether world; for what else could a man afflicted with shame do ? The moon, taken to task by this prince for attempting to rival his glory, every month hides himself, through fear, in the sun's disk, and comes out as if desirous of propitiating the offended king by presenting him with the brilliant orb. The fire of the king's valour has so burnt the gardens of the fame of his enemies, that the smoke issuing from the conflagration, ascending into the atmosphere, has to this day left its mark in the blue sky. The S'e s h n ā g a, when he heard of the fame of this prince, was tempted to nod approval, but, fearing that the earth resting on his hoods might be thereby convulsed with pain, refrained from giving way to the generous impulse. Angry that his son should rival him in glory, the king deprived the ocean of his wealth of gravity. Are not sometimes fathers made to suffer for the faults of their sons ? By the name of Chohān, this prince became the shoot of the family tree, served by the poets; famous in the three worlds; the bearer in abundance of human pearls. In this family rose many a monarch surrounded by a halo of glory, whose lives, beautified with the triple

4 The "Chaturbhuja" Chohān, as described by Tod, issued, like the other three progenitors of the Agnikulas—Paramāra, Parihāra, Chālukya—from the Agni Kuṇḍa, the sacrificial fire fountain. But the genesis is described differently in different books. Perhaps where there is no truth we must not expect to find concord.

acquisition,[5] are able to destroy mountains of sins.

II. V ā s u d e v a—"In process of time D i k s h i t a V ā s u d e v a was born, who conquered the world by his valour; who seemed the very incarnation of V ā s u d e v a come down to this earth for the destruction of the demon S' a k ā s. He whetted his sword, blunt with striking down the heads of his enemies, in the fire of his valour, and then cooled the steel in the water of the tears gushing from the eyes of the wives of his enemies. The goddess of victory, as if enamoured of this prince, shone in his hand in the battle-field in the disguise of his sword red with the blood of the necks of his enemies that he had served. In the field of battle, while the martial bands were playing, and the gods in the heavens viewing the performance, the king caused the goddess of victory to dance in the guise of his quivering sword. Does not the sun, surpassed by this prince in brilliancy, drown himself in the deep, and— alas ! for the pain of dying—come every day above the waters in his struggles ?"

III. N a r a d e v a—"V ā s u d e v a begat N a r a d e v a, fit to be praised by Brahmā himself; the delight of the eyes of women—his body surpassing in beauty that of Cupid himself. When the king went out into the world, the other chiefs, to protect their possessions, did not take the sword out of its sheath, but only took wealth from their coffers. In the battlefield his arms, bearing the brilliant white sword, bore the beauties of the Eastern Mountain destroying the freshness of the lotuses of the faces of his enemies. It is but natural that the fire of the king's valour should have burnt down the forests of iniquity, but it is strange that the same fire should have filled his enemies with cold shakings. Methinks the sun, with his progeny, in token of submission, had fixed his abode in the toe-nails of this prince."

IV. "C h a n d r a r ā j a by his fame and the beauty of his countenanance, achieving a double conquest over the moon, vindicated the appropriate significance of his name, which means 'Lord of the moon.' Strange was the power of the fire of his valour, for it burnt

5 Acquisition of *artha* (wealth), *kāma* (love), and *moksha* (salvation).

bright in the enemy in whom the stream of bravery flowed, while it was extinguished in that enemy who was destitute of this stream,"&c.

The above paragraphs may suffice to show the style of fulsome eulogy used by the poet in disposing of those princes of whom he had no historical information to give. The same similes occur again and again, and often the language is stiff and artificial.

I subjoin a list of the Chohān princes up to Hammīra as given by our author, and below that given by Tod in his *Rājasthān*:—

(1) Chāhaman (Canto. I sh 14–25).
(2) Vāsudeva (ib. 26–30).
(3) Naradeva (ib. 31–36).
(4) Chandrarāja (ib. 37–40)
(5) Jayapāla Chakri (ib. 41–52).
(6) Jayarāja (ib. 53–57)
(7) Sāmanta Siṁha (ib. 58–62)
(8) Guyaka (ib. 63–68)
(9) Nandan (ib. 67–71)
(10) Vapra Rāja (ib. 72–81)
(11) Hari Rāja (ib. 82–87)
(12) Siṁha Rāja (ib. 88–102)–(killed Hetim, the Muhammadan general, and captured four elephants in the battle).
(13) Bhīma (nephew of Siṁha, adopted by him) (Canto II sh. 1–6).
(14) Vigraha Rāja (killed Mūla Rāja of Gujarāt[6], and conquered the country) (ib. 7–9)
(15) Gaṅgadeva (ib. 10–15)
(16) Vallabha Rāja (ib. 16–18)
(17) Rāma (ib. 19–21)

6 According to the Gujarāti chroniclers, Mūla Rāja reigned from 998-1053 A.V. i.e. 55 years. Soon after his succession to the throne he was assailed by two armies - that of Sapādalakshiya, Rāja of S'akambhari (Sāmbhar), and that of Bārapa the general of Tailapa of Kaliyāṇ see *Ind. Ant.* Vol. VI p. 184. Sapādalakshiya might be a *biruda* of Vigraha Rāja. (Bhagavānlāla Indraji points out that Sapādalakṣa or Savālakha is the name of the Sivālik hills, and that the early rājās of Kamauṅ called themselves Sapādalakshanṛipatis and that the Sākambhari rājas may have originally come from that country.)

(18) Chāmuṇḍa Rāja (killed Hejama'd-dīn) (22–24)
(19) Durlabha Rāja (conquered Shahābu'd-dīn) (ib. 26–28)
(20) Dus'ala (killed Karṇadeva[7]) (ib. 29–32)
(21) Vis'vala (Visaldeva), killed Shah bu'd-dīn (ib. 33–37)
(22) Pṛithvi Rāja I (ib. 38–40)
(23) Alhaṇa (ib. 41–44)
(24) Anala (dug a tank at Ajmer) (ib. 45–51)
(25) Jagadeva (ib. 52–55)
(26) Vīs'ala (ib. 56–59)
(27) Jayapāla (ib. 60–62)
(28) Gaṅgapāla (ib. 63–66)
(29) Somes'vara (married Karpurā Devī, or according to Tod, Rukādevī, daughter of Anangapāla Tuṅar of Delhi) (ib. 67–74)
(30) Pṛithvi Rāja II (Canto II. sloka 75-Canto III sloka 72)
(31) Hari Rāja (ib. 91) (Canto III. sloka 73 - Canto IV. sloka 19)
(32) Govinda of Raṇatha bhōr, father of - (Canto IV. sloka 20–31)
(33) Bālhaṇa — had two sons-Prahlāda and Vāgbhaṭa (Canto IV. s'loka 32–40)
(34) Prahlāda (Son of Bālhaṇa) (41–71)
(35) Vīranārāyaṇa (son of Prahlāda) (72–105)
(36) Vāgbhaṭa (son of Bālhaṇa) (106–130)
(37) Jaitrasingh (son of Vāgbhaṭa) (131–142)
(38) Hammīra (son of Jaitrasingh) (Canto IV. 143 –Canto XIII. sloka 225)

Genealogy of the Chohāns as given by Tod :—

Anhala or Agnip la (the first Chohān ; probable period 650 before Vīkrama, when an invasion of the Turushkās took place; established Mākāvatī Nagri (Garha Maṇḍla); conquered the Koṅkaṇa Aser, Golkondā.

---

7 Is this Karṇadeva the same with the Karṇadeva of Gujarāt, the fifth in descent from Mūla Rāja I. ? His date, as given by Dr. Būhler, is 1063-1093 A. D. Dus'ala is sixth in descent from Vigraha, the enemy of Mūla Rāja : see *Int. Ant* Vol. VI. p. 186.

Suvācha
Mallana
Galan Sūr

Ajipāla Chakravartti (universal potentate; founder of Ajmer - some authorities say in 202 of Vikrama; others of the Vīrataḥ Saṁvat; the latter is the most probable)[8]

Dola Rāya (slain, and lost Ajmer, on the first irruption of the Muhammadans, S. 741, A. D. 685).

Māṇikya Rāya (founded Sāmbhar ; hence the title of Sāmbharī Rāo borne by the Chohān princes : his issue slain by the Mosque invaders under Abdu'l Aās).[9]

Hars'arāja or Harihara Rāi (defeated Nazirud'din (qu. Subaktegin ?), thence styled 'Sultāngraha').

Bir Billaṇdeva, (Balianga Rāi or Dharmagachha ; slain defending Ajmer against Mahmud of Ghaznī).

Bīs'aldeva (classically Vīs'aladeva) ; his period from various inscriptions, S. 1066 to S. 1130.

Sāraṅgadeva, his son (died in nonage).

Āna Deva (constructed the Ānā Sāgara at Ajmer, which still bears his name) his sons -

Jayapāla or Jayasiṁha (A.D. 977) father of -

Hursapāl (Hispāl of Feris'tāḥ).

Ajaya Deva or Anandeva, son of Jayapāla (A.D. 1000) ; Bijayadeva and Udayadeva were his brothers.

Somes'vara, son of Ajaya Deva, married Rukābāī, the daughter of Anaṅgapāla of Dehli. His brothers were Kanharāya and Jaitrasīnha, Goelwala Kanharāya's son Is'varadāsa turned Muhammadan.

Pṛthvi Rāja (A.D. 1176), son of Somes'vara, obtained Dehli; slain by Shahābu'd-din, S. 1249, A.D. 1193.

---

8. Wilford inserts here Sāmanta Deva, Mahādeva, Ajaysiṁha, Vīrasiṁha, Vindāsura, and Vairī Vihanta.

9. Tod, Raj. vol. II., p. 444. Ten more names are given in *Bombay Government Selections*, vol. III., p. 193; and Prinsep's *Antiquities* by Thomas, vol. II., *Us. Tab.*, p. 247.

Reṇasī (A.D. 1192), son of Pṛthvirāja, slain in the sack of Dehli.

Vijayarāja, son of Chāhaḍadeva, the second son of Someśvara (adopted successor to Pṛthvirāja; his name is on the Pillar at Dehli).

Lākhanasī, son of Vijayarāja, had twenty-one sons; seven of whom were legitimate, the others illegitimate, and founders of mixed tribes. From L khansī there were twenty-six generations to Nonad Siṅha, the chief of Nīmrānā (in Col. Tod's time), the nearest lineal descendant of Ajayapāla and Pṛthvirāja).

As observed before, up to the time of P ṛ t h v i r ā j a the last great Chohāna, the poem is made up mostly of poetical bombast, in which, at intervals, a grain of historical matter may be found concealed under bushels of poetical chaff. It is therefore useless to give a further analysis of this part of the poem. I begin with S o m e ś-v a r a, the father of P thvi Rāja.

After the death of G a ṅ g a d e v a, who was brave like Bhīṣma of old, S o m e v a r a became king. He was married to K a r-p u r ā D e v ī, who gave birth to a son as the east gives birth to the cold-rayed beautiful disk of the moon This son was named P ṛ t h-v i r ā j a by the king, his father. Day by day the child throve, and grew up a strong and healthy boy. After he had acquired proficiency in letters and arms, S o m e ś v a r a installed him on the *gadi*, and himself retiring into the woods died in the practice of the *yoga*. As the eastern mountain shines beautiful by the rays that it receives from the author of day, so did P ṛ t h v i r ā j a shine in the royal insignia obtained from his father.

While Pṛthvīrāja was ruling over his subjects with justice, and keeping his enemies in terror, Shahābu'd-dīn was vigorously trying to subjugate the earth. The kings of the West, suffering greatly at his hands, chose S'ri C h a n d r a r ā j a, son of G o v i n d a r ā j a, as their spokesman, and in a body came to Pṛthvīrāja. After the customary presents had been offered, the suppliant kings seated themselves in the presence of P ṛ t h v i r ā j a who, seeing the settled gloom of their countenances asked the reason of their sorrow. C h a n d r a r ā j a replied to him that a Muhammadan named Shahābu'd-dīn had arisen for the destruction of kings, and that he had

pillaged and burnt most of their cities, defiled their women, and reduced them altogether to a miserable plight. 'Sire' said he, 'there is scarcely a mountain-pent valley in the country but is filld to suffocation with Rājpūts who have fled thither for protection from his tyranny. A Rājpūt has but to appear before him in arms, when at once he is transferred to Yama's gloomy realm. Methinks, S h a h ā-b u' d - d ī n is P a r a ś u r ā m a come down to this earth again for the extirpation of the warrior caste. The people are so panic-stricken that they abstain from rest, and, not knowing from what quarter he may appear, circumspectly raise their eyes in every direction. The noblest of the Rājpūt families have disappeared before him, and he has now established his capital at M u l t ā n. The Rājās now come to seek the protection of your Majesty against this unrelenting enemy and his causeless persecution.'

P ṛ t h v i r ā j a was filled with anger when he heard this account of the misdeeds of Shahābu'd-din, his hand was raised to his moustache by the vehemence of his feelings, and he declared to the assembled princes that he would force this Shahābu'd-dīn to beg their pardon on his knees with his hands and feet heavily manacled and fettered, else he were no true Chohān.

After some days, P ṛ t h v i r ā j a, with an efficient army, set out for M u l t ā n, and after several marches entered into the enemy's country. Shāhabu'd-dīn, when he heard of the king's approach, also advanced to encounter him. In the battle which ensued, P ṛ t h v i-r ā j a took S'hahābu'd-dīn captive, and was thus enabled to fulfil his vow : for he obliged the haughty Muhammadan on his knees to ask forgiveness of the princes whom he had despoiled. His vow now fulfilled, P ṛ t h v i r ā j a gave rich presents and gifts to the suppliant princes, and sent them to their respective homes. He also allowed S'ahābu'd-dīna, to go to Multān, bestowing on him like gifts.

S' a h ā b u'-d d ī n, though thus well treated, felt bitterly mortified at the defeat he had sustained. Seven times after this did he advance on P ṛ t h v i r ā j a to avenge his defeat, each time with greater preparations than before, but each time was signally defeated by the Hindu monarch.

When S'ahābu'd-dīn saw that he could not conquer Pṛithvirāja either by the force of his arms or by the ingenuity of his strategems and tactics, he communicated an account of his successive defeats to the king of the Ghaṭaika[10] country and solicited his aid. This he obtained in the form of many horses and men from the king's army. Thus reinforced, S'ahābu'd-dīn rapidly advanced upon Dehli, which he at once captured. The inhabitants were panic-stricken, and fled from the city in every direction. Pṛthvirāja was greatly surprised at this, and said that this S'ahābu'd-dīn was acting like a naughty child, for he had already been defeated several times by him, and as often allowed to go unmolested to his capital. Pṛthvirāja, elated with his former victories over the enemy, gathered the small force that was about him, and with this handful of men advanced to meet the invader.

Slightly attended as the king was, S'ahābu'd-dīn was greatly terrified at the news of the approach of the king, for he remembered too well the former defeats and humiliations sustained at his hands. In the night, therefore, he sent some of his confidential servants into the king's camp, and through them, with promises of large sums of money he seduced from their allegiance the king's master of the horse and the royal musicians. He then sent a large number of his Muhammadans secretly to the enemy's camp, who entered it early in the morning, when the moon in the west had scarcely reached the horizon, and the Sun was but beginning to illuminate the east.

All was now uproar and confusion in the king's camp. Some cried out, "Oh, brave comrades ! up and to your arms ! Haste, haste ! the enemy has approached and taken us by surprise. Let us fight and return conquerors to our homes or to heaven !" While the king's followers were thus preparing to meet their assailants, the disloyal master of the king's horse, as advised by his seducers, saddled and brought forth as the king's charger that day a horse styled Nāṭyārambha ('leader of the dance') ; and the musicians, who were waiting their opportunity, when the king had mounted, began to play upon their instruments tunes that were the king's favourites. At this

10. Might not this be a name for the modern Kumbheri ?

the royal steed began to dance proudly, keeping time with the musicians. The king was diverted with this performance for a time, and forgot the all important business of the moment.

The Muhammadans took advantage of the king's indolence and made a vigorous attack The Rājpūts, under the circumstances, could do little. Seeing this; P ṛ t h v i r ā j a alighted from his horse and sat on the ground. With the sword in his hand he cut down many Muhammadans. Meanwhile, a Muhammadan taking the king unawares from behind, threw his bow round his neck and drew the king prostrate to the ground, while other Muhammadans bound him captive. From this time the royal captive refused all food and rest.

P ṛ t h v i r ā j a, before he set out to encounter S'ahābu'ddīn, had commanded U d a y a r ā j a to follow him to attack the enemy. U d a y a r ā j a[11] reached the battlefield just about the time when the Muhammadans had succeeded in taking Pṛthvirāja captive. But S' a h ā b u' d–d ī n, fearing the consequences of further fighting with U d a y a r ā j a, retired into the city, taking with him the captive monarch.

When U d a y a r ā j a heard of the captivity of P ṛ t h v i r ā j a, his heart throbbed heavily with pain. He wished himself in the place of P ṛ t h v i r ā j a. He was unwilling to return back leaving the king to his fate. Such a course, he said, would be detrimental to his fair name in his own country of G a u ṛ a d e s' a. He therefore laid seige to the city of the enemy (Y o g i n ī p u r a or D e h l i, which S' a h ā b u' d–d ī n had taken possession of before this battle), and sat before the gates for a whole month, fighting day and night.

One day during the siege, one of S'hahābud-dīn's people went up to him and remarked that it would be becoming on his part for once to release P ṛ t h v i r ā j a, who had several times taken him captive and then dismissed him with honours. S'hahābu'd-dīn was not pleased with this noble speaker, to whom he replied sharply that councillors like him were the sure destroyers of kingdoms. The angry S'ahābu'd-dīn, then ordered that P ṛ t h v i a r ā j a should be taken into the

---

11. This must be the famous Udayāditya Pawār of Mālwā, mentioned by Canda as the great friend and ally of Pṛthvirāja.

fortress. When this order was given, all the brave people hung their necks with shame; and the righteous, unable to suppress the tears gathering in their eyes, lifted them towards heaven. Pṛthvirāja a few days after this breathed his last and went to heaven.

When Udayarāja learnt of the death of his friend, he thought that the best place of abode for him now was that only whither his late friend had sped. He therefore gathered together all his followers and led them into the thickest of the battle, and there fell with his whole army, secruing for himself and them eternal happiness in heaven.

When Harirāja learnt the sad news of the death of Pṛthvirāja, his sorrow knew no bounds. With tears gushing from his eyes, he performed the funeral ceremonies for the deceased monarch and then ascended the throne. He had not ruled long when the king of Gujarāta, in order to secure his favour, sent to him some dancing women from his country as presents.[12] These girls were exceedingly beautiful and highly accomplished, and they drew to themselves the king's heart so much that all his time was usually spent in their company, in listening to their music and seeing their dancing. At last matters came to such a pass that most of his revenues were squandered on musicians and dancers, and nothing was left with which to pay the salaries of the servants of the state, who naturally were disgusted with the king and his manners. His subjects also were dissatisfied

Apprised of these circumstances, S'ahābu'd-dīn thought this a favourable opportunity for destroying Harirāja and his power. He therefore marched his army into the country of Harirāja. Ever since the death of Pṛthvirāja, Harirāja had vowed not to see even the face of the hated Muslim, and he passed his time, as described, in the company of women. He was therefore

12. Gujarāta in ancient times was famous for the number and beauty of its dancing girls. One of its kings was forced to give his daughter in marriage to an ancient Pers'ian king, who took with him from the country 1200 dancing girls. The professional dancing girls of Persia are said to have been the descendants of this stock ! *Vide* As. Res. vol. IX, "Bickram and S'ālibāhan."

ill-prepared to meet S'ahābu'd-dīn in the battle-field. As a last resource, Harirāja determined to perform the '*sak*'. He gathered together all the members of his family, and ascended the funeral pile along with them, and so went to the other world.

Harirāja had no son, and S'ahābu'd-dīn pressed his followers hard. In the utmost confusion and misery, therefore, they assembled in council to deliberate on the course they had best to adopt. They were now, they said, without a leader, while their army was so disorganized that it could not look the enemy in the face. S'ahābu'd-dīn was a great warrior and they were weak. It was impossible that they should be able to protect themselves and their capital. They therefore resolved to abandon the country to its fate and go and live under the protection of Govindarāja, the grandson of Pṛthvirāja, who having been banished from the kingdom by his father, had, by his bravery, acquired a new kingdom and established his capital at Raṇathambhora. They accordingly gathered in all the remnants of Harirāja's power and wealth and started for Raṇathambhora. Ajmer, vacated by Hariarāja's party, was now pillaged and burnt by S'ahābu'd-dīn, who took possession of the city.

The followers of Harirāja were well received by Govindarāja, and appointed to suitable offices in the kingdom. Govindarāja was paralyzed at the sad news of the fall of Ajmer, and the death of Harirāja, to whom he paid the last rites. For some years after this Govindarāja ruled well and justly. At last he died and went to heaven.

After Govindarāja, Bālhaṇa succeeded to the throne. Bālhaṇa had two sons – Prahlāda, the elder, and Vāgbhaṭa, the younger. Being brought up and educated together, there was between them very great brotherly affection. When they came of age, their father, who had grown old and feeble, placed his elder son, Prahlāda, upon the *gadi* and appointed the younger, Vāgbhaṭa, to the post of prime minister. The old king, did not long survive this arrangement. Prahlāda was a just king, and as he ruled mildly, his subjects were contented.

One day, however, as fate would have it, he went out to the

forest to hunt. The hunting party was a grand one. There were many dogs with them, and the party was dressed in blue clothes. Merrily they went that day over hill and dale, and the prey was unusually heavy. Many a mighty lion was made to bite the dust. While the party was thus engaged, the king saw a big lion lying at his ease in a patch of tall reed grass, and being dexterous with his bow, aimed an arrow at the lion and killed him. The attendants of the king raised a shout of joy at this feat of royal archery, which had the effect of rousing from his slumbers another lion that was hard by, but of whose presence they were not aware. In an instant the brute rushed on the king with the swiftness of lightning, and seizing one of the king's arms in his mouth tore it from the body. This sad accident put a stop to the sport, and the party borne the wounded monarch home, where the effects of the poision of the animal's bite terminated his life.

The death-bed of the king was an affecting scene. He placed on the *gadi* his son V ī r a n ā r ā y a ṇ a, and called to his presence V ā g b h a ṭ a, his brother and minister, and said to him that the three qualities of bravery, penetration, and circumspection were the main stays of a monarch ; but that these were acquisitions to which people attained in their majority. Rarely were they possessed by inexperienced youths. 'My son', said he, 'Is yet a child, and he knows only how to sleep and rise again to play. Be thou, therefore, such a guide to him that he may not come to ruin.'

V ī r a n ā r ā y a ṇ a from his very childhood was a naughty and unmanageable boy, and V ā g b h a ṭ a, convinced of this, could not find it in his heart to hold out the language of decided hope to his dying and beloved brother. 'My dear brother', said he, as the tears rushed down his cheeks, 'You know that no one is able to avert what is to happen. As for myself, I will serve the prince as faithfully and as diligently as ever I have served you.' Scarcely had V ā g - b h a ṭ a finished his speech when the king breathed his last.

When V ī r a n ā r ā y a ṇ a came of age, a marriage was arranged between him and the daughter of the Ka chhavāha prince of J a y a p u r a and he set out for A m a r a p u r a (Āmera), the capital of the Kachhavāha. On the way V ī r a n ā r ā y a ṇ a and

his party were pursued by Jelālud-dīn, and had to turn back to Raṇathambhor without being able to marry the Jayapurāṇi. Here a great battle ensued, but neither party obtained the advantage. Jelālud-dīn saw that it would be difficult to conquer Vīranārāyaṇa in the field, and therefore determined to entrap him into his power by stratagem. For the present, therefore, he returned to his country; but after some days he sent a very flattering message to Vīranārāyaṇa through one of his most trusted servants. The messenger represented to Vīranārāyaṇa that he and Jelālud-dīn were the sun and moon in the surrounding starry heaven of kings, and that his master, extremely pleased with the gallantry displayed by the prince in the late war, sought his friendship. He also represented how good it would be if they both lived in harmony and saw each other frequently; how strong they both would be by this alliance, which would be like the union of wind with fire, and which would enable them to bear down all their many enemies. Jelālud-dīn, said the envoy, now looked upon Vīranārāyaṇa as his brother, and called upon the Almighty to witness if there was aught of deceit in his heart. The envoy concluded by inviting the prince, in the name of his master, to be the guest of the latter in his capital. "Should your Majesty have any objection," added the wily man, "to accept of Jelālud-dīn's hospitality, Jelālud-dīn himself will come to Raṇathambhor and pass a few days with you."

At this time there was pending some feud between Vīranārāyaṇa and Vigraha, king of Vakshasthalapura. Bent upon chastising Vigraha, Vīranārāyaṇa gave a willing ear to the ambassador, and resolved upon an alliance with Jelālud-dīn. Vāgbhaṭa disapproved of this alliance with the wicked Muhammadans, sought an interview with Vīranārāyaṇa and spoke against it. 'An enemy', said he, 'is never changed to a friend, do what service you may to him; and if you have any wish to live and govern the kingdom, you must listen to the advice of your teachers and elders, and avoid having aught to do with Jelālud-dīn and the Muslims".

Vīranārāyaṇa was incensed at his uncle's advice, and contemptuously asked him not to think of the cares of the state, as they were now ill-suited to his old and weak mind; that he himself was

equal to the task of government, and henceforth would do an act as best pleased him.

Vāgbhaṭa, stung to quick by this answer, left the palace and departed for Mālwā. Other courtiers, too, after Vāgbhaṭa had left, tried to dissuade the king from going to his enemy, but all failed. Vīranārāyaṇa at length went to Yoginīpura. The wily Muslim came out to receive him and treated his guest apparently with the greatest respect. The prince was delighted with his reception, and became much attached to Jelālud-din. After a few days' hospitality, however, the prince was poisoned and died.

The joy of the Muhammadans at this event was excessive. They exclaimed that now the whole tree was prostrate at their feet, and they could help themselves to any part of it.

As the king was no more, and Vāgbhaṭa had left for Mālwā, Raṇathaṁbhōr was without defenders, and easily fell into the hands of the enemy. Once in possession of Raṇathaṁbhōr, Jelālud-dīn sent a message to the king of Mālwā to say that Vāgbhaṭa should be put to death.

The king of Mālwā, it appears, lent a willing ear to this nefarious proposal, but Vāgbhaṭa discovered the secret. He murdered the king of Mālwā, and possessing himself of his throne, soon gathered round him many of the distressed Rājputs. Possessed thus at once of a country and an army, he made a league with the Kharpūrās,[13] who were already in arms against the Muhammadans. Vāgbhaṭa conducted the combined army to Raṇathambhor and reduced its Muslim garrison to such a plight that they vacated the fort. Thus Vāgbhaṭa and the Rājputs once more became masters of Raṇathaṁbhōr.

It was Vāgbhaṭa's policy to station large forces at different posts along the frontier and thus to keep off his enemies. He died after a happy reign of twelve years.

Vāgbhaṭa was succeeded by his son Jaitrasiṁh. His queen was named Hīrā Dēvī, who was very beautiful, and in

13. Ferishta says 'Khakars', a Mongol tribe, who also seem to have invaded India at this time.

every way qualified for her high position. In course of time, H i r ā D e v ī was found to be with child. Her cravings in this condition presaged the proclivities and greatness of the burden she bore. At times she was possessed with a desire to bathe herself in the blood of the Muslims. Her husband satisfied her wishes, and at last, in an auspicious hour, she was delivered of a son. The four quarters of the earth assumed a beautiful appearance ; balmy winds began to blow ; the sky became clear ; the sun shone graciously; the king testified his joy by showering gold on the Brāhmaṇs, and by making thank-offerings. The astrologers predicted, from the very favourable conjunction of the stars that presided over the child's nativity, that the prince would make the whole earth wet with the blood of the enemies of his country, the Muhammadans. H a m m ī r a (for that was the name bestowed on the child) throve and grew up a strong and handsome boy. He easily mastered the sciences, and soon grew an expert in the art of war. When he attained a proper age, his father had him married to seven beautiful wives.

J a i t r a s i ṁ h a had two other sons also, S u r a t t r ā ṇ a and V ī r a m a, who were great warriors. Finding that his sons were now able to relieve him of the burden of government, J a i t r a s i ṁ h a one day talked over the matter with H a m m ī r a, and, after giving him excellent advice as to how he was to behave, he gave over the charge of the state to him, and himself went to live in the forest. This happened in Saṁvat 1330 (A.D. 1283).[14]

Being endowed with the six *guṇas* and the three *śaktis*, H a m-m ī r a now resolved to set out on a series of warlike expeditions. The first place which he visited was S a r a s a p ū r a, the capital of Rāja A r j u n a. Here a battle was fought, in which A r j u n a was defeated and reduced to submission. Next the prince marched on G a ḍ h a m a ṇ ḍ a l a, which saved itself by paying tribute. From G a ḍ h a m a ṇ ḍ a l a Hammīra advanced upon D h ā r a. Here was reigning a Rājā B h o j a, who, like his famous namesake, was the

14. The text runs as follows :—

तत्तश्च संवत्व वन्हिवन्हिभूहायने माघवलक्षपक्षे ।
पौष्यां तिथौ हेलिदिने सपुष्ये ज्योतिर्विदादिष्टबले विलग्ने ॥

friend of poets. After defeating B h o j a , the army arrived at U j j a i n , where the elephants, horses, and men bathed in the clear waters of the K s h i p r ā. The prince also performed his ablutions in the river and paid his devotions at the shrine of M a h ā- k ā l a. In a grand procession he then passed through the principal streets of the old city. From U j j a i n , H a m m ī r a marched to C h i t r a k o ṭ a (Chitoḍ), and ravaging M e d a p ā ṭ a (Mewāḍ), went on to Mount Ā b ū.

Though a follower of the *Vedas*, H a m m ī r a here worshipped at the temple of Ṛ i s h a b h a D ē v a , - for the great do not make invidious distinctions. The king was also present at a recitation in honour of V a s t u p ā l. He stayed for some days at the hermitage of V a s i s h ṭ h a , and, bathing in the M a n d ā k i n ī , paid his devotions to A c h a l ē s' v a r a . Here he was much astonished at seeing the works which A r j u n a had executed.

The king of A b u was a famous warrior, but his prowess little availed him at this juncture, and he was obliged to submit to H a m m ī r a.

Leaving Ā b ū , the king arrived at V a r d d h a n a p u r a , which city he plundered and despoiled. Changā met with the same fate. Hence, by way of Ajmer, H a m m ī r a went to P u ṣ k a r a, where he paid his devotions to Ā d i v a r ā h a (the primeval boar). From P u s h k a r a the prince repaired to S'ā k a m b h a r i . On the way the towns of M a r h a t ā ,[15] K h a ṇ ḍ i l l a , C h a m d ā , and K ā ṅ k r o l ī were plundered. T r i b h u v a n ē n d r a came to see him at K ā ṅ k r o l ī , and presented to him many rich gifts.

After having accomplished these brilliant exploits, Hammīra returned to his capital. The advent of the king caused a great commotion there. All the great officers of state, headed by D h a r m a S i ṁ h a, came out in procession to receive their victorious monarch. The streets were lined by loving subjects eager to get a glimpse of their king.

---

15. There is no town of this name that Hammīra could have ravaged on his way to S'ākambharī. There is such a town as Meḍatā, on the borders of Mewāḍ.

Some days after this, H a m m ī r a inquired of spiritual guide, V i s' v a r ū p a, as to the efficacy of the merits arising from the performance of a sacrifice called the *Koṭī-yajña*, and being answered by the high priest that admittance into Svarga-loka was secured by the performance of the sacrifice, the king ordered that preparations should be made for the *Koṭīyajña*. Accordingly, learned Brāhmaṇs from all parts of the country were convened, and the sacrifice was completed according to the ordinances laid down for its performance in the holy *S'āstrās*. The Brāhmaṇs were sumptuously feasted, and handsome *dakshiṇas* were given to them. To crown all, the king now entered on the *Munivrata*, which he was to observe for an entire month.

While these things were taking place at R a ṇ a t h a ṁ b h ō r, many changes had occurred at D e h l i, where A l ā u d-d ī n was now reigning. Apprised of what was passing at R a ṇ a t h a ṁ-b h ō r, he commanded his younger brother U l u g h K h ā n [16] to take an army with him into the C h o h ā n country and to lay it waste. "J a i t r a s i ṁ h a', he said, "paid us tribute, but this son of his not only does not pay the tribute, but takes every opportunity of showing the contempt in which he holds us. Here is an opportunity to annihilate his power." Thus commanded, U l u g h K h ā n invaded the R a ṇ a t h ṁ b h ō r country with an army of 80,000 horse. When this army reached the V a r ṇ a n ā s' ā river, it was found that the roads which led into the enemy's country were not practicable for cavalry. Ulugh Khān, therefore, encamped here for some days, burning and destroying the villages in the neighbourhood.

The king at R a ṇ a t h a ṁ b h ō r, not having yet completed the *Munivrata*, was unable to take the field in person. He therefore despatched his generals, B h ī m a s i ṁ h a and D h a r m a s i ṁ h a, to drive away the invaders. The king's army came upon the invaders at a place on the V a r ṇ a n ā s' ā, and gained a decisive advantage over the enemy, great numbers of whom were killed. Contenting himself with the advantage thus gained, B h ī m a s i ṁ h a began to retrace his steps towards R a ṇ a t h a ṁ b h ō r, Ulugh Khān

---

16. Malik Mūizzu'd-dīn Ulugh Khān, called 'Aluf Khan' by Briggs in his translation of Firishtah.

secretly following him with the main body of his army. Now it so happened that the soldiers of Bhīmasiṁha, who had obtained immense booty, were anxious to carry it home safely, and, in their anxiety to do this, they outstripped their chief, who had around him only a small band of his personal followers. When Bhīmasiṁha had thus gained the middle of the Hindavāt pass, in the pride of victory he ordered the kettledrums and other musical instruments he had captured from the enemy to be vigorously sounded. This act had an unforeseen and disastrous consequence. Ulugh Khān had ordered his army to follow Bhīmasiṁha in small detachments, and had commanded them to fall on him wherever he should sound his martial instruments, which they were to understand as the signal of some great advantage gained over the enemy. When the detached parties, therefore, of the Muhammadans heard the sound of the *nagāras*, they poured into the pass from all sides, and Ulūgh Khān also coming up began to fight with Bhīmasiṁha. The Hindu general for a time nobly sustained the unequal combat, but was at last wounded and killed. After gaining this signal advantage over the enemy, Ulugh Khān returned to Delhi.

Hammīra, after the completion of the sacrifice, learnt the details of the battle and of the death of his general Bhīmasiṁha. He upbraided Dharmasiṁha for deserting Bhīmasiṁha, and called him blind, as he could not see that Ulugh Khān was on the track of the army. He also called him impotent as he did not rush to the rescue of Bhīmasiṁha. Not content with thus upbraiding Dharamsiṁha, the king ordered the offending general to be blinded and castrated. Dharmasiṁha was also superseded in the command of the army by Bhoja Deva, a natural brother of the Rāja, and a sentence of banishment was passed upon him, but, at Bhoja's intercession, it was not carried out.

Dharmasiṁha, thus mutilated and disgraced, was bitterly mortified at the treatment he had received at the king's hands, and resolved to be avenged. In pursuance of his determination, he contracted an intimate friendship with one Rādhā Devī, a courtesan, who was a great favourite at court. Rādhā Devī kept her

blind friend well acquainted every day as to what was passing at court. One day it so happened that R ā d h ā D ē v ī returned home quite cross and dejected, and when her blind friend asked her the cause of her low spirits, she answered that the king had lost that day many horses of the *vedha* disease, and consequently paid little attention to her dancing and singing, and that this state of things, in all probability, was likely to continue long. The blind man bade her be of good cheer, as he would see ere long that all was right again. She was only to take the opportunity of insinuating to the king that D h a r m a s i ṁ h a , if restored to his former post, would present the king with twice the number of horses that had lately died. R ā d h ā D ē v ī played her part well, and the king, yielding to avarice, restored D h a r m a s i ṁ h a to his former post.

D h a r m a s i ṁ h a thus restored, only thought of revenge. He pandered to the king's avarice, and by his oppression and exactions reduced the rayats to a miserable condition and made them detest their monarch. He spared no one from whom anything could be got—horses, money, anything worth having. The king, whose treasury he thus replenished, was much pleased with his blind minister, who, flushed with success, now called on B h o j a to render an account of his department. B h o j a knew the blind man grudged him his office, and going to the king he informed him of all D h a r m a s i ṁ h a 's schemes, and applied to him for protection from the minister's tyranny. But H a m m ī r a paid no attention to the representations of B h o j a , telling him that as D h a r m a s i ṁ h a was entrusted with full powers, and could do whatever he thought proper, it was necessary others should obey his orders. B h o j a , when he saw that the king's mind was turned from him, submitted to his property being confiscated and brought into the king's coffers as ordered by D h a r m a s i ṁ h a . As in duty bound, however, he still followed his chief wherever he went. One day the king went to pay his devotions at the temple of V a i j a n ā t h , and seeing B h o j a in his train, scornfully remarked to a courtier, who stood by, that the earth was full of vile beings ; but the vilest creature on earth was the crow, who, though deprived of his last feather by the angry owl, still clung to his habitation on the old tree. B h o j a

understood the intent of the remark, and that it was levelled at him. Deeply mortified, he returned home and communicated his disgrace to his younger brother Pītama. The two brothers now resolved to leave the country, and the next day Bhoja went to Hammīra and humbly prayed to be allowed leave to undertake a pilgrimage to Banāras. The king granted his request, adding that he might go to Banāras or further if he chose—that there was no danger of the town being deserted on his account. To this insolent speech Bhoja made no reply. He bowed and withdrew, and soon after started for Banāras. The king was delighted at Bhoja Deva's departure, and he conferred the Kotwālship vacated by him on Ratipāla.

When Bhoja reached Shirs'a, he reflected on the sad turn his affairs had taken, and resolved that the wanton insults heaped upon him should not go unavenged. In this mind, with his brother Pītama, he went to Yoginīpura, and there waited upon 'Alāu'd-dīn. The Muhammadan chief was much pleased with Bhoja's arrival at his court. He treated him with distinguished honour, and betowed upon him the town and territory of Jagarā as a jahāgir. Henceforth Pītama lived here, and the other members of Bhoja's family, while he himself stayed at court 'Alāu'-d-dīn's object was to learn Hammīra's affairs, and he therefore lavished presents and honours on Bhoja, who gradually became entirely devoted to the interests of his new master.

Convinced of Bhoja's devotion to his cause, 'Alāu'dd-īn one day asked him, in private, if there were any easy and practicable means of subduing Hammīra. Bhoja answered that it was no easy matter to conquer Hammīra, a king who was the terror of the kings of Kuntala, Madhyades'a (Central India), Aṅgades'a and the far Kāñchī,—a king who was master of the six *guṇās* and the three *s'aktis*, and who commanded a vast and powerful army—a king whom all other kings feared and obeyed, and who had most valiant brother in Vīrama, the conqueror of many princes – a king who was served by the fearless Mongol chiefs Mahimās'āhi and others, who, after defeating his brother, had defied 'Alāu'd-dīn himself. Not only had Hammīra able

generals, said Bhoja, but they were all attached to him. Seduction was impossible save in one quarter. One man only had his price in the court of Hammīra. What a blast of wind was to a lamp, what the cloud was to the lotuses, what night was to the sun, what the company of women was to an ascetic, what avarice was to all other qualities, that was this one man to Hammīra – the sure cause of disgrace and destruction. The present time, too, said Bhoja, was not ill-suited for an expedition against Hammīra. There was a bumper harvest this year in the Chohān country and if 'Alāu'd-dīn could but snatch if from the peasantry before it could be stored away he would induce them, as they already suffered from the blind man's tyranny, to forsake the cause of Hammīra.

'Alāu'd-dīn liked Bhoja's idea, and forthwith commanded Ulugh Khān to invade Hammīra's country with an army of 100,000 horse. Ulugh Khān's army now poured over the land like an irresistible torrent,-the chiefs through whose territories it passed bending like reeds before it. The army thus reached Hindavāt, when the news of its approach and intention was carried to Hammīra. Thereupon the Hindu king convened a council, and deliberated on the course they had best adopt. It was resolved that Vīrama and the rest of the eight great officers of state should go and do battle with the enemy. Accordingly, the king's generals divided the army into eight divisions, and fell on the Muhammadans from all the eight points of the compass at once. Vīrama came from the east, and Mahimāśāhi from the west. From the south advanced Jājadēva, while Garbharūka advanced from the north. From the south-east came Ratipāla, while Tichar Mongol directed the attack from the north-west. Raṇamalla came from the north-east, while Vaichara chose the south-west for his direction of attack. The Rājputs set to their work with vigour. Some of them filled the enemy's entrenchments with earth and rubbish, while others set on fire the wooden fortification raised by the Muhammadans. Others, again, cut the ropes of their tents. The Muhammadans stood to their arms and vauntingly said they would mow down the Rājputs like grass. Both sides fought with desperate courage; but the Muhammadans at last gave way before the

repeated attacks of the Rājputs. Many of them, therefore, left the field and fled for their lives. After a time their example was followed by the whole of the Muhammadan army, which fled ignominiously from the battlefield, leaving the Rājputs complete masters of it.

When the battle was over, the modest Rājputs went over the field to gather their dead and wounded. In this search they obtained much booty and arms, elephants and horses. Some of the enemy's women also fell into their hands. Ratipāla forced them to sell buttermilk in every town they passed through.

H a m m ı r a was exceedingly delighted at the signal victory over the enemy gained by his generals. He held a grand darbār in honour of the event. In the darbār the king invested R a t i p ā l a with a golden chain-comparing him, in his speech, to the war-elephant that had richly deserved the golden band. All the other nobles and soldiers were also rewarded according to their deserts, and graciously ordered back to their respective homes.

All but the Mongol chiefs left the presence. H a m m ı r a observed this, and kindly asked them the reason of their lagging behind. They answered that they were loth to sheathe their swords and retire to their houses before they had chastised the ungrateful B h o j a, who was enjoying himself in his jahāgir at J a g a r ā. On account of the relation in which he stood to the king, said they, they had up to this time allowed B h o j a to live; but he now no longer deserved this forbearance, as it was at his instigation that the enemy had invaded the R a ṇ a t h a ṁ b h ō r territory. They therefore asked permission of the king to march on J a g a r ā and attack B h o j a. The king granted the request, and at once the Mongols left the palace for J a g a r ā. They took the town by storm, and taking P ı t a m a captive, with many others, brought him back to R a ṇ t h a ṁ b h ō r.

U l u g h K h ā n after his discomfiture hastily retired to Dehli and apprised his brother of what had happened. His brother taxed him with cowardice; but Ulugh Khān excused his flight by representing that it was the only course open to him, under the circumstances, which could enable him to have the pleasure of once more seeing his

brother in this world, and have another opportunity of fighting with the Chohān. Scarcely had Ulugh Khān done with his excuses, when in came Bhoja, red with anger. He spread the cloths which he had worn as an upper garment on the ground, and began to roll upon it as one possessed with an evil spirit, muttering incoherently all the while. 'Alāu'd-dīn was not a little annoyed at this strange conduct, and inquired the reason of it. Bhoja replied that it would be difficult for him ever to forget the misfortune that had overtaken him that day; for Mahimaśāhi having paid a visit to Jagarā, had carried it by assault and dragged his brother Pītama into captivity before Hammīra. Well might people now, said Bhoja, point the finger of scorn at him, and say, Here is the man who has lost his all in the hope of getting more. Helpless and forlorn, he could not now trust himself to lie on the earth, as it all belonged now to Hammīra; and he had therefore spread his garment, on which to roll in grief which had deprived him of the power of standing.

Already the fire of anger was kindled in the breast of 'Alāu'd-dīn at the tale of the defeat his brother had sustained, and Bhoja's speach added fuel to the fire. Throwing to the ground, in the vehemence of his feelings, the turban he had on, he said Hammīra's folly was like that of one who thought he could tread upon the lion's mane with impunity, and vowed he would exterminate the whole race of the Chohāns. Then at once he despatched letters to the kings of various countries calling upon them to join him in a war against Hammīra. The kings of Aṅga, Telaṅga, Magadha, Maisūr, Kaliṅga, Baṅga, Bhot, Medapāt, Panchāl, Bāngāl[17], Thamim, Bhilla, Nepal, Dāhal, and some Himālayan chiefs, who also obeyed the summons, brought their respective quotas to swell the invading army. Amongst this miscellaneous host there were some who came on account of the love they bore to the goddess of war, while others were there who had been drawn into the ranks of the invaders by the love of plunder. Others, again, only came to be spectators of the desperate fighting that was expected to take place. There was such a thronging of

17. I spell these names as they are in the original.

elephants, horses, chariots, and men that there was scarcely room for one to thrust a grain of *tila* amidst the crowd. With this mighty concourse, the two brothers, Nusrat Khān and Ulugh Khān, started for the Raṇthaṁbhōr country.

'Alāu'd-dīn with a small retinue stayad behind with the object of inspiring the Rājputs with a dread of the reserves that must have necessarily remained with him, their king.

The numbers in the army were so great that they drank up all the water of the rivers on the line of march. It was therefore found necessary not to halt the army longer than a few hours in any one place. By forced marches, the two generals soon reached the borders of the Raṇathaṁbhōr territory-an event which gave rise to conflicting sentiments in the minds of the invaders. Those that had taken no part in the late war said victory was now *certain*, as it was impossible the Rājputs should be able to withstand such troops as they were. The veterans of the last campaign, however, took a different view of the matter, and asked their more hopeful comrades to remember that they were about to encounter Hammīra's army, and that, therefore, they should reserve their vaunting until the end of the campaign.

When the pass was gained which was the scene of Ulugh-Khān's discomfiture and disgrace, he advised his brother not to place too much confidence in their power alone, but, as the place was a difficult one, and Hammīra's army both strong and efficient, to try stratagem by sending some one on to the court of Hammīra, there to try to while away some days in negotiations about peace, while the army should safely cross the mountains and take up a strategical position. Nusrat Khān yielded to the superior experience of his brother, and S'ri Molhaṇa Deva was sent to propose the terms on which the Muhammadans would conclude a peace with Hammīra. Pending negotiations, Hammīra's people allowed the invading army to cross the dangerous pass unmolested. The Khān now posted his brother on one side of the road known as the Maṇḍi Road, and he himself occupied the fort of S'rī Maṇḍapa. The forces of the allied princes were stationed all round the tank of Jaitra Sāgara.

Neither party was sincere. The Muhammadans thought they had artfully secured an advantageous position from whence to commence their operations ; whilst the Rājputs were of opinion that the enemy had so far advanced into the interior that he could not now possibly escape them.

The Khān's ambassador at Raṇathaṁbhōr, admitted into the fort by the king's order, from what he saw there, was inspired with a dread of Hammīra's power. However, he attended the darbār held to receive him, and, after the exchange of the usual courtesies, boldly delivered himself of the message with which he was charged. He said that he was deputed to the king's court as the envoy of Ulugh Khān and Nusrat Khān, the two brothers of the celebrated 'Alāu'd-dīn ; that he had come there to impress on the king's mind, if possible, the futility of any resistance that he could offer to so mighty a conqueror as 'Alāu'd-dīn, and to advise him to conclude a peace with his chief. He offered to Hammīra, as the conditions of peace, the choice between paying down to his chief a contribution of one hundred thousand gold *mohors*, presenting him with four elephants and three hundred horses, and giving his daughter in marriage to 'Alāu'd-dīn ; or the giving up to him the four insubordinate Moṅgol chiefs, who, having excited the displeasure of his master, were now living under the protection of the king. The envoy added that if the king desired the enjoyment of his power and kingdom in peace, he had the opportunity at hand of securing his object by the adoption of either of these conditions, which would equally secure to him the good graces and assistance of Alāu'd-dīn, a monarch who had destroyed all his enemies, who possessed numerous strong forts and well-furnished arsenals and magazines, who had put to shame Mahādeva himself by capturing numerous impregnable forts, like Dēvagaḍha, whereas the fame of the god rests on the successful capture of the fort of Tripura alone.

Hammīra, who had listened with impatience to the ambassador's speech, was incensed at the insulting message delivered to him, and said to S'rī Molhaṇa Deva that if he had not been there in the capacity of an accredited envoy, the tongue with which

he uttered those vaunting insults should ere this have been cut out. Not only did Hammīra refuse to entertain either of the conditions submitted by the envoy, but on his part he proposed the acceptance by 'Alāu'd-dīn of as many sword-cuts as the number of the gold *mohors*, elephants, and horses he had the impudence to ask for, and told the envoy he would look upon the refusal of this martial offer by the Muhammadan chief as tantamount to his ('Alāu'd-dīn's) feasting on pork. Without any further ceremony, the envoy was driven from the presence.

The garrison of Raṇathaṁbhōr now prepared for resistance. Officers of approved ability and bravery were told off to defend various posts. Tents were pitched here and there on the ramparts to protect the defenders from the rays of the sun. Oil and resin were kept boiling in many places, ready to be poured on the bodies of any of the assailants to scald them if they dared come too near, and guns were mounted on suitable places. The Muhammadan army, too, at last appeared before Raṇathaṁbhōr. A desperate struggle was carried on for some days. Nusrat Khān was killed by a random shot in one of the engagements[18], and, the monsoon having set in, Ulugh-Khān was obliged to stop all further operations. He retired to some distance from the fort, and sent a despatch to 'Alāu'd-dīn, informing him of the critical situation he was in. He also sent him in a box Nusrat Khān's body for burial. Upon this intelligence reaching 'Alāu'd-dīn, he started at once for Raṇathaṁbhōr. Arrived there, he immediately marched his army to the gates of the fort and invested it.

Hammīra, to mark his contempt of these proceedings, had caused to be raised, on many places over the walls, flags of light wickerwork. This was as much as to say that 'Alāu'd-dīn's advent before the fort was not felt to be a burden to, or an aggrevation of, the sufferings of the Rājputs. The Muhammadan chief at once saw that he had to deal with men of no ordinary resolution and courage, and he sent a message to Hammīra saying he was greatly pleased with his bravery, and would be glad to grant any request such a

18. Elliot and Dowson's *History*, vol. III, p. 172. —ED.

gallant enemy might wish to make. Of course this was bidding in some way for peace. Hammīra, however, replied that as 'Alāu'd-dīn was pleased to grant anything he might set his heart upon, nothing would gratify him so much as fighting with him for two days, and this request he hoped would be complied with. The Muhammadan chief praised very much this demand, saying it did justice to his adversary's courage, and agreed to give him battle the next day. The contest that ensued was furious and desperate in the last degree. During these two days the Muhammadans lost no less than 85,000 men. A truce of some few days being now agreed upon by both the belligerents, fighting ceased for a time.

On one of these days the king had Rādhā Dēvī dancing before him on the wall of the fort, while there was much company round him. This woman, at stated and regular intervals, well understood by those who understand music, purposely turned her back towards 'Alāu'd-dīn, who was sitting below in his tent not far from the fort, and who could well see what was passing on the fort wall. No wonder that he was incensed at this conduct, and indignantly asked those who were about him if there was any among his numerous followers who could, from that distance, kill that woman with one arrow. One of the chiefs present answered that he knew one man only who could do this, and that man was Uddānasingh, whom the king had in captivity. The captivie was at once released and brought before 'Alāu'd-dīn, who commanded him to show his skill is in archery against the fair target. Uddānasingh did as he was bid, and in an instant the fair form of the courtesan, being struck, fell down headlong from the fort wall.

This incident roused the ire of Mahimāśāhi, who requested permission of the king to be allowed to do the same service to 'Alāu'd-dīn that he had done to poor Rādhā Dēvī. The king replied that he well knew the extraordinary skill in archery possessed by his friend, but that he was loth 'Alāu'd-dīn should be so killed, as his death would deprive him of a valiant enemy with whom he could at pleasure hold passages of arms. Mahimāśāhi then dropped the arrow he had adjusted on his bowstring on Uddānasingh, and killed him. This feat of

Mahimāśāhi so intimidated 'Alāu'd-dīn that he at once removed his camp from the eastern side of the lake to its western side, where there was greater protection from such attacks. When the camp was removed, the Rājputs were able to perceive that the enemy, by working underground, had prepared mines, and had attempted to throw over a part of the ditch a temporary bridge of wood and grass carefully covered over with earth. The Rājputs destroyed this bridge with their cannon, and, pouring burning oil into the mines, destroyed those that were working underground. In this manner all 'Alāu'd-dīn's efforts to take the fort were frustrated. At the same time he was greatly harassed by the rain, which now fell in torrents. He therefore sent a message to Hammīra, asking him kindly to send over to his camp Ratipāla, as he desired very much to speak with him, with a view to an amicable settlement of the differences subsisting between them.

The king ordered Ratipāla to go and hear what 'Alau'd-dīn had to say. Ranamalla was jealous of Ratipāla's influence, and did not at all like that he should have been chosen for this service.

'Alāu'd-dīn received Ratipāla with extraordinary marks of honour. Upon his entering the darbār tent, the Muhammadan chief rose from his seat, and, embracing him, made him sit on his own *gadi*, while he himself sat by his side. He caused valuable presents to be placed before Ratipāla, and also made promises of further rewards. Ratipāla was delighted with such kind treatment. The wily Muhammadan, observing it, ordered the rest of the company to leave them alone. When they had all left, he began to address Ratipāla. "I am", said he, "'Alāu'd-dīn, the king of the Muhammadans, and I have up to this time stormed and carried hundreds of fortresses. But it is impossible for me to carry Raṇthaṁbhōr by force of arms. My object in investing this fort is simply to get the fame of its capture. I hope now (as you have condescended to see me) I shall gain my object, and I may trust you for a little help in the fulfilment of my desire. I do not wish for any more kingdoms and forts for myself. When I take this fort, what better can I do than bestow it on a friend like you? My

only happiness will be the fame of its capture." With blandishments such as these, R a t i p ā l a was won over, and he gave 'A l ā u' d-d ī n to understand so. Thereupon 'Alāu'd-dīn, to make his game doubly sure, took R a t i p ā l a into his *harem*, and there left him to eat and drink in private with his youngest sister.[19] This done, Ratipāla left the Muhammadan camp and came back into the fort.

R a t i p ā l a was thus gained over by 'A l ā u' d d ī n. Therefore, when he saw the king, he did not give him a true account of what he had seen in the Muhammadan camp, and of what 'Alāu'd-dīn had said to him. Instead of representing 'A l ā u'd-d ī n's power as fairly broken by the the repeated and vigorous attacks of the Rājputs, and he himself as willing to retire upon a nominal surrender of the fort, he represented him as not only bent upon exacting the most humiliating marks of submission on the part of the king, but as having it in his power to make good his threats. 'A l ā u' d-d ī n confessed, said R a t i p ā l a, that the Rājputs had succeeded in killing some of his soldiers ; but that mattered little, for no one could look upon the centipede as lame for the loss of a foot or two. Under these circumstances he advised H a m m ī r a to call upon R a ṇ a m a l l a in person that night, and persuade him to do his best in repelling the assailants ; for R a ṇ a m a l l a, said the traitor R a t i p ā l a, was an uncommon warrior, but that he did not, it appeared, use his utmost endeavours in chastising the enemy as he was offended with the king for something or other. The king's visit, alleged R a t i p ā l a, would make matters all right again.

After this interview with the king, R a t i p ā l a hastened to see R a ṇ a m a l l a, and there, as if to oblige and save from utter destruction an old comrade and associate, informed him that, for some unknown reason, the king's mind was greatly prejudiced against him, and he advised him to go over to the enemy on the first alarm ; for

---

19. At first sight this statement might seem to be a fancy of the author intended to blacken the character of the victor. But we read that such things were quite possible in the tribe to which the conqueror belonged. A slipper at the door of his wife's room is a sign well understood by a husband in this tribe, at sight of which he immediately takes care to retire from the house. —See Tod, vol I p. 56.

he said Hammira had resolved to make him a prisoner that very night. He also told him that the hour at which he might expect to be visited by the king for this purpose. Having done this, Ratipāla quietly waited to see the issue of the mischief he had so industriously sown.

Virama, the brother of Hammira, was with him when Ratipāla paid him the visit, and he expressed his belief to his brother that Ratipāla had not spoken the truth, but had been seduced from his allegiance by the enemy. He said he could smell liquor when Ratipāla was speaking, and a drunken man was not to be believed. Pride of birth, generosity, discernment, shame, loyalty, love of truth and cleanliness, were qualities, said Virama, that were not to be expected to be the possessions of those that drink. In order to stop the further progress of sedition among his people, he advised his brother to put Ratipāla to death. But the king objected to this proposal, saying that his fort was strong enough to resist the enemy under any circumtances ; and if by any unforeseen accident, it should fall into the hands of the enemy after he had killed Ratipāla, people would moralize on the event, and attribute their fall to their wickedness in putting to death an innocent man.

In the meantime, Ratipāla caused a rumour to be spread in the king's Ranawās that 'Alāu'd-dīn only asked for the hand of the king's daughter, and that he was ready to conclude a peace if his desires in this respect were granted, as he wanted nothing else. Hereupon the king's wives induced his daughter to go to her father and express her willingness to bestow her hand on 'Alāu'd-dīn. The girl went where her father was sitting, and implored him to give her to the Muhammadan, to save himself and his kingdom. She said she was as a piece of worthless glass, whilst her father's life and kingdom were like the *chintāmaṇi*, or the wish-granting philosopher's stone ; and she solicited him to cast her away to retain them.

The king's feelings quite ovecame him as the innocent girl, with clasped hands, thus spoke to him. He told her she was a mere child, and was not to be blamed for what she had been taught to speak. But he knew not what punishment they deserved who had the imprudence to put such ideas into her innocent head. It did not, said he,

become a Rājput to mutilate females; else he shoud have cut out the tongues of those that uttered such blasphemy in his fair daughter's ears. "Child", said Hammira, "you are yet too young to understand these matters, and there is not much use in my explaining them to you. But to give you away to the unclean Muhammadan, to enjoy life, is to me as loathsome as prolonging existence by living on my own flesh. Such a connection would bring disgrace on the fair name of our house, would destroy all hopes of salvation, and embitter our last days in this world. I will rather die ten thousand deaths than live a life of such infamy." He ceased, and ordered his daughter, kindly but firmly, to her chamber.

The unsuspecting king then prepared to go, in the dusk of the evening, to Ra amalla's quarters, in order to remove his doubts, as advised by Ratipāla. The king was but slightly attended. When, however, he approached Raṇamalla's quarters, the latter remembered what Ratipāla had said to him, and, thinking his imprisonment was inevitable if he stopped there any longer, precipitately left the fort with his party and went over to 'Alāu'd-dīn. Seeing this, Ratipāla also did the same.

The king, thus deceived and bewildered, came back to the palace, and sending for the Koṭhāri (the officer incharge of the royal granaries) inquired of him as to the state of the stores, and how long they would hold out. The Koṭhāri, fearing the loss of his influence, if he were to tell the truth to the king at that time, falsely answered that the stores would suffice to hold out for a considerable time. But scarcely had this officer turned his back when it became generally known that there was no more corn in the state granaries. Upon the news reaching the king's ears, he ordered Vīrama to put the false Koṭhāri to death, and to throw all the wealth he possessed into the lake of Padma Sāgar.

Harassed with the numerous trials of that day, the king in utter exhaustion threw himself on his bed. But his eyes were strangers to sleep that dreadful night. It was too much for him to bear the sight of those whom he had treated with more than a brother's affection, one by one, adjure themselves and leave him alone to his fate. When the morning came, he performed his devotions, and came and sat in

the darbār hall, sadly musing on the critical situation. He thought that, as his own Rājputs had left him, no faith could be placed in M a h i m a s' ā h i, at once a Muhammadan and an alien. While in this mood, he sent for M a h i m a s' ā h i, and said to him that, as a true Rājput, it was his duty to die in the defence of his kingdom; but he was of opinion it was improper that people who were not of his race should also lose their lives for him in this struggle, and therefore now it was his wish that M a h i m a s' ā h i should name to him some place of safety where he could retire with his family, and thither he would see him escorted safely.

Struck by the king's generosity, M a h i m a s' ā h i, without giving any reply, went back to his house, and there put to the sword all the inmates of his zanāna, and returning to H a m m ī r a said that his wife and children were ready to start off, but that the former insisted on once more looking upon the face of the king, to whose favour and kindness the family had owed so long their protection and happiness. The king acceded to this request, and, acommpanied by his brother V ī r a m a, went to M a h i m a s' ā h ī's house. But what was his sorrow and surprise when he saw the slaughter in the house! The king embraced M a h i m ā s' ā h ī and began to weep like a child. He blamed himself for having asked him to go away, and knew not how to repay such extraordinary devotion. Slowly, therefore, he came back to the palace, and giving up everytihng for lost, told his people that they were free to act as they should think proper. As for himself, he was prepared to die charging the enemy In preparation for this, the females of his family, headed by R a ṅ g a D ē v ī, perished on the funeral pire. When the king's daughter prepared to ascend the pile, her father was overcome with grief. He embraced her and refused to separate. She, however, extricated herself from the paternal embrace, and passed through the fiery ordeal. When there remained nothing but a heap of ashes, the sole remains of the fair and faithful Chohānīs, H a m m ī r a performed the funeral ceremonies for the dead, and cooled their manes with a last ovation of the *tilāñjalī*. He then, with the remains of his faithful army, sallied out of the fort and fell upon the enemy. A deadly hand-to-hand struggle ensued. V ī r a m a fell first in the thickest of the battle;

then Mahimāśāhi was shot through the heart. Jāja, Gaṅgādhar Tāk, and Kshetrasingh Paramāra followed them. Lastly fell the mighty Hammīra, pierced with a hundred shafts. Disdaining to fall with anything like life into the enemy's hands, he severed, with one last effort, his head from his body with his own hands, and so terminated, his existence. Thus fell Hammīra, the last of the Chohāns! This sad event happened in the 18th year of his reign, in the month of S'rāvaṇa.[20]*

20. The *Tārīkh-i-'Alāī* of Amīr Khusrū gives the date as 3rd Zi-l Ka'da A.H. 730 (July 1301 A.D.); the siege began in Rajab, four months previously.—Elliot and Dowson's *History*, vol. III. pp. 75,179,549.

*Reproduced from 'The Hammira Mahākāvya of Nayachandra Suri' Ed. by Nilkanth Janārdan Kirtane, Bombay, 1879.

श्रीनयचन्द्रसूरिविरचितं

हम्मीरमहाकाव्यम्

सर्गानुक्रमः

श्रीनयचन्द्रसूरिविरचितम्

हम्मीरमहाकाव्यम्

[प्रथमः सर्गः]

सदा चिदानन्दमहोदयैकहेतुं परं ज्योतिरुपास्महे तत्।
यस्मिन् शिवश्रीः सरसीव हंसी विशुद्धिकृद्वारिणि रंरमीति ॥ १ ॥
तज्ज्ञानविज्ञानकृतावधानाः सन्तः परब्रह्ममयं यमाहुः।
पद्माश्रयः क्लृप्तभवावसानः स *नाभिभूर्वस्त्वरतां* शिवाय ॥ २ ॥
यशोदयास्फीतशुभप्रवृत्तिर्गोपालमालार्चितपादपद्मः।
श्रीवत्सलक्ष्मा *पुरुषोत्तमः श्रीपार्श्वः* श्रियं वस्तनुतादतन्वीम्* ॥ ३ ॥
उच्चैर्वृषो दर्पकदर्पहारी शिवानुयातो विलसद्विभूतिः।
शुभ्रस्थितिर्निर्दलितान्धकारः *श्रीशङ्करो वीरविभुर्विभूत्यै** ॥ ४ ॥
सच्चक्रहृत्प्रीतिकरैः प्रभाविप्रभाविशेषैः सुभगंभविष्णुः।
सम्यक्प्रबोधप्रथनप्रभूष्णु*र्भास्वान्* स *शान्तिः* शमयत्वघानि ॥ ५ ॥
महेशचूडामणिचुम्बि[2]पादोऽभ्रान्तस्थितिः स्फीतशुभप्रचारः।
महामहाध्वस्ततमस्समूहः *समुद्रजन्मा शशभृच्छ्रिये* स्तात् ॥ ६ ॥
लसत्कविस्तोमकृतोरुभक्तिर्नालीकसंपत्सुभगंभविष्णुः।
स्वदर्शनेन त्रिजगत्पुनाना *सरस्वती* नो नयतात् प्रसत्तिम् ॥ ७ ॥
मान्धातृसीतापतिकंकमुख्याः क्षितौ क्षितीन्द्राः कति नाम नासन्।
तेषु[3] स्तवार्हः परमेष सत्त्वगुणेन *हम्मीरमहीभृदेकः* ॥ ८ ॥
सत्त्वैकवृत्तेः किल यस्य राज्यश्रियो विलासा अपि जीवितं च।
शकाय पुत्रीं शरणागतांश्चाप्रयच्छतः किं तृणमप्यभूवन् ॥ ९ ॥
अतोऽस्य किञ्चिच्चरितं प्रवक्तुमिच्छामि राजन्यपुपूषयाऽहम्।
तदीयतत्सद्गुणगौरवेण विगाह्य नुन्नः किल कर्णजाहम् ॥ १० ॥
क्वैतस्य राज्ञः सुमहच्चरित्रं क्वैषा पुनर्मे धिषणाऽणुरूपा।
ततोऽतिमोहाद्भुजयैकयैव मुग्धस्तितीर्षामि महासमुद्रम् ॥ ११ ॥

---

1 K श्रीपतिसेवनीयः। * इदं ३-४ श्लोकयुग्मं न लभ्यते K आदर्शे। 2 K °चुम्बन°। 3 K कलौ।

गुरुप्रसादाद्यदि वास्मि शक्तस्तदीयवृत्तस्तवनं विधातुम् ।
सुधाकरोत्सङ्गसरङ्गयोगान्मृगो न खे खेलति किं सखेलम् ॥ १२ ॥
श्रीचाहमानान्वयमौलिमौलिर्बभूव हम्मीरनराधिपस्तत् ।
ऐतह्यतो वच्मि पुरा तदीयामुत्पत्तिमुत्पादितहर्षहेलाम् ॥ १३ ॥
यज्ञाय पुण्यं क्वचन प्रदेशं द्रष्टुं विधातुर्भ्रमतः किलादौ ।
प्रपेतिवत् पुष्करमाशुपाणिपद्मात्पराभूतमिवास्य भासा ॥ १४ ॥
ततः शुभं स्थानमिदं विभाव्य प्रारब्धयज्ञोऽयमपास्तदैन्यः ।
विशङ्क्य भीतिं दनुजव्रजेभ्यः स्मेरस्य सस्मार सहस्ररश्मेः ॥ १५ ॥
अवातरन्मण्डलतोऽथ भासां पत्युः पुमानुद्यतमण्डलाग्रः ।
सं चाभिषिच्याश्वदसीयरक्षाविधौ व्यधादेष मखं सुखेन ॥ १६ ॥
पपात यत्पुष्करमत्रपाणेः ख्यातं ततः पुष्करतीर्थमेतत् ।
यच्चायमागादर्थ चाहमानः पुमानतोऽख्यायि स चाहमानः ॥ १७ ॥
ततश्चतुर्वक्त्रभवात्प्रसादात् साम्राज्यमासाद्य स चाहमानः ।
चक्रेऽर्कवद्भूभृत आशुपादाक्रान्तान् गुरूनप्ययमस्य वशा ॥ १८ ॥
स्वदानजन्मोरुयशोर्जितश्रीविलोपि दानं समवेक्ष्य यस्य ।
बलिः स पातालबिलं सिषेवे त्रपातुराणामपरा गतिः का? ॥ १९ ॥
त्वं[3] पाप रे कामयसे मदीयां कीर्तिं शशी येन रुषेति रुद्धः ।
बिम्बं रवेर्दिव्यमिव प्रदातुं प्रविश्य निर्गच्छति मासि मासि ॥ २० ॥
प्रतापवह्निर्ज्वलितो यदीयस्तथा द्विषां कीर्तिवनान्यधाक्षीत् ।
तदुत्थधूमाश्रयतो जहाति वियद्यथाऽद्यापि न कालिमानम् ॥ २१ ॥
निशम्य सुप्रीतमना यदीयां कीर्तिं विचित्रोरुचरित्ररम्याम् ।
महीतलध्वंसभिया शिरः स्वमकम्पयंस्तापमवाप शेषः ॥ २२ ॥
जयश्रिया प्राप्तमहावियोगान्सम्मूर्च्छयन् वैरिगणाञ्छिकामम् ।
यो युध्यवाची पवनायितोऽपि चित्रं द्विजिह्वांश्च सुखीचकार ॥ २३ ॥
प्रस्पर्धते मद्यशसाऽस्य सूनुः शशीत्यमर्षात् किल योऽम्बुराशेः ।
गाम्भीर्यलक्ष्मीं हरति स्म किन्न सुतापराधे जनकस्य दण्डः? ॥ २४ ॥
तदाख्यया जायत चाहमानवंशस्त्रिलोकीविहितप्रशंसः ।
शश्वत्सुपर्वावलिसेव्यमान उत्पत्तिहेतुर्नरमौक्तिकानाम् ॥ २५ ॥
तस्मिन् स्फुरद्विक्रमचक्रवाला वंशे बभूवुर्बहवो नृपालाः ।
त्रिवर्गसंसर्गपवित्रचित्रचरित्रवित्रासितपापभाराः ॥ २६ ॥

1 K किल। 2 K जिहीर्षसि त्वं मम पाप कीर्तिश्रियं। 3 K द्विषद्। 4 K अपाची।

पराक्रमाक्रान्तजगत्क्रमेणाभवन्नृपो दीक्षितवासुदेवः ।
शकासुराञ्जेतुमिहावतीर्णः स्वयं धरायामिव वासुदेवः ॥ २७ ॥
सपत्नसंघातशिरोऽधिसन्धिच्छेदादसिं कुण्ठतरं निजे यः ।
प्रतापवह्नावभिताप्य काममपाययत्तद्रमणीदृगम्बु ॥ २८ ॥
छिन्नद्विषन्मण्डलमौलिमूलासृक्पूरदिग्धासिलताच्छलेन ।
रणाजिरे यस्य करे विरेजे व्यक्तानुरागेव भृशं जयश्रीः ॥ २९ ॥
प्रवाद्यमाने रणवाद्यवृन्दे संपश्यमानेषु दिवः सुरेषु ।
शौर्यश्रियं यो रणरङ्गभूमावनर्त्तयद्वेल्लदसिच्छलेन ॥ ३० ॥
भास्वान् जितो यन्महसा[1] ददाति झम्पां किमद्यापि न वारिराशौ ।
उन्मज्जति व्याकुलितोऽन्वहं च सुदुस्त्यजं हा! हतजीवितव्यम् ॥३१॥
तदङ्गजन्माऽजनि नाभिजन्मार्हणाचणः श्रीनरदेवभूपः ।
तनूदरीलोचनलोभनीयतनुश्रिया तर्जितकामरूपः ॥ ३२ ॥
अशात्रवं विश्वमिदं[2] विधातुं क्रुद्धे परिभ्राम्यति यत्र भूपे ।
राज्यश्रियं पातुमरातयः स्वकोशाद्व्यसून्याचकृषुर्न खड्गान् ॥ ३३ ॥
संख्येषु पूर्वाचलचूड[3]शोभां बाहुर्यदीयः कलयाम्बभूव[4] ।
म्लानिं नयन्वैरिमुखाम्बुजानि रराज यस्मिन्नवचन्द्रहासः ॥ ३४ ॥
प्रतापवह्निर्ज्वलितो यदीयः स्थाने यदन्यायवनान्यधाक्षीत् ।
जगज्जनाश्चर्यकरं तदेतद्यद्वैरिणां कम्पभरं ततान ॥ ३५ ॥
नखावलीनां कपटेन पुत्रपौत्रान्वितोऽप्येष पतिर्द्विजानाम् ।
जितोऽहमेतद्यशसेत्युपेत्य लग्नो यदीये पदपद्मयुग्मे ॥ ३६ ॥
श्रीचन्द्रराजेन नयैकधाम्ना ततो धरित्री बिभराम्बभूवे ।
वक्त्रेण कीर्त्या च निशाकरं द्विर्जयन् स्वनामाऽतत यो यथार्थम् ॥३७॥
यस्य प्रतापज्वलनस्य किञ्चिदपूर्वमेवाजनि वस्तुरूपम् ।
जज्वाल शात्रौ सरसे प्रकामं यन्नीरसेऽस्मिन् प्रशशाम सद्यः ॥ ३८ ॥
चापस्य यः स्वस्य चकार जीवाकृष्टिं रणे क्षेप्तुमनाः शरौघान् ।
जवेन शत्रून् यमराजवेश्माऽनैषीत्तदेतन्महदेव चित्रम् ॥ ३९ ॥
यस्य क्षितीशस्य च यन्महासेरन्योन्यमासीत्सुमहान्विरोधः ।
एको विरागः समभूत्परेषां दारेषु चान्यो यदभूत्सरागः ॥ ४० ॥
तस्मादशोभिष्ट महिष्ठधामा महीमहेन्द्रो जयपालनामा ।
यः सिद्धविद्यो जगति प्रसिद्धिं जगाम चक्रीति जितारिचक्रः ॥ ४१ ॥

1 K पुनर्। 2 K वा। 3 K °चूलछीलां। 4 K चकार।

भिन्नद्विषत्कुम्भिघटाकटाहकुम्भोच्छलच्छोणितशोणशोचिः ।
यस्याहवे खड्गलता प्रतापाशुशुक्षणेरर्चिरिवोल्ललास ॥ ४२ ॥
अनेकधाऽष्टापदसारदानदक्षो वशीभूततराक्षचारः ।
यो द्यूतकृद्वच्चतुरङ्गयुद्धक्रीडास्वजेयः समभूत्परेषाम् ॥ ४३ ॥
विदारितारातिकरीन्द्रकुम्भविलग्नमुक्ताफलकैतवेन ।
करे यदीये करवालवल्ली जयश्रियो हारलतेव रेजे ॥ ४४ ॥
यत्कीर्तिपूरैरभितः[1] परीते विश्वत्रये सूरिभिरित्यतर्कि ।
तप्तं प्रतापैर्ध्रुवमेतदीयैर्विलिप्तमेतन्नवचन्दनेन ॥ ४५ ॥
यदीयकीर्त्यापहृतां समन्तान्निजां श्रियं स्वर्गधुनी विभाव्य ।
पतत्प्रवाहध्वनिकैतवेन कामं किमद्यापि न फूत्करोति? ॥ ४६ ॥
रणे कणेहत्य निपीय रक्तमधून्यरीणां वदनाम्बुजेषु[3] ।
शिलीमुखा यस्य समन्ततोऽपि क्षीबा इव क्षोणितलं स्म यान्ति ॥४७॥
यस्य प्रसर्पद्द्विषमायुधस्य प्रत्यर्थिनां सङ्गरसङ्गतानाम् ।
स्वेदः प्रकम्पो बलहानिरुच्चैरभूद्वधूनामिव वल्लभस्य ॥ ४८ ॥
स्फुरद्धृतिः प्राप्तलसत्प्रतिष्ठो विशुद्धवर्णः स्पृहणीयवृत्तः ।
कीर्तिं स्मरन्सत्कविवत्परार्थहृतौ मतिं क्वापि न यश्चकार ॥ ४९ ॥
विरुद्धवासादिह मां न कोऽपि वेत्तीति बिभ्यत्किल यत्प्रतापात् ।
दारूणि वह्निः प्रविवेश नो चेत्तद्घर्षणात्तत्प्रभवः कुतः स्यात् ॥५०॥
कामं यदोजःसृजि वेधसोऽपि स्वेदोदयः कोऽपि स आविरासीत् ।
प्रसर्पता येन नदीवदम्बुराशेरपि क्षारमकारि वारि ॥ ५१ ॥
तद्वास्तु तत्तद्घनवस्तुसारप्राग्भारवीक्षास्तुतधातृसर्गम् ।
स्वर्गश्रियां जित्वरकान्तिकान्तमतिष्ठिपद्योऽजयमेरुदुर्गम् ॥ ५२ ॥
अदीपि तस्माजयराजभूपस्त्रैलोक्यविख्यातयशःस्वरूपः ।
यत्कीर्तिचन्द्रैर्मुखमण्डलानि दिक्कामिनीनां सुरभीबभूवुः ॥ ५३ ॥
यशोवितानें[4] स्फुरिते यदीये व्यक्तो यदाऽलक्षि न शीतरश्मिः ।
तदादिशङ्के विधिना व्यधायि तदीयबिम्बान्तरयं कलङ्कः ॥ ५४ ॥
यस्मिन्महीं शासति राजमार्गप्रोल्लङ्घनं तुङ्गसुरालयेषु ।
निस्त्रिंशताऽस्त्रेषु मदो द्विपेषु करग्रहोऽभात् करपीडनेषु ॥ ५५ ॥
जगत्प्रदीपे किमु[5] यत्प्रतापे पतङ्गवद्यन्निपपात[6] भास्वान् ।
पतङ्ग इत्येतदमुष्य नामाऽन्यथा कवीन्द्राः कथमामनन्ति ॥ ५६ ॥

---

1 K परितः । 2 K पूरक° । 3 K °बुजानां । 4 K प्रताने । 5 K किल ।
6 K पतङ्गतां ।

सत्यं किलैकोदरजोऽपि चैकनक्षत्रजातोऽपि सदृग्भवेश्च ।
अप्येकतोऽसेः सममस्य जातमुष्णं यदोजः शिशिरं यशस्तु ॥ ५७ ॥
सामन्तसिंहो नृपतिस्ततोऽभात् मत्तारिदन्तावलवारसिंहः ।
यस्य प्रतापैर्जयतोऽरिचक्रं बभूव भूषैव कृपाणदण्डः ॥ ५८ ॥
अहो अहोरात्रमहोदयश्रीर्यशःशशी यस्य नवो बभासे ।
नाऽन्यायसिंहीसुतलब्धभीतिर्नाऽमित्रधाराधरलुब्धकान्तिः ॥ ५९ ॥
महीभृतां मूर्धसु यत्प्रतापो भास्वान्नवोऽभात् किल यः प्रसर्पन् ।
तताप शत्रून् विधृतातपत्रांस्त्यक्तातपत्रान्न पुनः कदाचित्* ॥ ६० ॥
पिस्पर्धिषू एष ममेन्द्र[2]हीनौ पातीति कोपादिव यस्य कीर्तिः ।
जटास्वदत्स्वस्तटिनी छलेनारुरोह मौलिं हिमरश्मिमौलेः* ॥ ६१ ॥
स्पर्धां विधित्सोः[3] सह येन सङ्ख्ये स्वस्याविवेकत्वविलुप्तबुद्धेः ।
तृणानि दद्भिर्दधतः पशुत्वमनागसे स्माऽरिगणा गदन्ति ॥ ६२ ॥
ततोऽभजद्राज्यरमामनन्तानन्तापतिर्गूयकनामधेयः ।
येनाऽनिशं धर्मतरुर्धरित्र्यामुत्सर्गनीरैरभिषिच्यते स्म ॥ ६३ ॥
उद्दामधाराजलवालिकं यत्करान्तराले करवालमेघम् ।
अभ्युन्नतं वीक्ष्य विपक्षमानहंसोद्धुतं मानसतोऽप्यनेशत् ॥ ६४ ॥
उच्चारयन्वैरिपशूँस्तृणानि निस्त्रिंशदण्डं च करे दधानः ।
निरन्तरं भूषितसर्वदेहः सत्यां वितेने निजगोपतां यः ॥ ६५ ॥
पलायितानां रिपुभूपतीनां पिबन् कर्णेहत्य यशःपयांसि ।
तत्स्त्रैणनिश्वाससमीरपुष्टो यस्यासिदण्डो भुजगायते स्म ॥ ६६ ॥
तन्नन्दनश्चन्दनवज्जनानामानन्दनो *नन्दननामधेयः* ।
निहत्य शत्रून् समरे समग्रान् स्वसाच्चकाराऽवनिमा समुद्रम् ॥ ६७ ॥
आलोकमात्रेण शुभानि पुष्णँस्तत्त्वार्थदृष्ट्या च तमांस्यपास्यन् ।
प्रजा विवस्वानिव वृत्तरम्यः संवर्धयामास निरन्तरं यः ॥ ६८ ॥
पुरः परेषां किल पक्षपातं विहाय के नाधिकमाहुरेनम् ।
नाजौ यथाऽदीदृशदेष पृष्ठं निजं तथा वक्त्रमहो परेऽपि ॥ ६९ ॥
पुरः परेषां किल पक्षपातं विहाय केनाधिकमाहुरेनम् ।
यथा स्वकोशादयमाचकर्ष खड्गं तथाजौ वसु वैरिणोऽपि ॥ ७० ॥†
यस्य प्रतापो भुवि वाडवाग्निक्षेपाद्यदंहः कलयाम्बभूव ।
तत्संभ्रमार्ष्टुं किमसौ प्रविष्टः पारेऽम्बुधेस्तीरतपोवनानि ॥ ७१ ॥

---

1 K °हृत्त° । * K विपर्ययेण लिखितं श्लोकयुग्ममिदम् । 2 K मये° । 3 K चिकीर्षोः । 4 K °न्तरिक्षे । † K नास्तीदं पद्यम् । 5 K चकार ।

भयार्त्तवप्रायितबाहुदण्डः सर्वास्त्रविद्योपनिषत्करण्डः ।
लीलापराभूतसुपर्वराजः क्ष्माभृत्ततोऽराजत[1] *वप्रराजः* ॥ ७२ ॥
ज्वलत्प्रतापज्वलनोपतप्ता प्रत्यर्थिभूभोगजुषां जयश्रीः ।
यदीय[2]निस्त्रिंशनिशातधारापाते व्यधान्मज्जनसज्जलीलाम् ॥ ७३ ॥

सरीसृपस्यास्य च खड्गयष्टेराकारमात्राद्यदि साम्यमासीत् ।
दंष्ट्रा हरेत्प्राणगणान्यदाद्यः परो द्विषां वीक्षितमात्र एव ॥ ७४ ॥
सर्वातिशायिद्युतिनी विधात्रा विधित्सितौजोयशसी यदीये ।
अवश्यमेतौ रचितौ प्रशस्याभ्यासाय तिग्मद्युतिशीतरश्मी ॥ ७५ ॥
शंके प्रतिक्ष्मापतिकीर्तिलोपपापोपशान्त्यै विदधेऽस्य कीर्तिः ।

स्नानं मुहुर्नाकनदीप्रवाहे शुभ्रत्वमासीत् कथमन्यथा स्याम्[3] ? ॥७६॥
अप्यस्तदोषस्य बभूव तस्य[4] दोषद्वयं कामवशित्वलोभौ ।
सेनां कुमारीं बुभुजे मुधे यल्ललौ तथैको विजयश्रियं च ॥ ७७ ॥
यत्कीर्तिगानं विनिशम्य शङ्के हरः प्रनृत्यन्प्रसरत्प्रमोदः ।
छुटज्जटानिर्यदमर्त्यसिन्धुपयःप्रवाहैरिव शुभ्र आसीत् ॥ ७८ ॥

खेलत्सु भूरिष्वपि याचकेषु दानै[5]कलीलारसिकस्य यस्य ।
दापृष्ठचारी किल यो नकारो यदि प्रियोऽसौ[6] न परः कदाचित् ७९
अनल्पसंकल्पनकल्पवल्लीं विपक्षपक्षव्रजभेदभल्लीम् ।
त्रैलोक्यलोकावलिवन्द्यपादां सेवापरप्रत्तमहाप्रसादाम् ॥ ८० ॥
शाकम्भरीस्थानकृताधिवासां शाकम्भरीं नाम सुरीं प्रसाद्य ।

विश्वापतिर्विश्वहिताय शाकंभर्यां रुमां यः प्रकटीचकार ॥ ८१ ॥
ततो धराभारमुरीचकार जितारिचक्रो *हरिराजभूपः* ।
शकाधिराजस्य रणे निहत्य तन्मानवन्मुग्धपुरं ललौ यः ॥ ८२ ॥
रणाजिरे वैरभृतां भटानामेकोऽपि योऽनेकतया चकासे ।
प्रपश्यतां निर्मलनीरपूर्णपात्रेषु तारापतिवज्जनानाम् ॥ ८३ ॥

*यन्नाम प्रतिवर्णसंश्रुतसुधापूरापतद्यद्यशः
कर्पूरोरुरजोभरप्रसृमराविर्भावपङ्काकुले ।
वाणीनां पथि नाऽभजन्त पथिकीभावं यदीया गुणा
औदार्यप्रमुखाः किमद्भुतमहो ! तत्तत्कवीनामपि ॥ ८४ ॥
भ्रान्त्वाऽप्यदभ्रेषु धराधरेषु कुत्राप्यनासादितयोग्ययोगाः ।

पौरा इवौदार्यमुखा गुणाः स्म दिवानिशं यस्य पुरे वसन्ति ॥ ८५ ॥

---

1 K ऽजायत । 2 K यस्योरु° । 3 K अस्याः । 4 K यस्य । 5 K अम्बुनदः ।
6 K ऽभूत् । * P नोपलभ्यते पद्यमिदम् ।

अनेन पेठे पठताक्षराणि किं नो वृथा वोऽन्यथवा निदानम् ।
निषेधतोऽस्मान् विशतो निषेद्धुमेवेति यस्मिन् कविवाग्वितर्कः ॥८६॥
क्रोडकूर्मभुजगाधिपा भुवं यां कथञ्चिदपि मौलिभिर्दधुः ।
लीलयैव भुजयैकया दधत् तामसावतत कं न विस्मयम्[1] ॥ ८७ ॥

अस्याऽवनीमघवतोऽसिलताम्बुराशे-
रस्ताघता सुमहतीति किमद्भुतं नः ।
अस्याद्भुताद्भुतमिदं तु सनीरतायां
सत्यामपि स्फुरति यज्जडता स्म नैव[2] ॥ ८८ ॥

दत्तपृष्ठफणचक्रसहस्रैः क्रोडकूर्मभुजगाधिपा दधुः ।
क्ष्मां सुखेन भुजयैकया दधत्तामसावतत कं न विस्मयम्[2] ॥ ८९ ॥

उद्यच्छौर्यविनिर्जितोर्जितरिपुस्तम्बेरमौघोनघ-
स्त्रीसंचालितचारुचामरयुगव्याजोल्लसत्केसरः ।
आत्मीयासनमाश्रितो वनजुषामीशस्वभावं दध-
ज्जज्ञे सिंह इवोन्नतक्रमगतिः श्रीसिंहराजस्ततः ॥ ९० ॥

एतेनोत्त्रासितानां प्रतिधरणिभुजामुल्लसद्धुर्यशस्सु
स्फूर्जत्पर्जन्यमालाललितमुपगतेष्वाजिभूमौ समन्तात् ।
किञ्च स्थाने तदेतत्प्रवसितमचिरान्मानहंसैर्यदेषा-
मस्रैर्यद्वा प्रवृत्तं विरहविधुरिमालिङ्गनात्तद्वधूनाम्[3] ॥ ९१ ॥

क्षारोऽप्यम्बुनिधिः शितिद्युतिरपि प्रासूत यस्मात्कथं
शुभ्रांशुश्च सुधामयश्च सविधुस्तुल्यो हि पुत्रः पितुः ।
आसीदुत्तरमस्य नोऽद्य नृपतेर्यस्य प्रसर्पद्यशः
पीयूषैः परिपुष्ट एष उदधिस्तादृग्भवँस्तज्जनौ[3] ॥ ९२ ॥

लक्ष्मीमेष पराश्रितामपि बलादाकृष्य भोगास्पदं
प्रीत्या स्वस्य तनोति मां च जननादप्येकपत्नीव्रताम् ।
स्वस्माद्दूरयति स्तुतां कविजनैर्न श्रोतुमुत्कण्ठते ।
क्रुद्धेऽतीवविपक्षभूमिमभजत्कीर्तिर्यदीयोच्चकैः ॥ ९३ ॥

बाणे महीमघवतोऽस्य तथा कृपाणे
पाणौ स्थितेऽप्युभयमद्भुतमेतदासीत् ।
एको दधाव समरे परलक्ष्यहेतो-
रन्यः स्वकोशमपि दूरमुदोज्झदेव ॥ ९४ ॥[4]

1 P इदं पद्यं नोपलभ्यते । 2 इदं पद्यद्वयं K नोपलभ्यते । 3 इदं पद्यद्वयं न लभ्यते K । 4 इदं पद्यं नोपलभ्यते K ।

अगाधं पाथोधिं गुरुगरिमसारं सुरगिरिं
पृथक्कृत्वा वेधा न खलु कृतकृत्यो मम मते ।
द्वयं निर्मायास्मिन्पुनरपि किलैकत्र भगवाँ-
स्तथा प्रीतः सृष्टिं व्यधित न यथा तत्प्रणयने* ॥ ९५ ॥

यत्सौन्दर्यवशीकृतेव विजयश्रीकन्यका[1] संगरे
सर्वानप्यपहाय राजतनुजान् दौर्भाग्यदग्धानिव ।
उद्वोढुं यमुपागता करतलं स्पृष्ट्वापि सद्यो महः
सूनुं कीर्तिसुतामसूत तदिदं लोके महत्कौतुकम् ॥ ९६ ॥

कर्णाटश्चटुपाटवप्रकटनो लाटः कपाटप्रद-
श्चोलश्वासविलोलहृत् परिगलद्वीजजर्रो गूर्जरः[2] ।
अङ्गः[3] सङ्गररङ्गभङ्गुरमतिः सम्पद्यते स्म क्षणा-
द्दिक्कुक्षिंभरि यत्प्रयाणपटहध्वाने समुत्सर्पति ॥ ९७ ॥

"गाम्भीर्येण विनिर्जितोऽहममुने"त्यम्भोनिधे त्वं वृथा
खेदं मा स्म कृथा जनः किल जनं दृष्ट्वा समाश्वासयेत् ।
सत्त्वाधारतया तथोन्नततया पश्यैष देवाऽचलो
जिग्येऽनेन तथा यथा नयनयोर्हित्वा गतो गोचरम्† ॥ ९८ ॥

यावत्कर्तुमयं ववाञ्छ विलसत्कोदण्डमाजौ करे
तावद्वैरिनृपः पुरैव विलसत्कोदण्डमाधात्पुरः ।
एतस्मात्कथमन्यथा प्रकुपितात्साक्षात्कृतान्तादिव
प्राणत्राणविधिर्दिगन्तवलिभूः स्वर्गं गतानामपि† ॥ ९९ ॥

निर्विण्णोऽयमरीन्निहत्य गणशोऽप्याजावुवाह क्षमा-
मित्याकर्ण्य निधत्त दर्पिततमान् रे भूभुजो मा भुजान् ।
दुर्लक्ष्यं किमु वेधसाऽपि चरितं जानीथ नास्याखिलं
बाह्यामेव वहत्यसौ सुमहतीमेनां न चान्तर्गताम्† ॥ १०० ॥

पंचाऽप्यस्य करेण दानविधिना कल्पद्रुमा निर्जिता
एकैकां कलिकां बलिव्यतिकराद्दत्त्वाऽङ्गुलीं स्वामिव ।
आसन्नाङ्गुलिकाः स चाभिरभवत्पञ्चाङ्गुलिः पप्रथे
लोकेऽपि व्यवहार एष न भवेत् प्राग्भिः किमङ्गीकृतम् ॥ १०१ ॥

---

* इदमपि पद्यं K नोपलभ्यते । 1 K कन्यका । 2 P °गुर्ज° । 3 K °सङ्ग° ।
† इदं पद्यत्रितयं नोपलभ्यते K ।

उज्झत्येव विपक्षवृत्तिमपि नो खड्गं करात् कर्हिचि-
  श्माकुल्याऽपि यदि स्पृशेद् गुणवतोऽप्यस्मान् सपक्षानपि ।
....
  बिभ्राणा इषवो विशन् क्षितितलं दूरे यदीया रणे† ॥ १०२ ॥
हा हा केयमनौचिती जलनिधेरद्यापि हृष्यत्यसौ
  यं[1] दृष्ट्वा जितमप्यमुष्य यशसा चन्द्रं मुहुः स्वाङ्गजम् ।
प्राप्यैतन्महसा तथैव वडवावह्निं च शुष्यत्यहो
  सर्वः कोऽपि परस्य पश्यति जनो दोषं न च स्वस्य तम् ॥१०३॥
उत्सर्पद्गुरुदर्पदर्पितभुजादण्डारिदन्तावल-
  व्रातावग्रहनिग्रहाग्रहमहानागेन्द्रसान्द्रप्रभः ।
हत्वा यो युधि हेतिमं शकपतिं निर्व्याजवीरव्रतो[3]
  मत्तेभाँश्चतुरोऽग्रहीद् बलकरान् मूर्तानुपायानिव ॥ १०४ ॥

॥ इति श्रीजयसिंहसूरिशिष्यमहाकविश्रीनयचन्द्रसूरिविरचिते श्रीहम्मीर-
महाकाव्ये वीराङ्के तदीयपूर्वजवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः सर्गः ।

अथो अभावात्तनुजस्य भीमं भ्रात्रेयमात्मीयपदे निवेश्य ।
कृतारिषड्वर्गजयः स सिंहराजो हरेर्धाम जगाम नाम ॥ १ ॥
तद्राज्यमासाद्य स भीमदेवः सद्यस्तथा विक्रममाततान ।
न वास्तवी क्वापि यथा धरायां बभूवुषी शत्रुरिति प्रवृत्तिः ॥ २ ॥
कौक्षेयकाग्रक्षतकुम्भिकुम्भोच्छलद्गलन्मौक्तिककैतवेन ।
अपातयद् यो रिपुशौर्यवल्लेर्यशःप्रसूनानि चिरार्जितानि ॥ ३ ॥
स्वप्नेऽपि यद्दर्शनतो भयार्त्ता निद्रां प्रियामप्यजहुर्विपक्षाः ।
क्रियेत किं शर्करया तया वा या भक्ष्यमाणाऽऽशु दतो भनक्ति ॥४॥
श्रेयस्तरं हन्त गुणागुणानां परीक्षणं यद्यपि नो तथापि ।
चकार यः प्रार्थिषु नैर्यताऽपि गर्वाङ्कुराः सन्तु सुरद्रुमाद्याः ॥ ५ ॥
अथोद्दिदीपेऽनयनिग्रहाय बद्धाग्रहो विग्रहराजभूपः ।
द्विधाऽपि यो विग्रहमाजिभूमावभञ्जयद् वैरिमहीपतीनाम् ॥ ६ ॥

---

† इदं पद्यचतुष्कं नोपलभ्यते K. 1 K यद् । 2 K °नावप्रदीप्तप्रभः । 3 K व्रतम् ।
4 K नैचता ।

सङ्कोचयन् वैरिमुखाम्बुजानि प्रवर्द्धयन् कौमुदमा समुद्रम् ।
सम्पीडयन् दुर्नयसैंहिकेयं नवो विवस्वान् भुवि यत्प्रतापः ॥ ७ ॥
पुरा निजैः प्रौढतरैः प्रतापैरतापयद् यः कुपितो धरित्रीम् ।
ततो दयार्द्रीकृतचित्तवृत्तिर्यशःसुधाभिर्निं[1]तरामसिञ्चत् ॥ ८ ॥
अप्युग्रवीरव्रतवीरवारं[2]संसेव्यमानक्रमपद्मयुग्मम् ।
श्रीमूलराजं समरे निहत्य यो गूर्जरं[3] जर्जरतामनैषीत् ॥ ९ ॥
कृतारिषड्वर्गजयो नयज्ञः श्रीगुन्ददेवोऽथ बभौ नृदेवः ।
कवीन्द्रबद्धाऽपि यदीयकीर्तिर्जगत्समस्तं भ्रमति स्म चित्रम् ॥ १० ॥
चकार निर्विघ्नविधित्सितस्य यदोजसो द्रव्यलवेन वेधाः ।
गौरीपतेर्यं तिलकं स्वमूर्तेश्चकास्ति सोऽद्यापि सहस्ररश्मिः ॥ ११ ॥
महीमृगाङ्कोऽहमिति प्रजानां न्यधत्त यो नैव करान् कठोरान् ।
युक्तं स ईदृग् न चकोरहर्षदायी परं चित्रमिदं न कस्य ॥ १२ ॥
कल्पान्तकालज्वलनोपमाने यस्य प्रतापे ज्वलितेऽभितोऽपि ।
यत्प्रीतिवल्ली क्वचनापि नाऽगान् म्लानिं तदेतद् गुरुविस्मयाय[5] ॥१३॥
त्रस्तः समन्तादपि[6] यत्प्रतापाद् द्विषोऽभिगच्छन् शरणं जलस्य ।
अकृत्यमप्याद्रियतौर्ववह्निरहो दुरन्ता बत जीविताशा ॥ १४ ॥
प्रत्यर्थिनां वेश्मसु यत्प्रतापज्वालावलीढेषु समन्ततो यत् ।
उज्जङ्गमामास तृणोच्चयस्तद् युक्तं जनेऽप्यस्य[7] तथैव सिद्धेः ॥ १५ ॥
भूवल्लभो वल्लभराजनामा ततोऽभवद् भास्वदनर्घधामा ।
लीलावतीलोचनलोभनीयलावण्यलीलाद्भुतरूपसम्पत् ॥ १६ ॥
हित्वा वपुर्मानुषमाजिभूमौ धृतत्वरा देवभुवं व्रजन्तः ।
प्रत्यर्थिभूपाः स्मृतयत्प्रतापाश्चकम्पिरे वीक्ष्य सहस्ररश्मिम् ॥ १७ ॥
स्वर्गश्रियां वैभवजित्वरीणां श्रियामपारत्वमवेक्ष्य यस्य ।
तत्स्पर्धयेवाऽऽशु यशांस्यपारीभूय व्यजृम्भन्त जगत्यशङ्कम् ॥ १८ ॥
विश्वम्भराभारधुरीणबाहू रामस्ततोऽजायत बाहुजेशः ।
विमर्दितोद्यत्खरदूषणेन येन त्रिलोकी वशमाशु निन्ये ॥ १९ ॥
जयश्रियं स्वामिशयाम्बुजेन[8] संयोजयन् शत्रुतमांस्यपास्यन् ।
ज्वलत्प्रतापावलिदीप्तकान्ती रणे कृपाणो रचयद् यदीयः ॥ २० ॥

---

1 K °र्नितमाम° । 2 P वीरवीर° । 3 P गुर्जरम् । 4 K प्रजासु । 5 K महदेव चित्रम् । 6 K भुवि । 7 K हि लोकेष्वपि सिद्धमेतत् । 8 K यशोऽम्बु° ।

छिन्दन् शिरांसि प्रतिपक्षभूमीभृतामसिर्यस्य विशुद्धधारः ।
मत्स्पर्श एकं न यतो विशुद्धाः परस्य केनापि न संक्रमन्ति* ॥ २१ ॥
ततो महीक्षित्तमतां दधार चामुण्डराजस्तरसा प्रचण्डः ।
यत्पाणिपद्मे करवालवल्ली जयश्रियो वेणिरिव [1]व्यराजत् ॥ २२ ॥
यस्य प्रतापः प्रसृतः पृथिव्यां बिभेद शङ्के दृषदोऽपि नूनम् ।
अद्यापि नो चेत् स्फटिकोपलेभ्यो हिरण्यरेताः [2]प्रकटः कुतोऽस्तु ॥२३॥
कृतान्तकान्ताकुचकुम्भपत्रलतापि[3]धाने विधृतावधानम् ।
यः सङ्गरे हेजमदीनसंज्ञं शकाधिराजं तरसा व्यधत्त ॥ २४ ॥
नृपोऽथ दध्रे वसुधां सुधांशुभाजिद्यशा दुर्लभराजसंज्ञः ।
भ्रुवैव भ[4]ङ्गान् समराङ्गणे यः प्रापीपठद् वैरिगणान्निकामम् ॥ २५ ॥
जितं स्वमालोक्य यदीयकीर्त्या शङ्के त्रिनेत्रो ग्रहिलत्वमाप ।
महेश्वरस्यापि कुतोऽन्यथाऽस्य कौपीनवासोवसनेऽनुरागः ॥ २६ ॥
यत्खड्गधाराभिररिव्रजानां प्रतापवह्निः शमितः समन्तात् ।
तदङ्गनाबाष्पभ[5]रैरथास्य [6]चित्रं न कुत्रापि निरस्यते स्म ॥ २७ ॥
सहावदीनं समरे विजित्य जग्राह यो बाहुबलेन मानी ।
असङ्ख्यसङ्ख्यार्जितशारदीनशशिप्रभाभेत्तृतदीयकीर्तिम् ॥ २८ ॥
ततोऽभवद् दुःशलदेवनामा भूमानरिव्रातविजितृधामा ।
यन्मानसं प्राप्य न धर्महंसः काँस्कान् विलासान् कलयाञ्चकार ॥२९॥
पलायमाना दरतो द्विषन्तो बुम्बारवान् यान् समरेष्वकार्षुः ।
जयश्रियः पाणिमहाय यस्य त एव वेदध्वनयो बभूवुः ॥ ३० ॥
नाकेशनारीजनगीयमानगीतामृतास्वादवितीर्णकर्णम् ।
श्रीकर्णदेवं समरे विधाय तद्राज्यलक्ष्मीं परिणीतवान् यः ॥ ३१ ॥
हस्ते लगित्वाऽस्य जगत्समक्षं कण्ठे लुठन्त्याः प्रतिभूपतीनाम् ।
यत्खड्गवल्लेरसतीव्रतायाः किमौचितीं नाञ्चति कालि[6]मा स्म ॥ ३२ ॥
महीं [7]महीं भूषयति स्म तस्माच्छ्रीविश्वलो विश्ववि[8]लासिकीर्तिः ।
समूलमुन्मूल्य कुलं रिपूणामेकाधिपत्यं भुवि यश्चकार ॥ ३३ ॥
प्रसृत्वराऽनीतिलतावितानकुठारकल्पेऽपि यदीयराज्ये ।
ललास लोके यदनीतितैव तत्कस्य नो विस्मयमाततान ॥ ३४ ॥

---

* K नास्ति पद्यमिदम् । 1 K °वाचमासे । 2 K कुत आविरास्ते । 3 K कृतावधाने ।
4 P सङ्गान् । 5 K भराऽपि । 6 P कालिका । 7 K मही । 8 K विलासि ।

यस्यारिनारी गिरिगह्वरेषु सुहृन्मृगाक्षी रतिमन्दिरेषु ।
स्थित्वा सुखं भूषणभूषिताङ्गी विवेद नैवोदितमस्तमर्कम् ॥ ३५ ॥
हताऽहितानन्तकलेवराणां स्पर्शोल्लसत्सुप्तिभरालसदोषे ।
तल्लोलदृग्लोचनवारिपूरैः क्षोणीतलेऽम्बूक्षणमक्षिपद् यः ॥ ३६ ॥
अहीनधामानमदीनसेनं *सहावदीनं* समरे निहत्य ।
अमूमुचन् म्लेच्छकुलैर्द्विधाऽपि यो *मालवस्यापि* विभुर्विभुत्वम् ॥ ३७ ॥
ततो भुवं भूषयति स्म *पृथ्वीराजः* स्वकीयैर्विशदैर्यशोभिः ।
प्रकम्पमाने युधि यत्कृपाणे चित्रं निपेतुर्द्विषतां वतंसाः ॥ ३८ ॥
मूर्ध्न्युह्यमाना सततं जनानां मनोरथानाशु समर्थयन्ती ।
आज्ञा यदीया हरपादपद्मसेवेव कल्याणकरी बभूव ॥ ३९ ॥
गन्धर्ववृन्दैर्दिवि गीयमानां सौभाग्यभङ्गीं विनिशम्य यस्य ।
सा का सुरी स्वस्य न या ववाञ्छ तत्सङ्गमावाप्तिकरं नरत्वम् ॥ ४० ॥
ततो बभा*वाल्हणदेव*संज्ञो भूभृद्भटंमन्यशिरोवतंसः ।
वने द्विषन्तः स्मृतयद्रजेन्द्राश्चकम्पिरे वीक्ष्य महीभृतोऽपि ॥ ४१ ॥
देहीति जल्पन्नपि याचकेन दानप्रियो यो न जजल्प नेति ।
'दा'वत्र किं दानपदेऽस्ति 'नो'ऽपि बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा* ॥ ४२ ॥
छिन्नद्विषच्छोणितशोणशोची रणेषु यस्यासिलता चकासे ।
या स्पर्द्धिनीं वाचमुवाच तेनाकृष्टेव जिह्वा युधि सैव तेषाम् ॥ ४३ ॥
यद्रूपगानं भुवि गीयमानं निपीय कर्णाञ्जलिभिर्निकामम् ।
स्वप्नप्रसङ्गाप्ततदीयसङ्गा बभूव का नो धृतकामरङ्गा ॥ ४४ ॥
आनल्लदेवो भटमौलिमौलिरथोपयेमे नृपतित्वलक्ष्मीम् ।
या सङ्गरे दारितवैरिवारपार्णिंधयं स्वर्गपथं चकार ॥ ४५ ॥
जेगीयमानं निजकामिनीभिराकर्ण्य यं शेष इति प्रदध्यौ ।
कोऽप्यस्ति धत्ते वसुधां क्षणं यो गत्वा यथैनं प्रविलोकयामि ॥ ४६ ॥
स्वकालिमानं वितरन्नरीणां तेषां च जीवं च यशांसि गृह्णन् ।
रणे यदीयः करवालदण्डो वणिक्कलाकौशलकेलिरासीत् ॥ ४७ ॥
गिरीशकैलाससुधासुधांशुश्रियं समाकृष्य यशः किमस्य ।
वेधा व्यधत्तास्य पुरो यदेते निःश्रीकतामाकलयाम्बभूवुः ॥ ४८ ॥

---

1 K °निजमन्दि° । 2 P हताहितानां सकलेव° । 3 K °सच्छुप्ति° । 4 K प्रजाज्ञां । 5 K हरिपादपद्मशेषेव । 6 K गान्धर्व° । * पद्यमिदं नोपलभ्यते K । 7 P तेन° । 8 K बहुभाषि° । 9 P यां ।

प्रोदञ्च्य पाणिं कनकाद्रिदम्भादिदं जगादेव वसुन्धरेयम् ।
दाता विवेकी विनयी नयी वा विहाय नैनं सुषुवे मयाऽन्यः ॥ ४९ ॥

त्रस्तेन पत्याऽर्धपथे विमुक्ता स्थिताऽपि यद्वैरिवधूः स्वदेशे ।
शीतद्युतेस्तीव्रतया नवं स्वं द्वीपान्तरं प्राप्तममंस्त किञ्चित् ॥ ५० ॥

पर्यन्तशैलप्रतिबिम्बदम्भात् क्रीडारसक्रोडितदिग्द्विपं यः ।
अचीखनत् पुष्करपुण्यपारं कासारसारं शुचिवारिवारम् ॥ ५१ ॥

विस्मापकश्रीर्भवति स्म तस्माद् भूभृज्जगद्देव इति प्रतीतः ।
दानं समानं समवाप्य यस्य वनीपका नाधनदाः[3] किमुर्व्याम् ॥ ५२ ॥

सशोकधूमाश्रुजलैर्मिलित्वा निःश्वासवातै रिपुकामिनीनाम् ।
सद्यो घनीभूय न दुर्दिनानि तेने यदोजो ज्वलनः किमासाम् ॥ ५३ ॥

त्यागेऽतिविश्वस्य विधेर्विधित्सोर्यस्याङ्गुलीः पाणितलं नखांश्च ।
स्वर्गोस्तनाः स्वर्द्रुमपल्लवाः स्वर्मणिः किलाभ्यासकृतेऽग्रसृष्टिः ॥ ५४ ॥

गुणान् यदीयान् गणयन् विधाता परिश्रमं तं कलयाञ्चकार ।
त्रैलोक्यसृष्टावपि नानुभूतेर्यल्लेशमात्रं विषयीबभूव ॥ ५५ ॥

ततोऽभवद् *विश्वलदेव*नामा विश्वापतिर्विश्वविकासिधामा ।
यत्पाणिपाथोरुहि कर्णिकायाः पुपोष भावं ननु भूतधात्री ॥ ५६ ॥

विदारितारातिकरीन्द्रकुम्भाद् यान्यत्र पेतुर्युधि मौक्तिकानि ।
तान्येव पुष्पाणि विकस्वराणि यदीयकीर्तिव्रततेर्बभूवुः ॥ ५७ ॥

यदीयकीर्त्या विजितो हिमाद्रिरद्यापि नाश्रूणि विमुञ्चते किम् ।
भृशं तपस्तापनतापनेन द्रवीभवद्धेमशिलाछलेन ॥ ५८ ॥

गुणान् कणेहत्य निपीय यस्य भृशं प्रहृष्टोऽपि सुपर्ववर्गः ।
कष्टं स्वचित्ते वहदेतदेव न देवभूपं श्रितवान् यदेषः ॥ ५९ ॥

तस्मादशोभिष्ट महिष्ठधामा महीमहेन्द्रो *जयपाल*नामा ।
स्रवद्भिरस्रै रिपुकामिनीनां यशस्तरुः पल्लवितो यदीयः ॥ ६० ॥

वृन्दानि सङ्ख्ये बलिनामरीणां वीक्ष्यावरोधे च तनूदरीणाम् ।
यो विश्वविख्यातयशःप्रकाशो भृशं न कन्दर्पमुरीचकार ॥ ६१ ॥

दुग्धोदधिस्फीततरस्तरङ्गश्रेणिश्रियां वैभवजेतृभासः ।
जगू रणद्वेणुरवाभिरामं गुणान् यदीयानुरगेन्द्रकन्याः ॥ ६२ ॥

---

1 P °वधः । 2 K जितपारवारं । 3 P के धनिनो न चोर्व्याम् । 4 P त्रिलोक्य° ।
5 K कामे । 6 P कष्टं स चिन्ताहत एव तस्थौ ।

गाङ्गेयवद्गेयगुणस्ततोऽभात् श्रीगङ्गदेवो वसुधासुधांशुः ।
निःश्वासवाते रिपुकामिनीनां प्रतापसप्तार्चिरदीपि यस्य ॥ ६३ ॥
दोषाकरो यद्यशसो महत्त्वं विलोक्य मात्सर्यभरं दधानः ।
यदर्जयामास तमःकलङ्कच्छलात् तदद्यापि न मुञ्चतेऽसौ ॥ ६४ ॥
परःशतेभ्योऽपि रिपुव्रजेभ्यो यच्छन्नतुच्छां सुरलोकलक्ष्मीम् ।
उद्दामसङ्ग्राममवाप्य मात्रा हीनः कृपाणोऽजनि यस्य नैव ॥ ६५ ॥
गतेषु कर्णादिषु दानशौण्डेष्वयं जनो मा जनि दौःस्थ्यपात्रम् ।
ध्यात्वेति यं दायकचक्रशक्रं मन्ये दयालुर्विदधे विधाता ॥ ६६ ॥
त्रैलोक्यलोकावलिकर्णकर्णपूरीकृतानन्तगुणैकधाम ।
इलाविलासी जयति स्म तस्मात् सोमेश्वरोऽनश्वरनीतिरीतिः ॥ ६७ ॥
रणेषु येन स्वकराम्बुजेन प्रोल्लास्यमानाऽसिलता चकासे ।
अन्तःस्फुरत्क्रोधकृशानुजातधूम्येव साक्षाद् बहिरुल्लसन्ती ॥ ६८ ॥
उक्तेन गोत्रस्खलनाद् यदीयनाम्ना विलक्षं रमणं विधाय ।
चिराय सम्भोगरसप्रसङ्गि चेतो निजं प्रीणयति स्म का न ॥ ६९ ॥
वह्नेर्द्विषन्नम्ब्विति यत्प्रतापाग्निमभ्यवर्षन्नरियोषितोऽस्रैः ।
हविर्वेदेभिर्ववृधे सकामं वामे विधौ वाममशेषमेव ॥ ७० ॥
अनेन राज्ञा सममेकभावं कथं समायातु भुजङ्गराजः ।
अधात् सहस्रेण स गां शिरोभिरयं पुनस्तां भुजयैकयैव ॥ ७१ ॥
कर्पूरदेवीति बभूव तस्य प्रिया प्रियाराधनसावधाना ।
जितं यदास्येन जले निलीयाद्याप्यप्सुजं किन्न तपस्तनोति ॥ ७२ ॥
इह स्थितोऽसौ रमणः कदाचिद् विलोक्य लुब्धो भविता वतैताः ।
इतीव या नो हृदये प्रवेष्टुमेणीदृशामप्यदितावकाशम् ॥ ७३ ॥
पत्या भुवो वैषयिकं विनोदं सा निर्विशङ्कं किल निर्विशन्ती ।
अमानधामानमसूत सूनुं हरेरिवाशा तुहिनांशुबिम्बम् ॥ ७४ ॥
अतुच्छवात्सल्यभरं दधानो वितत्य तज्जन्ममहं महान्तम् ।
जगज्जनस्याह्लादकरस्य पृथ्वीराजेति नामाधित तस्य भूपः ॥ ७५ ॥
तनुत्विषा निर्दलितान्धकारजालः स बालोऽन्वहमेधमानः ।
भृशं प्रजानां नयनाम्बुजानां भद्रङ्करो भानुरिवाजनिष्ट ॥ ७६ ॥
शस्त्रेषु शास्त्रेषु च लब्धपारं विलोक्य भूमानथ तं कुमारम् ।
साम्राज्यभारं प्रवितीर्य तस्मै योगेन मार्त्तं वपुरुत्ससर्ज ॥ ७७ ॥

1 K जाता । 2 K अप्ते° । 3 K माद्दित° ।

पित्रा प्रदत्तं समवाप्य काले राज्यं स भूभृन्नितरां चकासे ।
अहर्मुखेऽहर्पतिनोदयाद्रिर्यथा तमोव्रातविनाशिरोचिः[1] ॥ ७८ ॥
गुणाभिघातं प्रसभं प्रकुर्वन्नप्येष चक्रे न गुणाभिघातम् ।
अपि प्रतन्वन् परलोकबाधां न च प्रतेने परलोकबाधाम् ॥ ७९ ॥
निषेवमाणोऽप्यसितां सवृत्तिं नैवासितां वृत्तिमुपाददितैषः ।
तेनेति तेने परलोकपीडा न तेन तेने परलोकपीडा* ॥ ८० ॥
द्विट्कुम्भिकुम्भतटदत्तदृढप्रहारप्रत्यग्रलग्ननवमौक्तिककैतवेन ।
क्ष्मामण्डलं फलितुमुन्मिषितप्रसूनराजीव यस्य युधि खड्गलता विरेजे ॥८१
कीर्तिर्यस्य सतीव्रतेऽपि मृदुरप्याधत्त न प्रत्ययं
चित्ते कस्य न योज्झति स्म तमहो कल्पान्तमप्यास्थितम् ।
अन्येषां तु सतीव्रताऽपि न सती वेश्येव तान् जीविता-
वध्येवोज्झति चेन्न या स्म कतिचित् तान् जीवतोऽप्युज्झति† ॥८२॥
वाग्देवीं चिकुरे शशाङ्कमुदरे शम्भुं गले तद्वृषं
प्रोथाग्रे बलमम्बरे मदकलं स्वःकुम्भिनं कुम्भयोः ।
जग्राहास्य यशोभ्रमेण भुवने भ्राम्यद् द्विषां दुर्यशो
धिग्वैरस्य दुरन्ततां स्फुरति या तत्सन्ततावप्यहो† ॥ ८३ ॥
भेजे यस्य शयालुतां शयपयोजन्मन्यसाविन्दिरा
तद्रागेण समेदसिच्छलमलंकृत्य स्वयं श्रीपतिः ।
नैवं चेद् बलिवैरिविक्रमभरध्वंसेऽस्य कौतस्कुती
शक्तिः संयति संबभूव नितमामुल्लासिनीलद्युतेः ॥ ८४ ॥
दिक्शैलद्विपकूर्मभोगिविभवः प्रोद्धृत्य सर्वंसहां
तद्भूयो भरभङ्गुराः परिमुमुक्षन्तोऽपि कम्पच्छलात् ।
दृष्ट्वा यं प्रतिपन्नसूरमनिशं भूपालचूडामणिं
लज्जाकीलककीलिता इव न तां शङ्के त्यजन्ति स्म ते ॥ ८५ ॥
औन्नत्येन यशोभरेण च पराभूतिं परां लम्भितो-
ऽस्योच्चैर्लम्भयितुं पराभवपदं वाञ्छन् स्वयं तौ पुनः ।
ईशाराधनमाततान हिमवान् कन्याप्रदानादिभि-
र्व्यर्थं किं यशसैककेन न तयोस्तं वेदमूढो जितः‡ ॥ ८६ ॥
विस्तारच्छावनद्धेऽनवरतममृतासिक्तकल्पद्रुसान्द्र-
च्छायाच्छन्ने निषण्णाः श्रमविगमकृते चत्वरे चत्वरेऽपि ।

1 K °शोचिः । * K नास्ति पद्यमिदम् । † K नोपलभ्यत इदं पद्यद्वयम् ।
2 K चार्वी भवत् । ‡ K नास्ति पद्यमिदम् ।

तीरे सिद्धापगायाः सुरसुरभिगणांश्चारयन्त्योऽस्य दानं
जेगीयन्ते स्म देव्यः करकमलमिलद्वेणुवीणाविलासाः ॥ ८७ ॥
शश्वद् येन निरीतितां गमयता क्षोणीतलं क्ष्माभृता
दिष्टा अप्यतिवृष्टयो जलनिधेः पारं प्रयातुं परम् ।
यत्प्रक्षिप्य ररक्षिरेऽक्षिषु निजेषूच्चै रिपुस्त्रीजनै-
स्तत्तेनैव हतप्रियेण पुपुषे सार्कं न किं वैरिता ॥ ८८ ॥
यत्खड्गक्षुण्णभूमीपतिविततिशिरःसञ्चरद्रक्तधारा-
वारां राशिं प्रसर्पत्[2] क्षितितलमखिलं रक्तमेवाकरिष्यत्[3] ।
एषा प्रोद्यच्छदच्छामृतकरकिरणक्षुब्धदुग्धाब्धिमुग्धा
यत्कीर्तिर्विस्फुरन्ती यदि सपदि न तच्छ्वेततामापयिष्यत् ॥ ८९ ॥
वीरे यत्र रणे तथा वितरणे सन्मार्गणानां गणां-
स्तन्वाने प्रथमानमानविभवे संलब्धलक्षान् क्षणात् ।
पूर्वोपार्जितकीर्तिकर्तनभिया सम्भ्रान्तचित्तश्चिरं
कश्चिन्न क्षयति स्म दानपरतां नो वा भटंमन्यताम् ॥ ९० ॥

॥ इति श्रीजयसिंहसूरिशिष्यमहाकविश्रीनयचन्द्रसूरिविरचिते श्रीहम्मीरमहाकाव्ये वीराङ्के श्रीभीमदेवप्रभृतिपूर्वजवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥
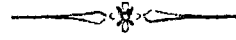
अथ तृतीयः सर्गः ।

अथ प्रथीयस्तरसा रसायास्तलं शयालुं[4] स्ववशये शकेन ।
सहाबदीनेन वितन्वतालमुपद्रुताः पश्चिमभूमिपालाः ॥ १ ॥
आह्लादनेनाखिलभूतधात्र्या यथार्थतां नाम निजं नयन्तम् ।
गोपाचलद्रङ्ग[5]वितीर्णरङ्गं श्रीचन्द्रराजं पुरतो निधाय ॥ २ ॥
उपायनानीतमहेभकुम्भगलन्मदार्द्रीकृतभूमिभागम् ।
भेजुर्भुजोर्जाविजितारि पृथ्वीराजालयद्वारमुदारवेगाः ॥ ३ ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।
प्रवेशिता नाथगिराऽथ वेत्रकरेण कान्ता[6] धरणेर्नरेण ।
पृथ्वीपतेः पादसरोजयुग्मं नत्वा यथास्थानमुपाविशंस्ते ॥ ४ ॥
दीनाननाँस्तान् प्रविलोक्य पृथ्वीराजस्ततः पार्श्वचरानुवाच[7] ।
काले सरांसीव[8] निदाघसंज्ञे श्रियं किमेते[9] दधते न भूपाः ॥ ५ ॥

---

1 K सार्द्धं । 2 K प्रसर्पन् । 3 K ऽकरिष्यति । 4 K शयालुस्ववश° । 5 P गोपालचन्द्राङ्ग° । 6 P कान्तीभरणा न° । 7 K पृच्छति विस्मितः सन् । 8 P सरा-हिमांसीव । 9 P किमन्ते ।

तं चन्द्रराजोऽथ जगाद चन्द्रश्रीगर्वसर्वङ्कषदन्तदीप्त्या ।
हृद्युल्लसद्भाजयदुग्धसिन्धोर्विस्तारयंस्तारतरानिवोर्मीन् ॥ ६ ॥
तपःप्रभावार्जितवर्यवीर्यः शहाबदीनः शकमेदिनीनः ।
उपप्लवायाजनि धूमकेतुरिवावनौ[2] बाहुजमण्डलानाम् ॥ ७ ॥
देशानशेषान् जहि नागराणां हरैणनेत्रा दह मन्दिराणि ।
विगृह्य यो बाहुजराजराजेः कुलानि चक्रे विपदाकुलानि ॥ ८ ॥
अशेषभूपालविशेषकाभ ! के नाम ते क्षोणिभुजः[3] क्षमायाम् ।
स स्वौजसा त्रासितबाहुजानां वृन्दैर्दरीः पूरितवान् न येषाम् ॥ ९ ॥
यः सङ्गरे सङ्गररङ्गवेदी क्षात्रं क्षणाद् वेश्म नयन् यमस्य ।
किं भार्गवोऽयं पुनरेव जात इत्याकुलैर्वीरकुलैर्व्यतर्कि ॥ १० ॥
अयं समागादयमाः समागाज्जना इति स्फारितलोचनाब्जम् ।
दिशो दशापि प्रविलोकयन्तो यतो भयेनानिमिषीबभूवुः ॥ ११ ॥
उद्वास्य शस्त्राण्यपि भूपतीनां यस्त्रैपुराणीव पुराणि शम्भुः ।
अतिष्ठिपद् विट्कुलशूलमूलस्थाने प्रधानां निजराजधानीम् ॥ १२ ॥
निःकारणं दारुणवैरभाजा तेनाभिभूता नृपभूभुजोऽमी ।
समैयरुस्त्वां शरणं शरण्यमतो भवानेव परं प्रमाणम् ॥ १३ ॥
इत्येतदीयां विनिशम्य वाचं वाचंयमानामपि कोपकर्त्रीम् ।
आकृष्य कूर्चं तरवारिमुष्टिपदिष्ठता[4]भात् करवारिजेन ॥ १४ ॥
मयूरबन्धेन निबन्ध्य नैनं पादार[5]विन्दे यदि वः क्षिपामि ।
जातोऽन्वये तर्हि न चाहमाने इति प्रतिज्ञामकरोन्नरेशः[6] ॥ १५ ॥
ततस्ततश्रीः शुभकारिसर्वग्रहे विलग्ने विजये च योगे ।
चचाल चञ्चत्प्रतिपन्थिमाथचिकीर्षया व्याकुलचित्तवृत्तिः ॥ १६ ॥
पौरैणपोताभदृशः प्रयान्तं प्रचिक्षिपुस्तं प्रति यान् कटाक्षान् ।
माङ्गल्यहेतोः स्म भवन्ति तस्य त एव दूर्वाक्षतकान्तिभाजः ॥ १७ ॥
निरन्तरप्राप्त[7]महाप्रसादविशुद्धये शुद्धधियः प्रकामम् ।
करस्फुरत्स्फारतरासिदण्डस्फराः प्रचेलुर्वरवीरवाराः ॥ १८ ॥
द्यावापृथिव्योरुदरम्भरीणि प्रोत्तुङ्गरङ्गद्गजगर्जितानि ।
अपि द्रुयानां धरणीधराणां सत्त्वानि चक्रुर्विधृताधृतीनि ॥ १९ ॥
प्रतापसूर्येऽभ्युदितेऽदसीये साध्यं किमेतेन बतोद्यतेन ।
इतीव तीव्रद्युतिमुद्यतश्रीसैन्योत्थरेणुस्तिरयाम्बभूव ॥ २० ॥

1 P गर्वकूल° ।　2 P °हितक्षितौ ।　3 K °भृतः ।　4 K °ष्ठताभास्कर° ।
5 K °वार° ।　6 K नरेन्द्रः ।　7 K °गुरुप्रसा° ।

रजोव्रजैर्वाजिखुराभिघातोत्थैर्जानुदघ्नत्वमपि प्रयाताः ।
मदोदकैः सैन्यमतङ्गजानां वंशद्वयस्य (?) सरितो बभूवुः ॥ २१ ॥
इति प्रयाणैः कृतवैरिवारप्राणप्रयाणैर्नृपतिः कियद्भिः ।
वसुन्धरां भूरितरामतीत्याभ्यवेष्टयत् तच्छकराजदेशम् ॥ २२ ॥
आजग्मिवांसं तमुपस्वदेशं चरैरथाकर्ण्य शकेश्वरोऽपि ।
सन्नह्य सैन्यं रिपुदत्तदैन्यं भेजेऽभ्यमित्रत्वमवार्यवीर्यः ॥ २३ ॥
कोदण्डदण्डद्युतिमण्डिताङ्गाः कटीतटा[3]बद्धबृहन्निषङ्गाः ।
सूक्ष्माखिलक्षीकृतवैरिवीराः पृष्ठे निरीयुर्यवनप्रवीराः ॥ २४ ॥
प्राग् रेणुजालानि ततः करेणुकुम्भभ्रमत्षट्पदझंकृतानि ।
ततो भटानां स्फुटसिंहनादाः सैन्यद्वयस्याप्यमिलंस्तदानीम् ॥ २५ ॥
परस्परालोकनितान्तजातप्रसृत्वरायल्लकवेल्लदङ्गाः ।
नानास्फुरद्धेतिभृतः प्रवीराः प्रतेनिवांसो रणरङ्गलीलाम् ॥ २६ ॥
मणीवकानीव महीरुहाणां क्षिपन् यशांसि द्रुतविद्रुतानाम् ।
ववौ मरुत्वान् भटराजराजिकराम्बुजत्यक्तपृषत्कजन्मा ॥ २७ ॥
मिथःसमानाक्षिनिरीक्षणेन प्ररूढगूढप्रतिघा इवोच्चैः ।
घटैकदेशीयभटा घटाश्चैभानमायुध्यन्त हठात् तदानीम् ॥ २८ ॥
दन्तावलस्य प्रखरं प्रविश्य कश्चित् तदाघातकलाविपश्चित् ।
क्षुर्या विदार्योदरमुग्रवीर्यो विलोठयामास तमाशु भूमौ ॥ २९ ॥
उत्प्लुत्य कश्चित् तरसा रसाया आरूढवांस्तुङ्गकरीन्द्रकुम्भम् ।
लाङ्गूललीलायितखड्ग[6]दण्ड एणारिलीलां कलयाम्बभूव[7] ॥ ३० ॥
कश्चित् स्प(स्य?)दात् स्प(स्य?)न्दनमापतन्तं धृत्वा करी काकमुखे सुखेन ।
अवाप्य [8]तीव्रां भ्रमिमन्तरिक्षे प्रास्फालयत् सङ्गरभूशिलायाम् ॥ ३१ ॥
प्रक्षिप्य पश्चात् करमुग्रवेगादुत्पाटितस्पन्दनकैतवेन ।
योद्धुं स्वयं पट्टिशमादधान[9] इवेतरोऽभात् पदगै रमेभः ॥ ३२ ॥
[†]चीत्कारमाकर्ण्य मतङ्गजानां वित्रस्यतः कोऽपि तुरङ्गमस्य ।
उष्णीषखण्डेन पिधाय कर्णावपूपुरत् तैः सममाहवेच्छाम् ॥ ३३ ॥
हन्तुं क्रुधा दन्तिनमापतन्तमरुन्तुदाग्रैर्युधि दद्भिरेव ।
प्रत्यर्थिना लूनभुजद्वयो[10]ऽन्यो दशन् प्रतेने नययुद्ध[11]लीलाम् ॥ ३४ ॥
सन्नाहसन्धावभिजात[12]गात्रप्रभेदने किं कुतुकं भटानाम् ।
मनोऽपि तेषां परमाणुरूपमभेदि यत् तैः करलाघवेन ॥ ३५ ॥

---

1 K °गुल्म° । 2 P °वारः । 3 K °तटासक्त° । 4 P °भटास्सुशोभाश्वानामश्रु° । 5 P प्रघरं । 6 K °बाहुदण्ड । 7 K चकार । 8 P सद्यो । 9 K °दधानमिवेतरेभात् । † एतत्पद्यं नोपलभ्यते K आदर्शे । 10 K द्वये । 11 P °युद्धमेव । 12 K °जालिगा° ।

तदा विपत्तौ पितरः सुतानां प्रमोदपूरं युधि लेभिरे यम् ।
अपुत्रिणामप्यजनिष्ट तेषामेतच्छतांशोऽपि न जन्मकाले ॥ ३६ ॥
अथोद्भटैश्चारभटैस्तुरुष्काश्चण्डासिदण्डैरभिताड्यमानाः ।
नेशुः समन्ताल्लगुडप्रपातैर्यथा कुलान्येकविलोचनानाम्[1] ॥ ३७ ॥
स्यात् पेषयन्त्रान्तरसंस्थितानां यादृश्यवस्था हरिमन्थकानाम् ।
तादृश्यभूद् भूपतिचाहमानरणाश्रयाणां यवनेश्वराणाम् ॥ ३८ ॥
दृष्ट्वा विशीर्णं युधि जीर्णपर्ण[2]मिवात्मनीनं शिबिरं शकेशः ।
क्रोधादधाविष्ट महिष्ठमुष्टिधृतासिदण्डः स्वयमाशुचण्डः ॥ ३९ ॥
तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य चाहमानोऽप्यधावद् धृततीव्रवेगः ।
अन्तःस्फुरत्क्रोधकृशानुकीलानुकारिरागारुणदारुणाक्षः ॥ ४० ॥
करोदरोद्दामिमहासिदण्डच्छलोल्लसत्पुष्करदुर्निरीक्षौ ।
अभ्युद्यतौ[3] वन्यगजौ किमेतौ वितर्क्यमाणाविति वीरवारैः ॥ ४१ ॥
प्रपूरयन्तौ भुवनोदराणि पादाभिघातप्रतिजातशब्दैः ।
मिथःप्रहारप्रथनप्रवीणौ युद्धं चिरायातनुतां क्रुधा तौ ॥ ४२ ॥
एवं नृदेवो युधि युध्यमानः प्रसह्य किंचिच्छलमाकलय्य ।
शकाधिराजं विनियम्य सम्यगपूपुरत् स्वां विधिवत् प्रतिज्ञाम् ॥ ४३ ॥
महीमहेन्द्रान् शरणागतांस्तान् स्वे स्वेऽधिकृत्वा विषये नयेन ।
ततः स मानी निजराजधानीमापद् विमानीकृतशत्रुजातः ॥ ४४ ॥
वासांसि दत्त्वा सुरलोकलोभिमहांसि तस्मा इति राड् मुमोच ।
हतेऽत्र[4] को नाम पुनर्विधित्सुरमायया सङ्गररङ्ग[5]मेवम् ॥ ४५ ॥
पृथक् पृथक् सङ्गररङ्गभङ्ग्यैत्थं सप्तकृत्वः क्षितिवासवेन ।
विनिर्जितोऽसौ यवनावनीशो मम्लौ च जग्लौ च भृशं नृशंसः ॥ ४६ ॥
अथाऽसहस्तं स्वबलच्छलाभ्यां जेतुं शकेशः शकचक्रकेतुम् ।
बलाभिलाषी प्रचचाल चन्द्र इव ग्रहेशं प्रति खर्परे[6]शम् ॥ ४७ ॥
काम्बोजलङ्काहयभीमभिल्लवङ्गादिदेशाधिपपेशलश्रि ।
शिष्टाष्टलक्षप्रमितामिताहिकान्तत्वराजित्वरवाजिराजि ॥ ४८ ॥
सम्पादितारातिविपत्तिपत्तिकोट्याकुलं शौर्यकलं[7] बलं प्राक् ।
उत्कात्मवार्ताय नृपाय तस्मै घटैकदेशीयनृपो ददेऽथ ॥ ४९ ॥

---

1 K °विलोकनानां । 2 P जीर्णकल्प° । 3 K अभ्युद्यतौ । 4 P हा तत्र । 5 P सङ्गरमेव मुखैः । 6 P षर्प्प° । 7 K सौर्यकलं ।

सद्यस्ततोऽसौ प्रसरत्प्रसादाद् बलं समासाद्य सहाबदीनः ।
न केनचिज्ज्ञातचरः समेत्य जग्राह दिल्ली[2]मतिविग्रहेण ॥ ५० ॥
ततो भियाऽभ्यस्तपलायनानां हता हता हेतिकृतारवाणाम् ।
भग्नप्र[3]भाणां मुखतो जनानां समागमं शत्रुपतेर्निशम्य ॥ ५१ ॥
रणे मयाऽसौ शतशो जितोऽपि किं चापलं बाले[4] इवातनोति ।
वहन्नहङ्कारमिति क्षितीशः प्रचेलिवांस्तुच्छपरिच्छदोऽपि ॥५२॥ युग्मम् ।
प्रागल्भतद्धस्तभृशानुभूतभीस्तं समीक्ष्येति शकः प्रदध्यौ ।
अस्माकमेकाक्यपि नैष जेतुं शक्यो मृगाणामिव पञ्चवक्त्रः ॥ ५३ ॥
ततो निशीथे निभृतान्धकारे सम्प्रेषितैः प्रत्ययितैः शकेशः ।
अबीभिदत् पुष्कलनिष्कदानैस्तस्याश्वपालं सह [5]तौर्यिकैः सः ॥ ५४ ॥
दिष्ट्या समेता भुवमस्मदुक्ता यास्यन्ति वेश्मानि परं निजानि ।
हन्मो वितन्मोऽद्य दृढं स्वराज्यमित्युक्तियुक्तिप्रथका मिथोऽपि ॥५५॥
आकाशशेषे तुहिनांशुबिम्बे प्रकाशकल्पेऽतुहिनद्युतौ च ।
शकाः समन्तान्निभृतं समेत्य पृथ्वीपतीये शिबिरे निपेतुः ॥५६॥ युग्मम् ।
गृहाण शस्त्रं निगृहाण शीघ्रं प्रयात एवैष श[6]कोऽग्रतस्ते ।
आहन्म एतान् निहता वर्तैतैरित्थं भटप्रोद्भटवाक्यचित्रे ॥ ५७ ॥
प्रवर्त्तमाने समरे समन्ताच्छकेन नुन्नेन तदाश्वपेन ।
तुरङ्गमस्तेन नृपाय नाटारम्भाभिधानोऽश्वयते द[7]दे सः ॥ ५८ ॥
तमश्वमारूढममुं विभाव्य शकास्तचित्ता अथ तौर्यिकास्ते ।
अवीवदन् वीरवरप्रियाणि मृदङ्गभेरीपटहादिकानि ॥ ५९ ॥
अभ्युन्नताम्भोधरधीरगर्जिवि[8]तर्जिनं तूर्यरवं निशम्य ।
प्रनर्तितुं बर्हणवत् प्रवृत्ते ताक्ष्र्ये विलक्षः क्षणमास भूपः ॥ ६० ॥
भज स्थिरत्वं व्रज मा विषादं इत्युक्तिभाजो यवना जवेन ।
किंकार्यतामूढममुं तथास्थमवेष्टयन् द्राक् चटका इवाहिम् ॥ ६१ ॥
भुवं स्पृशन् दक्षिणपादजान्वङ्गुष्ठेन चाकुञ्चितवामपादः ।
वहन् कृ[9]पाणावरणं च हस्तेऽथोत्प्लुत्य ससेनिंषसाद भूमौ ॥ ६२ ॥
भङ्ग्या भ्रुवः कांश्चन कांश्चिदुग्रासैर्वेल्लनैः कांश्चन सिंहनादैः ।
वित्रासयंश्चित्रविधायि युद्धं चिराय चक्रे भटचक्रशक्रः ॥ ६३ ॥

---

1 P साम्राज्यमा° । 2 P दिल्ली° । 3 K °प्रमेभ्या° । 4 K बालकवत्तनोति ।
5 K तूर्यिकैः । 6 K शकः पुरस्ते । 7 K ददान । 8 K °विर्जितसूर्य° । 9 K कृपाणं वरणं च भूपो ।

पृष्ठे शकस्तमवुपेत्य कश्चित् प्रक्षिप्य कण्ठे धनुराततज्यम् ।
अपीषतद् भूपतिमाशु पश्चात् सम्भूय सर्वे तरसा बबन्धुः ॥ ६४ ॥

अथ स धरणिकान्तः सद्गुणालीनिशान्तः
प्रतिहतखलजातः प्रौढराढावदातः ।
विधिविलसितयोगादात्तबन्धः शकेन्द्राद्
द्विरपि रतिमहासीद् भोजने जीवने च ॥ ६५ ॥

यवनाधिपदेशमनुप्रहितं विभुनैव पुरोदयराजभटम् ।
समुपेतमवेक्ष्य तदा शकराट् प्रविवेश पुरीमुररीकृतभीः ॥ ६६ ॥

कष्टं निशम्योदयराज ईशितुः प्राप्तं तथा नाहमभूवमित्यथ ।
मूर्धानमुच्चैरधुनोन्मुहुर्मुहुः शल्यं तदुद्धर्तुमिव स्वतो हृदः ॥ ६७ ॥

संत्यज्यैनं व्यसनपतितं स्वामिनं चेद् व्रजामि
क्रीडां व्रीडा कलयति तदा गौडगोत्रे मुखं मे ।
इत्थं ध्यात्वा शकपतिपुरीं सन्निरुध्याभितोऽसौ
तस्थौ पक्षद्वयमनुदिनं युध्यमानो हठेन ॥ ६८ ॥

म्लेच्छावनीपमिममेवमन्यदा कश्चिज्जगाद सविषादमानसः ।
त्वामेषकोऽमुचदनेकशो रणे त्वं नैकवेलमपि हा! जहास्यमुम् ॥ ६९ ॥

धर्मोचितामपि तदेति तद्गिरं श्रुत्वा भृशं स कुपितो नृशंसधीः ।
उच्यन्त एत इत एव विद्रवद्राजन्यकोपनिषदस्तमित्यवक् ॥ ७० ॥

वीरेन्द्रेष्वथ दत्तदृष्टिषु धरापीठे ह्रिया प्राक् सतां
सान्द्राश्रुस्रुतिसिक्तशोकलतिकाकन्देषु वृन्देषु च ।
आनीयैष नृपं तमुग्रतररुट् दुर्गान्तरेऽचीचयत्
कार्याकार्यविचारणान्धबधिरा हा! हाऽधमाः सर्वतः ॥ ७१ ॥

शैवा यत् 'शिव'मामनन्ति 'सुगतं' बौद्धा यदाचक्षते
'सर्वज्ञं' यदुदाहरन्ति नितमामर्हन्मते छेकिलाः ।
तद्ब्रह्माद्भुतचिन्मयं स्थिरमनास्तत्र स्थितोऽसौ स्मरन्
पृथ्वीराजनृपो नृपालितिलको लेभे शिवं शाश्वतम् ॥ ७२ ॥

पृथ्वीपतेरिति विनाशगतिं निशम्य दूनः स गौडकुलपङ्कजबालसूर्यः ।
स्थानं निजं तदुपगम्य बलं स्वयं च युध्वा दिवस्पतिपदं तरसाऽऽससाद ॥ ७३ ॥

---

1 K [illegible] । 2 K तदुस्थातु° । 3 P राजश° । 4 K लज्जया क्षितितलविन्यस्ताक्षिषु [illegible] । 5 K [illegible] । 6 K °मतच्छे° । 7 K पृथ्वीपालनृपालमाल° । 8 K तदुपनीय ।

अधिगत्य भूपतिविपत्तिमिति स्रवदश्रुमिश्रनयनस्तदनु ।
विहितौर्ध्वदैहिक इलामखिलां स्वकरे चकार हरिराजनृपः ॥ ७४ ॥

यन्नामप्रतिवर्णसंश्रुतसुधापूरापतद्‌यद्‌यशः-
कर्पूरोरुरजोभरप्रसृमराविर्भावविपङ्काकुले ।
वाणीनां पथि नाभजन्त पथिकीभावं यदीया गुणा
औदार्यप्रमुखाः किमद्भुतमहो ! तत्तत्कवीनामपि† ॥ ७५ ॥

यत्पाणिं सरसीरुहं किल रमा भेजेऽसिदम्भाच्च तां
रागादन्वगमत् स्वयं हरिरभूत् सूनुः प्रतापस्तयोः ।
यः श्रुत्वाऽग्रजवैरिणं स्मररिपुं कोपात् तथाऽतीतपत्
नालं दूरयितुं यथा क्षणमपि स्वस्मात् स गङ्गामभूत्† ॥ ७६ ॥

भूचक्रे स्वयशोऽद्रितुङ्गशिखरादभ्युद्गतैरंशुभि-
र्ब्रह्माण्डाहतिभग्नवेगविधुरैः पश्चान्निवृत्तैः पुनः ।
देवानामपि कुम्भजन्ममुनये दातुं किमर्थं व्यधा-
न्नित्योल्लासिविकासिकाससुभगंभूष्णुश्रियं यो दिवम् ॥ ७७ ॥

विधुरतिविधुरश्रीर्निस्तरङ्गा च गङ्गा
कनकगिरिरगौरस्त्यक्तगर्वश्च शर्वः ।
कुमुदममदमैन्द्रः सिन्धुरो नोद्धुरौजा
अजनि लसति विष्वग्द्रीचि यत्कीर्तिपूरे ॥ ७८ ॥

यान् यान् व्यत्यगमन् नृपान् कृतनतीस्ते ते प्रकाशं ययु-
र्यान् यान् प्रत्यचलच्च भेजुरभितस्ते ते क्षणान्म्लानताम् ।
यस्य क्षोणिपतेः प्रतापवसतेर्दिग्जैत्रयात्रोत्सवे
सेना कापि न वा व्यराजततमां संचारिणी दीपिका‡ ॥ ७९ ॥

कर्तुं दिग्जयमुद्यतस्य निखिलं क्षोणीतलं क्रामता-
मश्वानां गतिभङ्गतामुपनयन् वेगोत्तरं धावताम् ।
वारांराशिरसावजायततमां यस्यान्तरायः कवे-
र्वाचां वाच्यविचारभास्वररुचां गोष्ठीशठानामिव‡ ॥ ८० ॥

हत्वाऽनेन विपक्षभूमिपतयः स्ववैभवं लम्भिता
अस्येमामुपकारितां स्वहृदये सम्भाव्य तेऽपि क्षणात् ।
सच्चक्रुर्गजवाजिराजिवसुधाकोशादिदानैरमुं
वन्ध्यं सारपरोपकारजनितं पुण्यं न शत्रावपि‡ ॥ ८१ ॥

---

† इदं पद्यद्वयं नोपलभ्यते K आदर्शे । 1 K °दभ्युद्यतै° । 2 K किमर्थे । 3 K शुभगं । 4 K गर्वः स । 5 K सिन्धुरा । ‡ एतच्चिह्नाङ्कितं पद्यत्रयं K आदर्शे नोपलभ्यते ।

हुत्वा यो निजकोपपावकमुखे द्विड्वीरहव्यं शुचा-
क्रन्दत्तद्रमणीविलोचनगलद्बाष्पाम्बुभिर्भूरिभिः ।
भूचक्रेऽत्र तथातिवृष्टिमनिशं प्रोल्लासयामासिवा-
नाशिश्राय यथा विनाशमचिरादन्यायबीजाङ्कुरः ॥ ८२ ॥

॥ इति श्रीजयसिंहसूरिशिष्यमहाकविश्रीनयचन्द्रसूरिविरचिते श्रीहम्मीरमहाकाव्ये वीराङ्के श्रीपृथ्वीराजसङ्ग्रामवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥
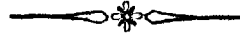
अथ चतुर्थः सर्गः ।

कुर्वन् कुवलयोल्लासमसन्तापकरैः करैः ।
वेला इव तुषारांशुः स प्रजा अभ्यवीवृधत्[1] ॥ १ ॥
राज्यं निर्विशतेऽन्येद्युर्हरिराजमहीभृते ।
प्रीतिव्रततिवृद्ध्यर्थं श्रीगूर्जर[2]नरेश्वरः ॥ २ ॥
विस्फुरच्चुक्रसम्बन्धाः समुन्नतपयोधराः ।
वर्षा इवोल्लसद्धर्षाः प्रेषयामास नर्त्तकीः ॥ ३ ॥ युग्मम् ।
अन्यदा स्फुरितोदारस्फारशृङ्गारभासुरे ।
नृपे च नृपलोके च स्फीतप्रीतौ निषेदुषि ॥ ४ ॥
वाद्यमानेषु वाद्येषु तालमेलमनोहरम् ।
गायनेषु च गायत्सु कोकिलालापकोमलम् ॥ ५ ॥
दृढयौवनसोपानाः शृङ्गाररसवारयः ।
विस्फुरद्धालसेवाला विलासोल्लासवीचयः ॥ ६ ॥
पीनस्तनोल्लसत्कोका विस्मेरवदनाम्बुजाः ।
चलद्[3]दृक्पृथुलोमानः सुमेषोर्दीर्घिका इव ॥ ७ ॥
वात्या व्यतिकरो[4]द्धूतकदलीदलवत् तनुम् ।
वेल्लयन्त्यो भ्रमन्तश्च चक्रजीविकचक्रवत् ॥ ८ ॥
कदाचिद् भुजयोर्मूलं कदाचिन्नाभिमण्डलम् ।
कदा[5]चन कुचौन्नत्यं दर्शयन्त्यो मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥
लसल्लावण्यलीलाभिर्लोकलोचनलोभनाः ।
मूर्त्ताः कन्दर्पदर्पास्ताः प्रावर्तन्त प्रनर्तितुम् ॥१०॥-सप्तभिः कुलकम् ।

---

1 K अभ्यवर्धयत् । 2 P गुर्जर° । 3 P चलदृक् । 4 P °करावृत° । 5 K कदाचित् कुचपीनत्वं ।

तस्याजन्मनमेवासीदासां लावण्यवारिधौ ।
मग्ने दृग्मनसी यस्य निर्यातुं शक्ततां गते ॥ ११ ॥
इति तासां स्फुरद्भासां नाट्यं पश्यन्नहर्निशम् ।
क्षणमात्रमपि त्यक्तुं नालंभूष्णुरभूदयम् ॥ १२ ॥
ततोऽसौ गीतनृत्तादिदक्षदानपरायणः ।
मितंपचत्वं शिश्राय सेविनां जीविकार्पणे ॥ १३ ॥
वार्तामलभमानास्ते तस्य सेवामहासिषुः ।
स्वार्थसिद्धिं विना [3]कोऽपि किं स्यात् कस्यापि सेवकः ॥ १४ ॥
राज्यस्थितिं तथाभूतां दर्शं दर्शं प्रजा अपि ।
विरज्यन्ते स्म तस्मात् प्राक् स्त्रितमा दुर्भगादिव ॥ १५ ॥
एतत् स्वरूपं विज्ञाय प्राग्वैरी शकनायकः ।
ससैन्योऽभ्येत्य *ढिल्लीतो* देशसीमानमानशे ॥ १६ ॥
काकनाशं ततो भीत्या प्र[5]नष्टजनताननात् ।
सौख्यसर्वङ्कषं श्रुत्वाऽऽगमनं शत्रुभूपतेः ॥ १७ ॥
आरभ्य *पृथ्वीराजेन्द्र*नाकलोकाप्तिवासरम् ।
अकृत्यमिति संत्यक्तशकाननविलोकनः ॥ १८ ॥
सान्तःपुरपुरन्ध्रीकस्ततोऽसौ ज्वलनेऽविशत् ।
भाविनी यादृशी कीर्तिर्मतिः स्यात् तादृशी नृणाम् ॥ १९ ॥
—त्रिभिर्विशेषकम् ।
नाकलोकंपृणेऽमुष्मिन्नम्लासीत् तत्परिच्छदः ।
अ[6]स्तङ्गते जगद्दीपे स्मेरः किं कमलाकरः ? ॥ २० ॥
अपुत्रत्वेन भूभर्तुः शत्रोरागमनेन च ।
चिन्ताचान्तहृदो बाढं मन्त्रयन्ति स्म मन्त्रिणः ॥ २१ ॥
अपत्यं भूपतेर्नास्ति भटा न च रणोद्भटाः ।
विपक्षस्तु महावीर्यः कथं रक्षि[7]ष्यते पुरम् ? ॥ २२ ॥
तत् त्यक्त्वा नीवृतं यामो *रणस्तम्भपुरं* प्रति ।
सूरोऽपि बलवैकल्यात् श्रयेद् द्वीपान्तरं न किम् ? ॥ २३ ॥
तत्रास्ति *पृथ्वीराजस्य* प्राक् पित्राऽतो निरासितः ।
पौत्रो *गोविन्दराजाख्यः* स्वसामर्थ्यात्तवैभवः ॥ २४ ॥

---

1 K दृग्मनसे । 2 K दोष्मतां । 3 K किं स्यात् कोऽपि कस्यापि वल्लभः । 4 P ढिल्ली° । 5 K पलायितजनाननात् । 6 K अस्तमीयुषि मार्तण्डे । 7 K [illegible] ।

स्वस्वामिवंशकासारहंसं तं भूपमाश्रिताः ।
कीर्तिपात्रीभवन्तोऽवतिष्ठेम ह्यकुतोभयाः ॥ २५ ॥

मन्त्रयित्वेति भूपीयं सर्वं कोशबलादिकम् ।
सहाऽऽदाय चलन्ति स्म रणस्तम्भपुरं प्रति ॥ २६ ॥

दावपावकवद् वार्क्ष्यं ज्वालयन् देशमुद्धसम् ।
शकः पश्चादुपागत्याऽजयमेरुपुरं ललौ ॥ २७ ॥

अथ प्राप्य रणस्तम्भं पुरं गोविन्दभूपतेः ।
समगंसत ते सर्वे वृत्तान्तं च न्यगोदिषुः ॥ २८ ॥

पितृव्यस्य तथाभूतं मृत्युं श्रुत्वा धराधिपः ।
वाचामगोचरं कष्टं कलयामास मानसे ॥ २९ ॥

स्मृतिस्मृतिपरित्यक्तशोकः कृत्वौर्ध्वदैहिकम् ।
धीसखाँस्तान् यथायोग्यकार्येणायोजयन्नृपः ॥ ३० ॥

पराभवन् द्विषच्चक्रं प्रभवन् न्यायवृद्धये ।
सौख्यं चानुभवन् स्फीतं स प्रजाश्चिरमन्वशात् ॥ ३१ ॥

गोविन्दे दिविषद्वृन्दे सञ्चारयति चातुरीम् ।
तानवं शात्रवं निन्ये श्रीमद्बालणभूपतिः ॥ ३२ ॥

घनवत् समरे यत्र शरासारं वितन्वति ।
नाशेनैवाऽभवद् व्यक्ता रिपूणां राजहंसता ॥ ३३ ॥

वर्षत्यपि भृशं बाणधाराभिर्यद्धनुर्घने ।
चित्रं विच्छायतामेव भेजिरे शत्रुभूभृतः ॥ ३४ ॥

सत्वरं जित्वरं वीक्ष्य समरे यमरिव्रजाः ।
अभिलेषुः सपक्षत्वं न वरं नाशहेतवे ॥ ३५ ॥

नाम्नि धाम्नि च संक्षेपं विधित्सन् यो विरोधिनाम् ।
अवनीपालतां हित्वा द्राग् वनीपालतां ददौ ॥ ३६ ॥

सदा नभोगौ गोचक्रमण्डनौ पापखण्डनौ ।
उभावभूतां तत्पुत्रौ सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ ३७ ॥

गुणश्रेष्ठस्तयोर्ज्येष्ठः ख्यातः प्रल्हादनाह्वयः ।
द्वैतीयीको द्वितीयश्रीर्वाग्भटः प्रतिपद्भटः ॥ ३८ ॥

---

1 K न्यगादिषु । 2 तथाभूतं पितृव्यस्य मृत्युं श्रुत्वाऽथ पार्थिवः । 3 P धीसत्वा° । 4 K सातं । 5 K भूपतेः । 6 K विविित्सुः ।

समं वितन्वतोः क्रीडां सममभ्यस्तयोः कलाः ।
अवर्द्धिष्ट तयोः प्रीती रामलक्ष्मणयोरिव ॥ ३९ ॥
वीक्ष्याऽन्यदा नृपो मूर्ध्नि पलितङ्कुरणीं जराम् ।
शमति स्माऽऽशु भोगेभ्यो योगेभ्यः श्लाघते स्म च ॥ ४० ॥
ततोऽनुशास्य विधिना भूपः पुत्रावुभावपि ।
न्यधात् *प्रल्हादनं* राज्ये प्रधानत्वे च *वाग्भटम्* ॥ ४१ ॥
स्वयं स्थित्वा कियत्कालं तयोः प्रीतिमिवेक्षितुम् ।
प्रान्ते स्मरन् परब्रह्म बभूवे दिविषत्पदम् ॥ ४२ ॥
कृत्वौर्ध्वदैहिकं वप्तुस्ततः *प्रल्हादनो* नृपः ।
अरञ्जयत् प्रजा नाट्योपनिषज्ज्ञो यथा सभाः ॥ ४३ ॥
भास्वत्यभ्युदिते यस्मिन्नासत्यजनि कर्त्तरि ।
सपक्षैश्च विपक्षैश्च कौतुकं कौशिकायितम् ॥ ४४ ॥
विशामीशे दशाऽप्याशा जेतुं यत्र कृतोद्यमे ।
वैरिणो जीवितं त्रातुं द्विधापि प्रधनं जहुः ॥ ४५ ॥
बलिध्वंसोल्लसद्धामा शयशायिसुदर्शनः ।
*विष्वक्सेनो*ऽपि यश्चित्रं न भेजे दानवारिताम् ॥ ४६ ॥
उच्छलद्धूलिविज्ञातखुराग्रक्षुण्णभूतलाः ।
त्वरया वायुविस्फूर्तिजित्वरास्तुरगा बभुः† ॥ ४७ ॥
मुदान्यदा स दावाग्निप्रतापश्चापविद् गुरुः ।
विधित्सुः पटुमाखेटं निरगान्नगराद्बहिः† ॥ ४८ ॥
आजानुलम्बि सुस्थूलनीलीचीवरधारिणः ।
चेलुः पदातयो मूर्त्ता भयानकरसा इव ॥ ४९ ॥
स्तब्धोर्ध्वकर्णाः सुस्निग्धवर्णा स्वर्णाग्रकण्ठिकाः ।
चाक्षुषा मातरिश्वान इव श्वानश्चकासिरे ॥ ५० ॥
वाहिनीशतसंश्लेषबहलैः प्रचलद्बलैः ।
समुद्रैरिव कल्पान्तभ्रान्तैर्विह्वलयन्निलाम् ॥ ५१ ॥
विस्मेरसुमनोबाणकरवीरमनोहराः ।
नारीरिव वनीर्वीक्ष्य नृपोऽभूद् रन्तुमुन्मनाः ॥ ५२ ॥
बलभद्रास्ततः केऽपि हरिमार्गानुसारिणः ।
केचिच्छशधरादृष्टसिंहिकासुतविक्रमाः ॥ ५३ ॥

---

1 K समीरस्फूर्ति° । † K आदर्शे व्यत्ययेन लिखितं लभ्यते पद्यद्वयमिदम् ।

केचिच्छिवानुगा रौद्रा नृपोल्लङ्घनजाङ्घिकाः ।
अन्तर्वणं विशन्ति स्म भटा आखेटलम्पटाः ॥ ५४ ॥
द्विधापि पृष्ठदानेन सत्रपाकोऽपि सिंहयोः ।
यशोऽमृतं पिबन्नन्तःस्थितः क्रोडं व्यडम्बयत् ॥ ५५ ॥
मत्स्वामिवल्लभां शश्वद्वसुधां चखनीत्ययम् ।
इति प्रकुपितः कोऽपि वराहं मध्यतोऽच्छिनत् ॥ ५६ ॥
त्वन्नेत्रकान्तिचौरोऽयं यथारुचि विधीयताम् ।
इति कश्चित् प्रियाप्रीत्यै मृगं बध्वा समाग्रहीत् ॥ ५७ ॥
निघ्नन् पुरः स्थितं सिंहं हत्वा पृष्ठागतं परम् ।
लेभे काकाक्षगोलस्योपमानं कस्यचित्करः ॥ ५८ ॥
तत्कटीदर्शनादाशु प्रियां संस्मृत्य कश्चन ।
न हातुं न प्रहन्तुं च सिंहमासीत् क्षणं क्षमः ॥ ५९ ॥
व्यात्तवक्त्रे करं क्षिप्त्वा छित्त्वा केसरिणः शिरः ।
उदञ्चितभुजो बाहुत्राणवत् कोऽप्यदीदृशत् ॥ ६० ॥
निजिघांसुं मृगीं काञ्चिन्मृगो दृष्ट्वाऽतिकष्टितः ।
स्वयमासान्तरावर्ती कटाक्षेहकटाक्षितम् ॥ ६१ ॥
वञ्चयित्वाऽथ दाक्ष्येण कोऽपि दृग्गोचरं हरेः ।
पृष्ठमारूढवान् सिंहयानलीलायितं दधौ ॥ ६२ ॥
कृत्वाऽतिसिंहस्थामप्राक्पश्चाच्छस्त्रेण पातितः ।
वराहो रारटीति स्म स्वभावः खलु दुस्त्यजः ॥ ६३ ॥
नृपोऽपि वर्षन् हर्षेण शरासारैररुन्तुदैः ।
श्वापदानापदाक्रान्तान् कुर्वन् गच्छन् यदृच्छया ॥ ६४ ॥
क्वचिद् गिरिणदीतीरे स्फुरच्छरवणान्तरे ।
पारीन्द्रमेकमद्राक्षीन्निद्रामुद्रितलोचनम् ॥ ६५ ॥—युग्मम् ।
उत्साह्य भूपो विज्ञातशरसन्धानमोक्षणः ।
निर्ममे दक्षिणेर्म्माणं तं पारीन्द्रं विनिद्रितम् ॥ ६६ ॥
तेनैवोत्साहनादेन कुतोऽपि कुपितोऽन्यतः ।
तावत् परः स्फुरत्फालः सिंहः संहतविक्रमः ॥ ६७ ॥
जग्राह भूपतेरंसं प्रांशुं तीव्राग्रदंष्ट्रया ।
उरोविदारं राज्ञापि क्षुर्याऽसौ प्रतिचस्करे ॥ ६८ ॥—युग्मम् ।

---

1 K सहाऽग्रहीत्° । 2 K छिन । 3 K °ऽति° । 4 K °सिंह° । 5 K कुर्वन् कुर्वन् ।

दंष्ट्राघातस्रवद्रक्तधाराभिरभितश्चितः ।
दधौ धातुद्रवश्लिष्टशैललीलां क्षणं नृपः ॥ ६९ ॥
ततो दंष्ट्राविषोत्सर्पिमूर्च्छाभिर्विह्वलीकृतः ।
यतीवार्द्धि स पापर्द्धि त्यक्त्वाऽगादात्ममन्दिरम् ॥ ७० ॥
मन्त्रवादिगणैर्वैद्यवृन्दैरपि परः शतैः ।
भृशं चिकित्स्यमानोऽपि नाभूद् भूपः स्वरूपभाक् ॥ ७१ ॥
दुश्चिकित्सतरं ज्ञात्वाऽऽत्मानं भूपोऽथ सर्वथा ।
वीरनारायणं पुत्रमभ्यषिञ्चन्निजे पदे ॥ ७२ ॥
पतिष्यन्नाहमानीयराज्यश्रीवल्लीपादपम् ।
वाग्भटं च समाहूय सोदरं जगिवानिति ॥ ७३ ॥
शौर्यं बुद्धिरविश्वासो राज्यश्रीकारणं त्रयम् ।
तदुर्कं स्थावरे स्वापं दुरापं शैशवे पुनः ॥ ७४ ॥
तदस्ति स्वापचापल्ये बाल्येऽसौ वयसि स्थितः ।
अनुशास्यस्तथाकारं यथा स्यान्नाऽहितं क्वचित् ॥ ७५ ॥
दौःशल्येन सुतस्याऽस्य सशल्य इव *वाग्भटः* ।
मन्दं मन्दमथाचख्यौ मन्युगद्गदया गिरा ॥ ७६ ॥
भवितव्यं तु न स्वामिन् निरोद्धुं कोऽपि सासहिः ।
त्वामिवैनं पुरोपासे सावधानः[3] परं सदा ॥ ७७ ॥
उक्त्वेति *वाग्भटे* तूष्णीं तस्थुषि क्षितिपाग्रणीः ।
चिकीर्षयाऽऽत्मनीनस्य सस्मार परमात्मनः ॥ ७८ ॥
राज्यथास्तमिते तस्मिन् *वीरनारायणो* विभुः ।
भास्वानिवासीलोकानां कमलोल्लासकोविदः ॥ ७९ ॥
स्वतेजसैव यस्याऽऽशु द्विषतः पिंषतः सतः ।
वृथा मत्प्रतिकर्मेति किमसिः श्यामतामधात् ॥ ८० ॥
विस्फूर्जद्भुजशौण्डीर्यफणभृद्दष्टवैरिणाम् ।
यस्य खड्गलतानागदमनौषधिवद् बभौ ॥ ८१ ॥
सोऽन्यदा प्रमदानेत्रपावनं यौवनं श्रितः ।
परिणेतुं सुतां *कत्संवाहस्याऽऽम्रपुरीमगात्*[4] ॥ ८२ ॥

---

1 K त्यक्त्वा मन्दिरमागमत् । 2 K मन्त्रि° । 3 K सावधानतया परम् । 4 K कच्छवाहस्य° ।

तत्राऽभिषेणितो जलालदीनशकभूभुजा ।
पलाय्याऽगाद् रणस्तम्भं पृष्ठतः सोऽप्युपागमत् ॥ ८३ ॥
तत्र युध्वा चिरं जलालदीनः प्रौढपौरुषः[1] ।
विज्ञाय तं छलग्राह्यं निवृत्त्याऽगान्निजां पुरीम् ॥ ८४ ॥
कियत्यथ गते काले ततः स शकभूपतिः ।   5
विजिगीषुश्छलेनाऽमुं दूतेनेत्थमचीकथत् ॥ ८५ ॥
ज्योतिश्चक्रेषु सर्वेषु सूर्याचन्द्रमसौ यथा ।
तथाऽऽवां सार्वभौमावो भूभृत्सु निखिलेष्वपि ॥ ८६ ॥
तन्नौ[2] युक्ता मिथः प्रीतिः पचेलिमफलोदया ।
न तु विग्रहविस्फूर्तिर्भिदेलिमतमायतिः[3] ॥ ८७ ॥   10
सहायं त्वादृशं लब्ध्वा समीरमिव पावकः ।
दन्दह्ये यत् क्षणेनैव वैरिवंशान् दृढानपि ॥ ८८ ॥
प्रीतोऽस्मि तव शौर्येण त्वं मे भ्राताऽस्यतः परम् ।
द्रुह्यामि यद्यहं तुभ्यं कर्त्रे तर्हि शपे ध्रुवम् ॥ ८९ ॥
एकवेलं समेतव्यं मिलनाय परं त्वया ।   15
न चेदहं समाकार्यस्त्वदादेशवशंवदः[4] ॥ ९० ॥
वक्षःस्थलपुरेशेन विग्रहाऽऽख्येन विग्रहैः ।
सुतरां विगृहीतस्य सिसाधयिषतोऽथ तम् ॥ ९१ ॥
ताभिर्दूतोक्तिभङ्गीभिर्भृङ्गीभिरिव वारिजम् ।
चुम्बितं चाहमानस्य हृदयं व्यश्वसीत्तमाम् ॥ ९२ ॥–युग्मम् ।   20
ततोऽवनीपतिं वीक्ष्य शकसङ्गमनोत्सुकम् ।
रहः संवादयामास वाग्भटः प्रतिभाभटः ॥ ९३ ॥
नयशास्त्राम्बुधेः पारदृश्वनः का तवौचिती ।
क्रियते दुष्टहृन्म्लेच्छसङ्गमाय यदुद्यमः ॥ ९४ ॥
शत्रुर्न मित्रतां गच्छेच्छतशः सेवितोऽपि सन् ।   25
दीपः स्नेहेन सिक्तोऽपि शीतात्मत्वमियर्त्ति किम् ॥ ९५ ॥
प्रचिकीर्षसि चेद् राज्यं जिजीविषसि चेच्चिरम् ।
तदा मद्युक्तिभृङ्गीयं नीयतां हृदयाम्बुजम् ॥ ९६ ॥
गुरवो यदि वा सन्तो हितवाक्योपदेशिनः ।
हेयोपादेयतां तस्याऽभव्यभव्यौ चिकीर्षतः ॥ ९७ ॥   30

---

1 K पीनपौरुषः । 2 K न तु । 3 K सौख्यकेलिभिदेलिमा । 4 K समाकार्यं ।

इत्युक्त्वा तत्र तूष्णीके सर्वाङ्गीणक्रुधान्धलः ।
घटयन् भ्रकुटीं भीमां पार्थिवो जगिवानिति ॥ ९८ ॥
अकार्यं[1] यदि वा कार्यं[2] यन्मे रोचिष्यतेतमाम् ।
करिष्ये तदहं स्वैरं चिन्तयाऽत्र कृतं तव ॥ ९९ ॥
*वाग्भट*स्तेन वाक्येन प्रासेनेव हतो हृदि ।
ययौ तद् राज्यमुत्सृज्य *मालवे* सपरिच्छदः ॥ १०० ॥
परमप्रीतिगौराणां पौराणामपि भाषितम् ।
उपेक्ष्य गर्वादुर्वीशो ययिवान्[3] *योगिनीपुरम्* ॥ १०१ ॥
अन्तर्दुष्टो मुखे मिष्टः शकेन्द्रोऽभ्येत्य सम्मुखम् ।
महेन महताऽनैषीदन्तःपुरि नरेश्वरम्[4] ॥ १०२ ॥
प्रियालपनसारत्वं वनवद् दर्शयन्मुहुः ।
चिरं चकार चेतोऽस्य चित्रप्रचयचुम्बितम् ॥ १०३ ॥
अन्येद्युर्विषयोगेन शकान्नृपममीमरत्[5] ।
क्वाऽप्यकृत्यं प्रकुर्वन्तः पापा मुह्यन्ति हन्त[6] ! किम् ॥ १०४ ॥
हतेऽत्रान्यच्छकोऽबोधि जितमेवाऽऽशु राजकम् ।
मूले छिन्ने हि सुग्राहं[7] फलाद्युच्चैस्तरोरपि ॥ १०५ ॥
ततो *वाग्भट*भूपालसूर्येण[8] परिवर्जितम् ।
*रणस्तम्भपुर*व्योम व्यानशे शकतारकैः ॥ १०६ ॥
शकप्रेरणयेहाऽपि[9] जिघांसुं *मालवेश्वरम्* ।
विज्ञाय *वाग्भटो* हत्वा ललौ तद्राज्यमूर्जितम् ॥ १०७ ॥
शकातङ्कपरित्रस्तैर्बाहुजैः शरणागतैः ।
तद्राज्यं प्राज्यलीलाभृदवर्धिष्ट दिने दिने ॥ १०८ ॥
शके *जल्लालदीने*ऽथ *षर्परै*रभिषेणिते ।
*वाग्भटो*ऽप्यमिलत्[10] सैन्यं रणस्तम्भोद्दिधीर्षया[11] ॥ १०९ ॥
पुन्नागसङ्गसुभगाः प्रक्षरन्मदनिर्झराः ।
जङ्गमावनिभृल्लीलां कलयाञ्चक्रिरे द्विपाः ॥ ११० ॥
खुरोत्खातरजःपुञ्जैर्विश्वमप्येकरूपताम् ।
नयन्तो वाजिनां व्यूहा रेजिरेऽद्वैतवादिवत् ॥ १११ ॥

---

1 K अकृत्यं । 2 K कृत्यं । 3 K ययावान् । 4 K अन्तःपुरमधीश्वरम् । 5 K शकोभूपम° । 6 K इन्ति । 7 K सुग्राह्यं । 8 K सूर्यैन्दु° । 9 K प्रेरणयाऽऽपि । 10 K वाग्भटोऽमीमिलत् । 11 K रणस्तम्भजिघृक्षया ।

सञ्चरद्रथचक्राणां दिशां कूलङ्कषैः स्वनैः ।
शब्दाद्वैतमयीवाऽऽसीदखिलाऽप्यब्धिमेखला ॥ ११२ ॥
धृतिहेतिततिस्फीतद्युतिद्योतितदिङ्मुखाः ।
बभुः पदातयो द्वेधाऽप्यरिप्राणापहारिणः ॥ ११३ ॥
चलद्बलभरैर्भोगिविभुना दुर्धरां धराम् ।
सृजन्नधो रणस्तम्भं शिबिरं संन्यवेशयत् ॥ ११४ ॥
दृष्ट्वाऽनेकरणोत्सेकक्रीडद्वीरकुलं बलम् ।
दधिवांसो दरोद्रेकं दुर्गस्थाः शकपुङ्गवाः ॥ ११५ ॥
लोका अपि[3] लसच्छोका बभूवुः पुरवासिनः ।
सौख्यनाडिंधमाः के वा परचक्रे समेयुषि ॥ ११६ ॥
नृपादेशात् ततः स्फूर्जच्छौर्यावेशा भटव्रजाः ।
दुर्गग्रहाग्रहग्रस्ता अभियोद्धुं डुढौकिरे ॥ ११७ ॥
गोलैष्टङ्कैः कुशीभिश्च प्रभिन्दन्तोऽप्यनेकशः ।
न तेऽलम्भूष्णवोऽभुवन् दुर्गं भेत्तुं[6] मनागपि ॥ ११८ ॥
भटानां शौर्यचातुर्यं दुर्गाह्यत्वं पुरस्य च ।
दर्शं दर्शं नरेन्द्रोऽभूद् विषादाश्चर्यचुम्बितः ॥ ११९ ॥
मत्वा दुर्गं बलाग्राह्यं सोऽथ[7] नीतिविदां गुरुः ।
वेष्टयित्वाऽभितस्तस्थौ निवार्य समराद् भटान् ॥ १२० ॥
निर्यातुं च प्रवेष्टुं चाऽशक्नुवन्तस्ततो भिया ।
पुरोदरस्थिता लोका लेगिवांसो विषीदितुम् ॥ १२१ ॥
वारीण्यदुग्धायन्तैक्षुयष्टीयन्त तृणान्यपि ।
एधांस्यचन्दनायन्त प्राप्त्यभावात् पुरान्तरे ॥ १२२ ॥
त्रिमास्यामपि जग्मुषा पुरं रक्षितुमक्षमाः ।
पलायिषत सर्वेऽपि [10]जीवं लात्वा शकभुवाः ॥ १२३ ॥
भक्तिगौरास्ततः पौरा उपदापात्रपाणयः ।
सङ्गमिरे महीशस्य जयशस्यतमद्युतेः ॥ १२४ ॥
नृपोऽपि तेभ्यो वस्त्रादि दत्त्वा कृत्वा च सत्क्रियाम् ।
स्वच्छोत्सवोच्छलच्छायं प्रविवेश पुरान्तरम् ॥ १२५ ॥
सैंहिकेयास्यनिर्मुक्तचन्द्रबिम्बविडम्बिनीम् ।
पश्यन्नथारिनिर्मुक्तरणस्तम्भपुरश्रियम् ॥ १२६ ॥

---

1 K धृत° । 2 K सम्यवे° । 3 K अप्युल्लसत्° । 4 K ग्रहग्रह° 5 K बिभिन्दन्तो । 6 K भंक्तुं । 7 K नृपो । 8 K रणतो । 9 K °मिति । 10 K जीवग्राहं ।

गजाऽश्वस्वर्णरत्नाद्यैर्यथास्थाननिवेशितैः ।
स चकार धरासारमन्दिरं माद्यदिन्दिरम् ॥ १२७ ॥
क्रमागतोदयस्थानं भास्वान् लब्ध्वा स वाग्भटः ।
कान् कान् भूमीभृतो नैव पादाक्रान्तानरीरचत् ॥ १२८ ॥
निवेश्य देशसीमासु चतुर्दिक्षु बलं[1] निजम् ।
[‡]सुखं द्वादशवर्षाणि स्वयं राज्यं स तेनिवान् ॥ १२९ ॥
तस्मिन् स्वर्लोकलोलाक्षीकटाक्षविशिखावलैः[2] ।
वीरयोगव्रता[3] वाप्यां वेध्यतामुपचत्वरे[4] ॥ १३० ॥
तन्नन्दनो जगन्नेत्रानन्दनश्चन्दनद्रुवत् ।
जैत्रप्रतापः *श्रीजैत्रसिंहो*ऽभूद् भूमिवल्लभः ॥ १३१ ॥–युग्मम् ।
समूलकाषंकषिताऽन्यायसन्तमसोदयः ।
तिग्मांशुरिव लोकानां यः प्रियं भावुकोऽभवत् ॥ १३२ ॥
सद्वंशस्यापि यच्चापदण्डस्याऽहो अनौचिती ।
जग्राह दोषमेवास्य समाजे सङ्गते द्विषाम् ॥ १३३ ॥
बिभ्रत् सदानभोगत्वं सुमनः श्रेणिसेवितः ।
शचीवरयितुर्लीलां यो भूमिष्ठोऽप्यचूचुरत् ॥ १३४ ॥
कर्णजाहं जगाहाते शौर्ये यद्भुजदण्डयोः ।
चकम्पिरे शिरांसि स्राक् दृढानामपि भूभृताम् ॥ १३५ ॥
यदातङ्कतमग्रस्ते शत्रु[5]शौर्यनभोमणौ ।
व्यक्तशोकतमोऽभासीत् तन्नारीणां कचच्छलात् ॥ १३६ ॥
सद्वंशस्याप्यैकमत्यं न यच्चापस्य यस्य च ।
पृष्ठं यद् युध्यदात् प्राच्यः परेषां न पुनः परः ॥ १३७ ॥
अगण्यपुण्यलावण्यरसप्रसरसारणिः ।
हीरा[6]देवीति तस्याऽऽसीत् प्रेयसी श्रेयसी गुणैः ॥ १३८ ॥
सौन्दर्येण जिता यस्या रतिस्तामेव भेजुषी ।
जगदे वह्निदग्धस्य शरणं वह्निरेव वा ॥ १३९ ॥
भुञ्जाना भूभुजा साकं सा कन्दर्परसं भृशम् ।
शुभं गर्भं दधाति स्म विस्मयैकपदं सताम् ॥ १४० ॥
स्वकराम्भोजकीनाशदासीकृतशकासृजा ।
गर्भानुभावतो राजपत्नी सिस्नासति स्म सा ॥ १४१ ॥

1 K निजं बलं । ‡ K समाहेलिप्रमाराज्यं स स्वयं तेनिवान् सुखम् । 2 K शिखावलैः । 3 K व्रतवाप्यां । 4 K गत्वरे । 5 K रिपु° । 6 K हीरदेवी° ।

प्रहर्षुलमनःप्रेयःपूरितोद्दामदौर्हृदा ।
समये सुषुवे सूनुं सा श्रीरिव सुमायुधम् ॥ १४२ ॥
असौ शकासृग्बाष्पूरैः संप्लाव्य धरणीमिमाम् ।
इष्टा तन्मुण्डपाथोजैरित्यासीद् व्योम्नि गीस्तदा ॥ १४३ ॥
बालाङ्गसङ्गिरोचिर्भिरभितोऽपि प्रसृत्वरैः । 5
अभ्युद्यतसहस्रार्कमिवासीत् सूतिकागृहम् ॥ १४४ ॥
दिशः प्रसादमासेदुः सुखसेव्यो ववौ मरुत् ।
नभो निर्मलतां भेजे दिनकृद् दिद्युतेतमाम् ॥ १४५ ॥
विशदं सम्मदं यं तज्जनने जनको दधौ ।
शतांशोऽपि न तस्याऽऽसीत् कवीनां गोचरो गिराम् ॥१४६॥ 10
तज्जनौ स्वर्णधाराभिरवर्षद् भूपतिस्तथा ।
मूलतोऽपि यथा शुष्यदर्थिरोरंववासकः ॥ १४७ ॥
कृत्वा दशाहिकमहं [3]विश्वं विश्वसुखावहम् ।
हर्षाद् हम्मीरदेवेति नामाऽमुष्मै पिता ददौ ॥ १४८ ॥
मातापित्रोर्दृशः सिञ्चन् स्वदर्शनसुधारसैः । 15
सौम्यमूर्तिरवर्धिष्ट स शशीव दिने दिने ॥ १४९ ॥
दिनैः कतिपयैरेवाकृच्छ्रं गुर्वनुभावतः ।
शस्त्रशास्त्ररहस्यानि स स्ववश्यानि तेनिवान् ॥ १५० ॥
न तच्छास्त्रं न तच्छस्त्रं न च तज्जनरञ्जनम् ।
सदाशयाम्बुजे तस्य न यदभ्रमरायत ॥ १५१ ॥ 20
अथाऽभङ्गुरशृङ्गारजीवनं यौवनं श्रितः ।
कासां मृगीदृशां निन्ये वशं दृग्मनसी न सः ॥ १५२ ॥
दृग्द्वन्द्वपेयसौन्दर्यश्रीणामेकं तमास्पदम् ।
दृष्ट्वाऽवाञ्छन् पतीकर्तुं कामिन्यः का न मानसे ॥ १५३ ॥
अकृत्रिमालङ्कृतिराननस्य तस्योत्थिते श्मश्रुलते व्यभाताम् । 25
आधिक्यतो घ्राणयुगाध्वनिर्यच्छृङ्गारधारे इव नेत्रपेये ॥ १५४ ॥
केशाः केकिकलापकान्तिजयिनो वक्त्रं शशिप्रीतिभित्
कण्ठः कम्बुरिपुः कपाटपटुताविक्षेपि वक्षःस्थलम् ।
दोर्दण्डौ परिघापघातनिबिडौ पादौ कृताब्जापदौ
किं किं रम्यतरं न यौवनपदं प्राप्तस्य तस्याऽभवत् ॥ १५५ ॥ 30

1 K संप्लाप्य । 2 K रोरय । 3 K विश्वविश्व° । 4 K तस्योल्लसत् ।

विन्ध्ये सिन्धुरवद् धने विधनवत् जातिप्रसूनेऽलिवत्
त्यागे याचकवद् गुणे सगुणवन्न्याये महीपालवत् ।
माकन्दे पिकवच्छ्रुते विदुरवत् पाथोरुहे हंसवत्
तस्मिन् संसृजति स्म वागविषयां[1] प्रीतिं मनो योषिताम् ‡ ॥१५६॥
नारीभिः सुमचाप इत्यमरभूजन्मेति च प्रार्थिभि-
र्गङ्गाभूरिति सत्यसङ्गरपरैर्ब्रह्मेति तत्त्वोन्मुखैः ।
स्वर्भुग्भूरिति योद्धृभिर्यम इति प्रत्यर्थिपृथ्वीधवैः
कैः कैरेष कथं कथं न युवतामध्याश्रितस्तार्कितः ‡ ॥ १५७ ॥
सौन्दर्यधन्या अथ सप्त कन्याः पित्रा प्रमोदात् परिणायितोऽसौ ।
चिक्रीड ताभिः सह शश्वदस्तव्रीडं यथा दुश्च्यवनः शचीभिः ॥१५८॥
हम्मीरादितरावपि क्षितिपतेर्जैत्रस्य पित्र्यानुजौ
जज्ञातेऽङ्गरुहौ गुहाविव जगज्जैत्रप्रतापोदयौ ।
आद्योऽभादनयोर्नयोदयदलद्वल्लीवसन्तः सुर-
त्राणोऽन्यः परवीरदारणरणारम्भप्रभो वीरमः ॥ १५९ ॥
पुद्वारार्गलदीर्घपीनभुजभूप्रौढप्रतापज्वल-
ज्ज्वालाजिह्वविषावलीकवलितप्रत्यर्थिभूमीधवैः ।
इत्यभ्यस्तनयैस्त्रिभिः स्वतनयैः संसेव्यमानोऽन्वहं
श्रीजैत्रः क्षितिपः स्म वीरजनकोत्तंसत्वमास्तिघ्नुते ॥ १६० ॥

॥ इति श्रीजयसिंहसूरिशिष्यमहाकविश्रीनयचन्द्रसूरिविरचिते श्रीहम्मीरमहाकाव्ये वीराङ्के तज्जन्मवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥

अथ पञ्चमः सर्गः ।

अथ जैत्रसिंहनृपतौ धरणिं करणिं दिवः श्रितहरेः सृजति ।
उदजृम्भत प्रियसुहृत्सुरभिः सुमसायकस्य किल विश्वजितः ॥ १ ॥
पुपुषे ध्रुवं मलयशैलभवोऽनिल एष भोगियुवतिश्वसितैः ।
कथमन्यथाऽस्य सहता भवति स्म वियोगिनो झगिति मूर्च्छयितुम् ॥२॥
ऋतुराजवीक्षणरसाञ्चितरामरुणेन न ध्रुवमनोदि[7] रथः ।
कथमन्यथा दधुरमी दिवसा गुरुतां रथाङ्गविहगैकहिताम् ॥ ३ ॥

---

1 K विषयं । 2 K तरुणिम्नालंकृत° । ‡ एतत्पद्ययुग्मं विपर्ययेण लिखितं लभ्यते K आदर्शे । 3 K एको । 4 K शिखावली । 5 K पृथ्वीधवैः । 6 K °मादीकते । 7 K °मखेदि ।

अतिदुःसहप्रियसुहृद्विरहैः प्रमदाजनैः कथमिवैष स नः ।
महिमा सहिष्यत इतीव निशाः कृशतामधुर्मधुरिताः[1] कृपया ॥ ४ ॥
समुदाचरन्ति मधुपा मलिना न च निर्मला स्फुरति जातिरिह ।
इति वा बभूव ऋतुराट्समयो नवरं न वल्लभतरो यतिनाम् ॥ ५ ॥
मलयानिलो मलयजैः सुरभौ सुदृशामुरोजयुगले विलसन् ।
समुपागतं मलयशैलमहाशिखराधिरोहणममंस्त पुनः ॥ ६ ॥
अमुना विवर्णितदलामभितो नलिनीं विलोक्य नलिनीदयितः ।
कुपितः प्रहिंसितुमिवैष हिमोच्चयमभ्यगाद्धिमवतः[1] ककुभम् ॥ ७ ॥
स्थलतां प्रयाति गगने पवनेरितपुष्पराजिरजसां पटलैः ।
अचलन् यदर्कतुरगाः शनकैस्तदिवास वासरगणोऽत्र गुरुः ॥ ८ ॥
मधुकप्रसूनमधुपानवशादतिमात्रमत्तमधुकृद्युवतेः ।
विनिशम्य झङ्कृतमरं दधिरे कति रे ! न चेतसि विकारभरम् ॥ ९ ॥
सहकारसारतरमञ्जरिकाग्रसनोल्लसन्मधुरिमाञ्चितया ।
परपुष्टया कुसुमकाण्डकरेऽरचि लीलयाऽप्यखिलमेव जगत् ॥ १० ॥
इयमागतैव शशिनाशिकुहूरथ चेयमाप्यलपदन्यभृतः ।
पिककूजितेष्विति न का मुमुदे विषसाद चाध्वगवधूरसकृत् ॥ ११ ॥
शुकचञ्चुसन्निभपलाशदलत्कुसुमानि रेजुरभितोऽनुवनम् ।
शमदन्तिनं भृशमुपानयतो वशमङ्कुशा इव सुमेषुविभोः ॥ १२ ॥
यदि पुष्पिताऽहमिह तत्कियतीं श्रियमुद्वहन्तु लतिका इतराः ।
किमिदं विचिन्त्य कृपया सुरभौ विचिकास नाऽभिनवजातिलताः ॥१३॥
विकसत्प्रसूननिचयाः शुचयः प्रतिकाननं शुशुभिरे तरुषु ।
प्रथितांहसा इव वनीयुवतेर्निजजीवितेशमृतुराजमनु ॥ १४ ॥
जलदागमे स्वमहिमोल्लसितैरवधीदसौ पथिकलोकवधूः ।
इति पङ्क्तिबाह्यविहितेव मधौ नवमालती न सुमनस्त्वविशत् ॥ १५ ॥
मदनोऽधुनापि परदेशजुषां हृदि नष्टशल्यमभिहन्तुमिव ।
कुसुमानि वृन्तसुषिराणि भृशं विरचय्य काण्डफलतामनयत् ॥ १६ ॥
मम नाम नालिकशरा यदि मारुतः सहेत कतरे स्पृशतीः‡ ।
किमितीह नाद्रियत जातिलता कलिकां मधौ मधुसखः स्फुटतीः ॥१७॥
विकसत्प्रियालतरुमञ्जरिका रजसाऽरुणैरपि मृगीनयनैः ।
मधुसीधुपानघनरागजुषः सुदृशां दृशः सदृशतां न जहुः ॥ १८ ॥

---

1 K हिमं रविरभ्यगात् । 2 K मधुर° । 3 K कतरे । 4 K भृता । 5 K वशमिहाऽऽनयतो भृश° । 6 K °मावहन्तु । 7 K °मभिखातुं । ‡ 'अदसीय नालिकशर-प्रहतीरनुभूय जीवितुमलं कतरः' एतादृशः पाठः K प्रतौ । 8 K स्फुटतीम् ।

परिसञ्चरन्मलयदिक्पवनप्रविकम्पिपल्लवकराम्बुरुहैः ।
उपगूहनाय वनराजिवधूर्निजकान्तमाह्वयदिवर्तुपतिम् ॥ १९ ॥
मधुपानतः शिथिलितभ्रमरा भ्रमिरा बभुः प्रतिवनं तरुषु ।
गुलिकाखकाभ्यसनमुन्नयतो गुलिका इव प्रसवचापविभोः ॥ २० ॥
प्रविलोकनादपि वियोगवशा विदधद् वशा विधृतकम्परसाः ।
अनयत् पलाशशिखरी तरसा चरितार्थतां जगति नाम निजम् ॥२१॥
पदसङ्गमात्र उपजाततृषो मम निम्रजघ्नुरिमकाः प्रसभम् ।
गतभर्तृका इति सकोप इवाज्वरयन्मुहुर्मुहुरशोकतरुः ॥ २२ ॥
परिलोभयन् मधुकरप्रकरान् मधुसङ्गमेन मधुरैर्मधुभिः ।
तिलकद्रुमस्तिलकवन्निखिलेष्वपि भूरुहेषु लभते स्म रुचिम् ॥ २३ ॥
अपि तन्मुखाभिषवसेकमृते श्रियमुद्वहन्नतिवचोविषयाम् ।
अधरीचकार सुदृशामखिलामपि मानसं स्थितिमगो बकुलः ॥ २४ ॥
निजकालिमोल्लसितसन्निताऽसमयक्षपालिषु वनीततिषु ।
अलभन्त चम्पकतरोः कलिकाः स्मरराजदीपकलिकोपमितिम् ॥ २५ ॥
भृशलीनषट्चरणचक्रवशाऽधिकनीलनीरजदले सरसि ।
कमलैरलम्भि विलसत्कमलैर्गगने नवोदितशशाङ्करुचिः ॥ २६ ॥
मलिनाम्बुबिन्दुतुलनां कलयद् विकसत्पलाशमुमवृन्तमभात् ।
शिरसाऽग्निसाधनतपो रचयन्निव मालतीविरहतोऽलियुवा ॥ २७ ॥
कृतवेल्लना मलयदिक्पवनैर्वनवल्लयो रुरुचिरेऽतितराम् ।
उपगूहनानि चिरकालभवन् मिलनान्मिथः प्रवितरन्त्य इव ॥ २८ ॥
सकलत्रिलोकविजयप्रभवश्रमवारिसंगतमनङ्गपतिम् ।
इव वीजयन्त्यभिनभौ सुरभौ कदलीदलैरनिलसङ्गचलैः ॥ २९ ॥
हृदयेश्वरं भजत मानममुं त्यजताऽऽशु नैति समयो हि गतः ।
इति बोधयन्निव कुरङ्गदृशो रुचिरं चुकूज परपुष्टयुवा ॥ ३० ॥
किमु चुम्बनं किमथवा मधुरं मधु इत्यसाविव विवेचनकृत् ।
क्षणमम्बुजं क्षणमथ भ्रमरीवदनं चुचुम्ब मधुकृत्प्रवणः ॥ ३१ ॥
विलसद्विलासिनि वसन्तऋतौ कुसुमानि कानिचिदिहाविदुषाम् ।
इदमेतदेतदिदमित्यवदन्निव झङ्कृतैर्मधुकराः कतिचित्* ॥ ३२ ॥

---

1 K भ्रमणा भ्रमरा । 2 K रसा । 3 K रुचम् । 4 K °मावहन् । 5 K नीलनील-कमले । 6 P भवन् मिथः प्रवितरंत्य इव । 7 P प्रभवं । 8 K रस । * इदं पद्यं नास्ति K आदर्शे ।

विधृतत्वराणि विदधन् नितरां युवमानसानि दयितानुनये ।
चटुकूजितैः कलरवो मदयन् दयितां चुचुम्ब परिरभ्य मुहुः ॥ ३३ ॥
विकसत्सुमस्तबकचारुकुचा नवपल्लवाद्भुतकरक्रमणाः ।
मधुमागताः समवलोकयितुं वनदेवता इव लता व्यरुचन् ॥ ३४ ॥
अधिकाधिकं तनुविलेपविधौ प्रमदाभिराद्रियत वह्निशिखम् ।
उपकारकारि सुचिरोपनतं सहसैव हेयमिह वस्तु कथम् ॥ ३५ ॥
पथिकाङ्गनाजनपरासनजैर्गुरुपातकैरिव नितान्तचिताः ।
हविराचिताऽञ्जनघनद्युतयो भ्रमरा बभुः प्रतिवनभ्रमिराः ॥ ३६ ॥
इति वीक्ष्य वीक्षणयुगप्रसभाहृतसम्मदं सुरभिकालमिमम् ।
परिपृच्छ्य जैत्रजगतीदयितं स हि *वीरमाग्रजकुमारवरः* ॥ ३७ ॥
अदसीयरूपविलुलोकयिषानुगृहाधिरूढललनावदनैः ।
दिवसेऽपि विस्फुरदनेकसुधाकरबिम्बमम्बरतलं जनयन् ॥ ३८ ॥
घनसारसारमृगनाभिमिलन्मलयद्रुनागजरजःप्रकरैः ।
कृतदेवनो वनविनोदचिकीरवरोधबन्धुरवधूमधुरः ॥ ३९ ॥
प्रचलद्दलावलिलसत्पवनं[2] तरुराजिराजितपुरोपवनम् ।
प्रययौ स यौवनवयःसवयःपरिहासभासुरतरास्यशशी ॥ ४० ॥

—चतुर्भिः कलापकम् ।

तरुणा लसन्नवनवाभरणा अथ चेलुरर्हतमचेलभृतः ।
मदकृन्मधूत्सवकृते मदनोद्यमदीप्तदीप्तिसुतनूभिरमा ॥ ४१ ॥
कृतभूषयाऽपि वदनाम्बुरुहः सखि! साम्प्रतं तव रुरोदिषया ।
कृतमेहि सत्वरममुं दयितं सुतरां प्रसाद्य जहि वैरिमुदम् ॥ ४२ ॥
इति काचन प्रियसखीवचनैः सुचिरं विमृश्य हृदये निपुणम् ।
परिहृत्य मानमुपगत्य पतिं विशदप्रसादललितं व्यतनोत् ॥ ४३ ॥

—युग्मम् ।

अनुनेतुमन्यतर इन्दुमुखीं विविधेङ्गितानि विदधन् निपुणम् ।
परिरभ्यते[3] स्म तरसैव तया सपूर्वसूचिततदिङ्गितया[4] ॥ ४४ ॥
प्रचलालि काननमितः कितवो विरहात् तवाङ्ग! स किमातनुते ।
प्रविलोकयाव इति कापि मिषादुपनीय तां प्रियतमाय ददौ ॥ ४५ ॥
अनुनेतुमम्बुजदृशः पदयोः पतितस्य कस्यचन वेणिरभात् ।
इदमीयमानमभिपाटयितुं[5] कुसुमायुधस्य तरवारिरिव ॥ ४६ ॥

---

1 P प्रहाधि° । 2 K प्रचलद्दलच्छलकृता हवनं । 3 K वेस । 4 K तयाह स° । [5] K मदसीय° ।

अयि ! पश्य शस्यवदने ! मधुरा मधुवासरा झटिति[1] यान्ति कथम् ।
अधुनापि मानमिममादधती स्वपराहितं किमु चिकीर्षसि हा ! ॥४७॥
इति कश्चन प्रकुपितां दयितामनुनीय योषिदनुनीतिचणः ।
उपगूहनं प्रतिपदं वितरन्नचलन्मधूत्सवकृते सुकृती ॥ ४८ ॥
न विलोकसे न च ददासि वचः कथमेष जीवतु[2] तवानुचरः ।
इति पीतवल्लभवचा इतरा मदपानतोऽप्यधिकमाप मदम् ॥ ४९ ॥
नवपल्लवाद्भुतकरां मधुपावलिवेणिमिद्धसुमगुच्छकुचाम् ।
नववल्लभामिव विलोक्य वनीं दधुरुत्सुकत्वमथ रन्तुममी ॥ ५० ॥
तरुणीगणे विकरुणं प्रसवावचयं विधातुमभियोगवति ।
तरुभिः प्रकम्पितमिव प्रवहत्पवमानवेल्लितदलालिमिषात् ॥ ५१ ॥
प्रविहाय काननसुमान्यभितो निपतद्भिरम्बुजधिया वदने ।
भृशमुन्मदिष्णुमधुकृन्निकरैरुदवेजि काचन सरोजमुखी ॥ ५२ ॥
दयितां लताग्रमधिरोहयता[3] क्वचनापि केनचिददायि तनौ ।
नखरक्षतं यदतनोत् [4]किलितं न मुदं तदीयहृदये कियतीम् ॥ ५३ ॥
सुमकन्दुकौ निजकरग्रथितौ सहसं प्रदर्श्य किल केनचन ।
त्वदुरोजकौ ध्रुवमियत्प्रमितौ वदतेत्यहासि कुपितापि सुदृक् ॥ ५४ ॥
अयि वल्लभे ! मधुरगन्धमिदं कुसुमं वदन्निति परो विकुरः ।
उपनासमाप्य किल सिङ्घ्यणच्छलतः करं न्यधित तामधरे ॥ ५५ ॥
मुखचुम्बनं यदि ददासि सकृत् प्रददे तदा कुसुममाल्यमिदम् ।
गदतीति भर्त्तरि सखीविदितं त्रपया मुदा च समवादि परा ॥ ५६ ॥
दयितस्य वृक्षमधिरूढवतः पदमाशु पल्लवधिया विधृतम् ।
न चकर्ष नैव च मुमोच परा तदवाप्तिजातपुलकप्रसरा ॥ ५७ ॥
पुरतो लताततिषु रम्यतमाः प्रसवाः स्फुरन्ति ननु चन्द्रमुखी[5] ।
इति विप्रलोभ्य दयितामितरो विजनप्रदेशमनयद् रतये ॥ ५८ ॥
अयि ! पश्यतोऽपि कुसुमस्तबकः क्व गतो मयेति कितवोक्तिपरः ।
करसाद् विधाय दयितोरसिजं निजगाद लब्धमिति कोऽपि हसन् ॥५९॥
[†अयि पश्यतोऽपि कुसुमस्तबकः क्व गतो ममेति कितवोक्तिपरः ।
प्रममर्द नैकयुवतेः कुचयोर्युगलं गवेषणमिषेण[6] परः ॥ ६० ॥]
तनुवल्लिवद्धनवपुष्पगलन्मकरन्दलुब्धमधुकृन्निकरः ।
परिरभ्यते स्म तरुकैतवतोऽतिविदग्धया प्रियतमः परया ॥ ६१ ॥

---

1 K झगिति । 2 K जीवति । 3 K लतां समधि° । 4 K किल तत्र । 5 K चन्द्रमुखि । † एतत्पद्यमुपरितनपद्यस्य पाठान्तररूपेण K आदर्शे लिखितं लभ्यते । 6 P युगलं गवे गवेषणपरः ।

फलदाधिरूढहृदयाधिपतिप्रविलोकनापहृतचेतनया ।
वितरेममङ्ग ! वितरेममिति प्रसवं वृथैव परयाऽभिदधे ॥ ६२ ॥
इतरेण गोत्रभिदया प्रहितः कुसुमोच्चयानुवनितामनया ।
प्रहतो न्यवर्तत च निःश्वसितैरनवेक्ष्य तां किमुदितः प्रति याम् ॥६३॥
अयि पश्य पश्य पुरतो लकुचे सुकुचे कथं भ्रमति भृङ्गयुवा ।
इति प्रविलोभ्य दयितामितरो निपपौ परां सुचिरमर्द्धदृशा ॥ ६४ ॥
तरुराजितो विकसितप्रसवप्रकरान् निधाय शिरसि प्रयतान्[2] ।
गुरुझङ्कृतिप्रमुखरा भ्रमरा वनरक्षका इव परां रुरुधुः ॥ ६५ ॥
दधदन्तरा नवतिरस्करिणीमिव तापनोदनमिषेण पटीम् ।
वनितां विलोक्य कितवो हृदयाधिकृतां चुचुम्ब गतभीरितराम् ॥६६॥
उपवीजयन् निजकरग्रथितप्रविकाशिभासिकुसुमव्यजनैः ।
कृतविप्रियोऽपि भृशमन्वनयत् सुदृशं परः स्मरकलाविदुरः ॥ ६७ ॥
तरुशृङ्गसंस्थितसुमग्रहणोर्ध्वसरत्करतः सुकृशादुदरात् ।
गलदम्बरा क्षणमभादपरा प्रकटीभवन्त्यतनुशक्तिरिव ॥ ६८ ॥
कितवेन पल्लवमिषादधरे विधृते प्रिया यदतनोद्धसितम् ।
अभवत् तदेव किल तत्कपटस्फुटपाटवस्य शशिभासि यशः ॥ ६९ ॥
जडगात्रवर्तनपराङ्गमितां दधदेकबाहुलतया दयिताम् ।
नलिनं करेण च परेण परः शुशुभे स्मरः[3] सशरचाप इव ॥ ७० ॥
कामिन्याः कुसुमानि चेतुमधिरोहन्त्यास्तरुस्कन्धकं
भूमौ स्थायिनि दक्षिणे पदतले वामे च शाखास्पृशि ।
कृत्वा किञ्चन कैतवं विनमितोऽधोनाभिमूलं परो
दृष्ट्वोदीरितकाम ऊर्ध्वसुरते वाञ्छामतुच्छां दधौ ॥ ७१ ॥
शाखाग्रस्थमिदं ददासि कुसुमं चेत् तर्हि यद्याचसे
तत् तेऽहं प्रददे प्रिय ! ध्रुवमिति प्रोक्तेऽन्यया मुग्धया ।
नीत्वा लग्नकतां तदालिमचिराद् दत्त्वा च पुष्पं छला-
दासीद् यद्धृदये द्वयोरपि तयोर्धूर्तेन तत्प्रस्तुतम् ॥ ७२ ॥
कराम्बुजालम्बितलम्बशाखा मिथोऽपि संयोजितपादपद्माः ।
आन्दोलिता आलिजनैः स्वयं ता दोलातुलां शिश्रियुरम्बुजाक्ष्यः ॥७३॥
कामिनीकरजकोटिविलूनस्रस्तपल्लववनावनिपीठे ।
पुष्पराजिभिररराजत[5] मुक्तावेणिवद् विपुलविद्रुमपात्रे ॥ ७४ ॥

1 K जगदे । 2 K प्रयतीम् । 3 K स चापशरकाम इव । 4 K निपतितोऽधो । 5 K °रराज्यत ।

प्रसवचोलवतंसककङ्कणस्तबकराजिविराजितविग्रहाः ।
शुशुभिरे सुदृशो धृतकण्टका इव भटाः कुसुमायुधभूपतेः ॥ ७५ ॥

इति रुचिरविधाभिः स्वाङ्गसङ्गोपभोग-
स्फुरितविततलीलाश्रेणिभिः श्रेयसीभिः ।
ऋतुपतिसमयोत्थां काननीं पुष्पलक्ष्मीं
झगिति[1] सफलभावं निन्यिरे पौरवीराः ॥ ७६ ॥

॥ इति श्रीजयसिंहसूरिशिष्यमहाकविश्रीनयचन्द्रसूरिविरचिते श्रीहम्मीरमहाकाव्ये वीराङ्के श्रीवसन्तवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥

अथ षष्ठः सर्गः ।

प्रेक्ष्य काननविलासवशेन स्वेदिनोऽथ तरुणान् नृपपुत्रः ।
वारिकेलिकलनाय जगन्वान् जैत्रसागरसरः सरसश्रि ॥ १ ॥

उल्लसच्चुकगरुत्समकान्तिर्यस्य तीरतरुराजिरराजत् ।
चन्द्रबिम्बमभितः प्रसरन्ती सिंहिकाङ्गजगजध्वजिनीव ॥ २ ॥

अन्तराप्रतिफलद्रणपूर्वस्तम्भनामपुररम्यतरश्रि ।
यज्जहास विपुलाङ्कविलासिद्वारकं किल सरिद्धृदयेशम् ॥ ३ ॥

तीररूढतरुनीलपलाशस्मेरजालकहरिन्मणिमुक्तम् ।
वृत्तरम्यमवनीवनितायाः कर्णकुण्डलतुलामवहद् यत् ॥ ४ ॥

नीलनीरजदलावलिदम्भव्यक्तलक्ष्मविधृतामृतपूरम् ।
यत्कृतावतरणं भुवि रेजे चन्द्रबिम्बमिव राहुभयेन[2] ॥ ५ ॥

कर्णिकाङ्कविरचन्मधुपोद्यत्तारकोन्मिषितपङ्कजदम्भात् ।
आलुलोकिषुनिजामिव लक्ष्मीं यद् दधार शतशो नयनानि ॥ ६ ॥

—षड्भिः कुलकम् ।

आयतैश्चलदृशोऽथ नितम्बैः सत्वरं रुरुधिरे वनवर्त्म ।
अग्रतोऽम्बुललनाय यियासून् वारयन्त्य इव जीवितनाथान् ॥ ७ ॥

स्वां श्रियं पयसि वीक्ष्य तरुण्यो द्राग् मनांसि चकृषुर्मुकुरेभ्यः ।
तत् किमत्र यदि वा प्रमदानां यत्र तिष्ठति मनश्चिरमेव ॥ ८ ॥

उत्तरङ्गिणि सरोऽम्भसि नार्यश्चिक्षिपुर्विकसितानि सुमानि ।
उज्जिजीविषयेव यजन्त्यो मन्मथस्य गिरिशं जलमूर्तिम् ॥ ९ ॥

1 K झटिति । 2 K °भयेण । 3 K मूर्ति । 4 K चिरकालं ।

तीरसंस्थितविलासवतीनां वारिणि प्रतिफलत्सु मुखेषु ।
स्मरवारिजधिया निपतन्तोऽहास्यन् मधुकरास्तरुणौघान् ॥ १० ॥

वारिगोचरजुषां युवतीनामुल्लसत्पुलिनिबिधिव्यपदेशात् ।
आतिथेयमिव कर्तुममूषामाविरासत सरोजलदेव्यः ॥ ११ ॥

अत्यगाधजलदर्शनजातातङ्ककम्पिततनूस्तनुमध्याः ।
पाणिनाऽथ विनिगृह्य कथञ्चिद् वेशयन्ति सलिलं स्म युवानः ॥ १२ ॥

किं पुरो विदधतीं जलकेलिं स्वां सखीमिव न पश्यसि मुग्धे ! ।
दर्शयन्निति च तत्प्रतिबिम्बं तां व्यशिश्वसदहो चतुरोऽन्यः ॥ १३ ॥

अस्त्यगाधमिह वारि तदेवं न प्रवेष्टुमुचितं तव मुग्धे ! ।
इत्युदीर्य विविशे कितवेनाऽन्येन वक्षसि निधाय मृगाक्षीम् ॥ १४ ॥

उत्सुकापि सुतरां जलकेलावञ्चले प्रणयिना विधृतापि ।
तद्विलोकरसभाववशाऽऽस्मा काप्यवास्थित तथैव परोऽपि ॥ १५ ॥

आहतः कुचतटैः प्रमदानां चेतनाविरहितोऽपि तडागः ।
क्षोभभावमगमत् सहसा यत् तत्र कारणमसौ रसवत्ता ॥ १६ ॥

अस्पृशत् प्रथममम्बु वधूनामङ्गसङ्गचपलं जघनानि ।
खेलति स्म तदनूरसिजेषु क्व क्रमः स्फुरति हन्त ! जडानाम् ॥ १७ ॥

जानुदघ्नमपि तत्सरसोऽम्भः कण्ठदघ्नमभवद् द्रुतमेव ।
योषिदङ्गविगलद्घणिम्ना स्फीततामुपगृहीतमिवोच्चैः ॥ १८ ॥

आजनेरपि वितीर्णमरन्दान्यम्बुजानि मधुपाः प्रविहाय ।
भेजिरे मृगदृशां वदनानि स्यात् कुतो हि मलिनेषु विवेकः ॥ १९ ॥

सञ्चरच्चटुलदृग्वदनाब्जालोकतर्कितनिशाकरबिम्बैः ।
खादितुं बिसलतोपगृहीता तत्यजे न बुभुजे न च चक्रैः ॥ २० ॥

योषितां स्तनतटे स्खलतोच्चैरस्मियन्त पयसा पुनरेव ।
शैशवे प्रवहता गिरिमार्गे कूलशैलसबलाऽऽस्खलनानि ॥ २१ ॥

प्रेयसीवदनमुक्षितुमात्तं नीरमञ्जलिपुटे दयितेन ।
तत्र बिम्बितमवेक्ष्य तदेवामोचि नोपचितभङ्गभयेन ॥ २२ ॥

सेसिचत्प्रियतमो मदिराक्ष्या शक्तया कुलतया प्रतिसेके ।
गृह्यते स्म भुजया लघुकण्ठे बाणयुद्धविदिवासिकरेण ॥ २३ ॥

वल्लभे विकसिताम्बुजमुख्या उन्मदे पिबति वक्त्रसरोजम् ।
अश्यदम्बुकणकेशकलापच्छद्मनाऽलिभिररोदि शुचेव ॥ २४ ॥

---

1 K कृदिवाऽसि ।

गाढपीडितरदावलिरन्ध्रैर्याः स्त्रियो मुमुचिरे जलधाराः ।
ताभिरास मदनः सलिलास्त्रो भर्तृमानदहनाञ्चशमाय ॥ २५ ॥
कण्ठदघ्नपयसि स्थितवत्या जीविताधिपतिना गजगत्याः ।
यद्यबुध्यत तयोर्द्युतिहान्याब्जद्वयान्तरगतं वदनाब्जम् ॥ २६ ॥
श्रीरपाह्रियत नो नयनानामेभिरेभिरिति सम्भृतकोपाः ।
मज्जयन्ति कमलानि सरस्सून्मज्जयन्ति च मुहुः सुदृशः स्म ॥ २७ ॥
वारिणि प्रतिनिधिव्यपदेशाद् व्यत्ययेन मदनश्च रतिश्च ।
तत्तदाप्तरुचिरत्वविशेषौ संश्रिताविव वधूं च वरं च ॥ २८ ॥
कैतवेन करवारिभिरेकां प्राप्य कश्चन पराङ्मुखभावम् ।
चुम्बति स्म विदितोदितरागोऽन्यां मुहुः कमलिनीमिव भृङ्गः ॥ २९ ॥
शैलसारकठिने प्रमदानामम्भसां स्तनतटे स्खलितानाम् ।
फेनपङ्क्तिरिव हारलताया दिद्युते सरसि मौक्तिकपङ्क्तिः ॥ ३० ॥
अम्भसाहृतविलेपनभङ्गौ योषितां वपुषि कान्तकृतानि ।
रेजिरे नखपदानि सपत्न्युच्चाटनार्थमिव मन्त्रपदानि ॥ ३१ ॥
त्रुट्यतोऽपि जलपूरितरन्ध्रैः शुक्तिजन्मभिरपाति न हारात् ।
के त्यजन्ति सुदृशां कुचयुग्मस्पर्शसौख्यमभिलब्धरसा वा ॥ ३२ ॥
नीरपूरणवशादृतमौनं नूपुरं चटुलपादसरोजे ।
संननाव्य सदवेदि मृगाक्ष्या गुह्यको वट इवानुपलब्धेः ॥ ३३ ॥
कण्ठदघ्न उदके विहरन्ती वाणिनी विशदपक्ष्मधत्त ।
स्मेरमब्जमिति तन्मुखवीक्षासख्यविश्वसितमानसमाशु ॥ ३४ ॥
भापनाय समुपेत्य जलान्तर्भर्तरि स्पृशति सक्थि करेण ।
त्रासकम्पिततनूस्तनुमध्याश्चर्यचुम्बितमवेक्षि सखीभिः ॥ ३५ ॥
प्रेयसा दशनरन्ध्रविमुक्तैरुक्षितोदककणैर्मदिराक्षी ।
प्रीतिजातपुलकोद्घुषिताङ्गा कामकाण्डनिचितेव चकासे ॥ ३६ ॥
मुक्तगन्धमपि वारिविहारैः पुष्पदाम न जहे शशिमुख्या ।
न स्वतोऽपि गुणवान् सुखहेयः किं पुनर्यदि स जीवनलीनः ॥ ३७ ॥
पङ्कजच्छदृदृशः कटिवस्त्रे नर्मणा व्यपहृते दयितेन ।
वस्त्रवन्निजदलानि ददानाम्भोजिनी ध्रुवमधत्त सखीत्वम् ॥ ३८ ॥
औक्षमौक्षमवलां जितदृग्भ्यां कालिमा य उदवास्यत भर्त्रा ।
सोऽसहिष्णुवनितावदनाब्जे व्यक्ततामभजदाशु निविश्य ॥ ३९ ॥

---

1 K विशेषे संश्रिते इव । 2 K सन्ननाप्य । 3 K मुखवीक्ष्य । 4 P भापनाय्य ।
5 K बहुशेन वदनाम्बुजयान्तै° ।

ताडनाय समुदञ्चितमब्जं मत्प्रियामुखमिति प्रतिचुम्बन् ।
तां स्मयेन परिवर्तितवक्त्रामप्यहासयदहो ! कितवोऽन्यः ॥ ४० ॥
योषितां जलविहारवतीनां नूपुराणि रणितानि न चक्रुः ।
कः सदाचरणभाग् जलमध्ये[1] स्वं तनोति यदि वा महिमानम् ॥४१॥
सारसेऽम्भसि परस्परहर्षादुज्झितैरपि सरोजमुखीभिः ।
श्रीरवाप्यत परा सुमगुच्छैः क्व श्रियां सुमनसो न पदं स्युः ॥ ४२ ॥
दम्पती विधृतवार्यभिपूर्णाऽऽयामशालि बिसशस्यतमाऽऽस्यौ ।
प्रेमपानमिव चक्रतुरन्योऽन्यावलोकवशकूणितनेत्रौ ॥ ४३ ॥
स्मेरपङ्कजवने कथमन्योऽज्ञास्यदास्यकमलं कमलाक्ष्याः ।
कैतवेन कमले यदि सिक्ते नाऽहसिष्यदियमेव विमुग्धा ॥ ४४ ॥
चुम्बितं स्मितसरोरुहबुद्ध्या तेन चाधरदले प्रहृताऽपि ।
कान्तवक्त्रमलिना किल दष्टाऽस्मीति तथ्यमपि नो बुबुधेऽन्या ॥४५॥
वारिभिश्चलदृशामधरेभ्यो दूयते स्म नवयावकरागः ।
मण्डनं तदधिकं तु वितेने तत्र[2] कान्तनिहितै रदनाङ्कैः ॥ ४६ ॥
मण्डनं चपलदृग्नयनानां वारिणाऽञ्जनमलोऽपि लवेन ।
भञ्जनेऽपि हि जडस्य मतिः किं कृत्यवस्तुवदपाटवमेति ॥ ४७ ॥
बिम्बितेऽम्बुनि निजाऽऽननपद्मे काऽपि दृग्द्वयमवेक्ष्य झषाक्षी ।
पद्मकोशगतमीनधिया तद् गृह्णती दयितचित्तमगृह्णीत्[3] ॥ ४८ ॥
सान्द्रितेऽम्बुनि कललननानां नेत्रकज्जलभरैर्हसितैश्च ।
गाङ्गवारिकलितां रविकन्यां मेनिरे युवजनाः किमु धन्याम् ॥ ४९ ॥
एहि मङ्क्षु नलिनीषु निलीनां दर्शयामि सुतनो ! भवदालीम् ।
विप्रतार्य दयितामिति कश्चित् तां जिगाय निभृते पणबन्धे ॥ ५० ॥
प्रौढदेवनवशाद्रितवृद्धौ[4] सारसेऽम्भसि निमग्नसरोजे ।
कुन्तलच्छलमिलद्भ्रमरौघैर्योषितां सरसिजायितमास्यैः ॥ ५१ ॥
उत्तानमम्भसि सुखं प्लुतिलाघवेन निस्पन्दमम्बुजदृशामभितस्थुषीणाम् ।
रेजुः स्तनाः सुविवृता भृशमुच्छ्वसन्तश्चक्रा इवापविवरे मिलितस्वकान्ताः ॥५२॥
व्यात्युक्षीषु भृशोक्षणाकुलितया वक्रीकृतग्रीवया
व्यालोक्य प्रतिबिम्बितां स्वकबरीं पृष्ठप्रतिष्ठेऽम्बुनि ।
प्रेयान् वारहिशङ्कया स्म परया संश्लिष्यते भीतया
लातुं स्वासिलताशया पुनरिमां चिक्षेप हस्तं[5] स च ॥ ५३ ॥

---

1 K जलमध्ये । 2 K तदैव । 3 K °मगृह्णात् । 4 K शाद्रुतवृद्धौ । 5 K हस्तादपि ।

चिकुरनिचयमाशु कम्पयामास नेत्राम्बुरुहमपि मुकुलीचकारोरःपीठे लुलोठ ।
जघनतटमुपासामास पस्पर्श पादौ प्रिय इव वनितानां सारसो वारिपूरः ॥५४॥

स्रस्तो धम्मिल्लबन्धो गलितमखिलमप्यञ्जनं लोचनानां
भ्रष्टो[1] रागोऽधराणामविरलपुलकैर्व्याप्तमङ्गं समग्रम् ।
नष्टा शक्तिः कपोलस्तनतटलिखिता पत्रलेखाऽप्यपास्ता
वारिक्रीडा वधूनामजनि रतिरसस्य प्रवेशध्रुवेव ॥ ५५ ॥

परिनिस्सरच्चटुलदृग्जघनोरसिजावलीरिततरङ्गतति ।
अभिनज्जलं झगिति कूलभुवः[2] सहयानमाभिरमितन्वदिव ॥ ५६ ॥

अत्युत्सुकत्वनिपतत्पदघातजातस्फीतध्वनिश्रुतिवियोजितपक्षिपक्षाः ।
अन्योऽन्यपाणितलताडनलब्धलक्ष्या नीरान्निरीयुरथ दम्पतयः सहेलम्[3] ॥५७॥

विलोक्यतां स्वच्छतयाऽबलानां जग्मुर्न वासांसि जलार्द्रितानि ।
ध्रुवं परित्यागभयेन तासां निलीय देहद्युतिषु स्थितानि ॥ ५८ ॥

गतेऽङ्गरागेऽपि तनूदरीणां न कायलक्ष्मीरधरीबभूव ।
स्वभावरम्यस्य जनस्य यद्वा विभूषणं मङ्गलमात्रदायि ॥ ५९ ॥

विनिर्गतानां सरसो वधूनां पृष्ठे प्रलम्बी शुचिकेशपाशः ।
परीक्षितुं प्रत्युत हेमपट्टे निवेशिताऽभात् कषपट्टिकेव ॥ ६० ॥

विनिर्गतानां सरसो वधूनां पृष्ठे प्रलम्बी शुचिकेशपाशः ।
मेरोः शिलायां सुखमासितस्य शिखण्डिनो बर्हमिव व्यराजत् ॥ ६१ ॥

निर्नीरितानि विबभुर्वनिताजनानां चेलाञ्चलैर्मृदुतरैर्नितरां वपूंषि ।
उत्तेजितानि सुमनोविशिखस्य शस्त्राणीवाऽखिलत्रिजगतीजयबद्धबुद्धेः ॥६२॥

उन्मिषन्नयननीलसरोजा भ्रूलतालसितकान्ततरङ्गाः ।
मुक्तबन्धकचशैवलरम्याः सारसीं श्रियमलानिव नार्यः ॥ ६३ ॥

भूषाऽपहृत्या रिपुमस्मदीयमसौ यमार्त्तः सलिलं बिभर्त्ति ।
इति प्रकोपाभिरिवाङ्गनाभिरबध्यतावर्त्य शिरोजपाशः ॥ ६४ ॥

इत्थं विधाय जलकेलिमनन्यजन्यां
श्रीजैत्रसिंहतनयः स हमीरवीरः ।
स्वान् स्वान् गृहान् प्रति विसृज्य जनान् सहैतान्
वेश्माससाद निजमर्थिकृतप्रसादः ॥ ६५ ॥

इति *श्रीजयसिंह*सूरिशिष्यमहाकवि*श्रीनयचन्द्र*सूरिविरचिते श्रीहम्मीरमहा-
काव्ये वीराङ्के जलक्रीडावर्णनो नाम षष्ठः सर्गः समाप्तः ॥

---

1 K नष्टो । 2 K कूलभुवं । 3 K सलीलम् ।

अथ सप्तमः सर्गः ।

अथ विश्रामसमयागमलालसं चलदश्वां प्रविदन्निव मानसम् ।
चरमभूमिधराग्रिमचूलिकामहिमरश्मिरभूषयदंशुभिः ॥ १ ॥
विधिवशाद् विपदं समुपेयुषीं न खलु कोऽप्यवधीरयितुं क्षमः ।
यददिवेत्य हिमद्युतिमण्डलः[1] समभवद् विगलद्द्युतिमण्डलः[2] ॥ २ ॥
जगति नाम पतङ्ग इति स्फुटं मम दधुस्तदमी शलभेषु किम् ।
इति वहन्निव सूरिषु कोपितां ग्रहपुषोऽजनि लोहितविग्रहः ॥ ३ ॥
अविरताम्बरसञ्चरणोल्लसद्गुरुपरिश्रमसङ्गतविग्रहः ।
सलिलकेलिचिकीरिव वाहिनीदयितमध्यमगाहत भास्करः ॥ ४ ॥
जलशयेशशयाम्बुजनिह्नुतैककुचसिन्धुसुतोरसिजभ्रमम्[3] ।
प्रवितरज्जगतां जलधेर्जले शकलमग्नमभाद् रविमण्डलम् ॥ ५ ॥
भुवनचक्षुषि भास्वति वारुणीमभिनिषेव्य जडेष्वधिमज्जति ।
उचितमेव तदा त्वमपि[4] व्यधाद् यदखिलं भुवनं स्ववशं तमः ॥ ६ ॥
अहिमभासि हृदेकतमप्रिये नयनमार्गमतीत्य गते क्वचित् ।
अपरदिग्भवरागहुताशने प्रविविशे प्रणयेन दिनश्रिया ॥ ७ ॥
गलितभासि हृदेकतमप्रिये व्रजति भास्वति शोच्यदशान्तरम् ।
विशदलिव्रजकैतवतोऽविशद्दिव शोकतमः सरसीरुहाम् ॥ ८ ॥
विधिनियोगतयाऽपतदापदं सममिवीक्ष्य पतिं[5] महसामिह ।
सपदि संचुकुचे सरसीरुहैरपश्रिभिः सुहृदामुचितं ह्यदः ॥ ९ ॥
सितगुरेष कुरङ्गकलङ्कभाग् मलिनहृत् क्षणदाऽस्य वधूरपि ।
तदिह ही किमवेक्ष्यत इत्यभूत् कमलिनी विनिमीलिसरोजदृक् ॥१०॥
उडुपतिद्युतिपानपरिस्फुरत्खगजिगीषुतयेव दिनात्यये ।
निशि वियोगवतां पततां गणा निखिलमेव रवेः पपुरातपम् ॥ ११ ॥
पुनरनाप्तिभिया पपुरातपं दिनकृतः किममून्यधिकं रुचेः ।
रथपदाह्वपतन्मिथुनानि नो यदधुना व्यषहन्त सहासितुम्[6] ॥ १२ ॥
निशि वियोगवतः पततः स्थिता बिसलता चलचञ्चुपुटे बभौ ।
असुगणं वनिताविरहाद् विनिर्जिगमिषुं विनिरोद्धुमिवाऽर्गला ॥ १३ ॥
बिसगुणोऽपि ययोर्युगचारिणोः कथमपि स्म न माति पुरान्तरा ।
अपि सरिद्दयितः सममात्तयोर्विलसितं न विधेः स्मृतिगोचरः ॥ १४ ॥

---

1 K °मण्डलं ।　2 K °मण्डलम् ।　3 K सलिलशायिशया° ।　4 K त्वमिदं ।
5 K पतिमवेक्ष्य महामनसो मुहुः ।　6 K सहस्थितिम् ।

रुरुदृशां स्ववशे सकलं जगद् रचयितुं रतिजीवितवल्लभः ।
दिनविरामरणन्मुरजावलिस्वनमिषेण निदेशमिवादित ॥ १५ ॥
तिमिरराशिरुदित्वरशक्तिरप्यधित नीचपदानि पुरा वशे ।
निजसमानवशीकरणोद्यमः प्रविजिगीषुगुणो ह्ययमादिमः ॥ १६ ॥
स्मरशरव्यितदुर्दयिताङ्गना ज्वलितदुःखहुताशकणा इव ।
प्रतिपदं कृतलोचनकौतुका रुरुचिरेऽतितरां शिखिकीटकाः ॥ १७ ॥
अतिविदग्धतया भ्रमिमाचरन् न कुलटाजन आट दृशोः पथम् ।
विविधयुक्तिनिषेवणहृष्टहृन्मनसिजेन वितीर्णवरादिव ॥ १८ ॥
भृशमपि क्षिपति प्रतिवासरं मयि मुहुर्मुहुरेति तमः कुतः ।
इति रुषेव वहन्नतिलोहितं वपुरगादुदयं रजनीकरः ॥ १९ ॥
शमयितुं तिमिराणि यदुत्सुकोऽप्यमृतसूरुदियाय शनैः शनैः ।
तदिदमङ्कमृगो मघवप्रियार्पिततृणग्रसने खलु लुब्धवान् ॥ २० ॥
भुवनभेदनसम्भवशोणितोपचितमन्मथमार्गणघर्षणैः ।
अरुणतामिव यच्छशिमण्डलं श्रियमदाद् गगनस्य निजस्य च ॥२१॥
क्रकचचक्रजकेसरपाण्डुरप्रसृमरोरुकरोत्करकैतवात् ।
अनुनिशादयितां हिमवालुकाप्रकरमास्यदिवाखरदीधितिः ॥ २२ ॥
हृदयमध्यगतं दधदुच्चकैः स्फुटतराङ्कमिषेण तमस्विनीम् ।
अजयदर्धवपुर्धृतवल्लभं पशुपतिं प्रणयातिशयाच्छशी ॥ २३ ॥
सरसिजानि विहाय हरिप्रिया तुहिनदीधितिमण्डलमाश्रयत् ।
अधिगताङ्ककलङ्कमिषोन्मिषत्स्फुटकटाक्षनिरीक्षणलक्षिता ॥ २४ ॥
हिमकरं दयितं मिलितुं निशा विवसिताद्भुतभूषणया दधे ।
अविरलोदिततारकपेटकच्छलमयी नवमौक्तिकजालिका ॥ २५ ॥
चिरभवन्मिलनादुपगूहनं द्विजपतावदयं ददति श्रियः ।
त्रुटति हारलता स्म समुत्पतद्विविधमौक्तिकतारकिताम्बरा ॥ २६ ॥
सुमशरान् प्रविहाय सुमायुधः शशिकरान् यदमन्यत तत्पदे ।
उचितमेव नवं नवमिच्छतां परिचिते रिपुता हि महीयसी ॥ २७ ॥
किममृतैः सिषिचे किमु चन्दनैः किमु हमीरकुमारयशोभरैः ।
चितमिदं जगदिन्दुकरोत्करैर्व्यतनुतेति वितर्कपरम्पराम् ॥ २८ ॥

---

1 K प्रतिलवं । 2 K कुपथसंश्रयणोऽद्भवपातकावतमसैरिव निबिचिरं वृतः । 3 K कवलितुं । 4 K प्रियार्पित° । 5 K क्रकजपत्रज° । 6 K गतां° । 7 K °"या तुहिन°" इत्यारभ्य "°स्फुट° पर्यन्तः पाठो मूलप्रतौ नास्ति अतः K प्रतेरुद्धृतः । 8 K किमुत दुग्धपयोनिधिवीचिभिः ।

प्रियसरोजदृशां रतविज्ञतास्थितिविवेकविधाविव दीक्षिताः ।
विविधभोगवतां रतमन्दिरे रुरुचिरे परितोऽपि दशेन्धनाः ॥ २९ ॥
प्रणयिभिः सह साम्प्रतमाहवः स्मरभवो भविता सुमहानिति ।
विविधभूषणकङ्कटसङ्ग्रहाऽऽग्रहवशं सुदृशो हृदयं व्यधुः ॥ ३० ॥
श्रवणकुण्डलवेणिविलोचनाम्बुजमृजोपधिना मृगलोचनाः । 5
सपदि चक्रकृपाणशरावलीप्रभृति शस्त्रचयं किमसज्जयन् ॥ ३१ ॥
उपगते दयिते भविता मया किमिह संयतयापि मुहुर्मुहुः ।
इति रणत्कलकिङ्किणिकामिषान्नववधूरिव मेखलया जगे ॥ ३२ ॥
तरुणिमोष्मविशुष्यदुपाहिताच्छतरचन्दनलेपनकैतवात् ।
मदनयुद्धकृते परिधापिताविव कुचौ परया नववाससा ॥ ३३ ॥ 10
रणितकिङ्किणिसन्मणिमेखलावलिमिषेण नवोढवधूरते ।
पतिभयादभितः स्मरमन्दिरं स्फुरितजागरिदुर्गमिव व्यधात् ॥ ३४ ॥
रुरुचिरेऽतितरां रुचिरद्युतिप्रसवसम्भवशेखरराजयः ।
स्मितसरोजदृशां मुखचन्द्रमःप्रसरदुन्नतिकान्तिचया इव ॥ ३५ ॥
सरलकज्जलकान्तलिपिच्छलाद् वशकृतौ जगतः कमिता रतेः । 15
स्वसुभटेषु पुरोगमतां दृशोः कथयति स्म न किं हरिणीदृशाम् ॥३६॥
प्रतिफलन्निह मा रजनीकरो विदितलक्ष्ममुखं वितनिष्ट नः ।
इति धियेव जितेन्दुकपोलयोर्विदधिरे नवपत्रलताः स्त्रियाः ॥ ३७ ॥
सहजपाटलतातिमनोहरे दधुरमूरधरे यदलक्तकम् ।
तुहिनभासि सितीकरणश्रमभ्रमकरं यदजायत नो किमु ॥ ३८ ॥ 20
उरसिजेषु सखीजननिर्मिता मकरिका विबभुर्मृगचक्षुषाम् ।
मकरकेतुविभोः स्तनवासिताऽनुमितिसाधनबन्धुरविभ्रमाः ॥ ३९ ॥
परिपिबन् रमणो ध्वनिमेतयोर्भवति नैव समाप्तरतादरः ।
चरणयोर्विधृते इति नूपुरे मृदुगिरो हृदये बहु मेनिरे ॥ ४० ॥
न पटयोरपि सूचिकया विना भवति योग्यतमा किल योजना । 25
दयितसङ्गमनेष्विति दूतिका जनगतागतमभ्यलपन् स्त्रियः ॥ ४१ ॥
स्वमपि कान्तममूष्वभितो विलासिनमवेक्ष्य परिच्युतमत्सरा ।
रतिरपि श्रयति स्म तनूदरीर्बलवता हि बलं न सहोचितम् ॥ ४२ ॥
अथ मिथोऽपि मुखाम्बुजदर्पणे नयनगोचरचुम्बि तनुश्रियः ।
उदितकामरसा दयितागमोत्सुकतरं दधिरे प्रमदा मनः ॥ ४३ ॥ 30

---

1 K रतिमन्दिरं । 2 K दृढं मुहुः । 3 K °गुणमिषेण । 4 K प्रसरदुन्नत° । 5 K पुरस्सरतां । 6 K °गोचरनीत° ।

चलदृशां दयितेषु समानताम्बुजरुचेव कृशत्वममाश्रयत् ।
शितिसरोजरुचेव सह क्षणादतिशयत्वमगादनुनेतृता ॥ ४४ ॥
मृगदृशः स्म विभान्ति कटाक्षिताः प्रणयिभिः[1] स्फुटितोष्मपयःकणाः ।
निशितपक्ष्मविभिन्नवपुःस्रुताधररसबिन्दुचयोपचिता[2] इव ॥ ४५ ॥
मृदुरवा दयितेषु यथा यथाऽऽयतकटाक्षचयानभिचिक्षिपुः ।
रतिपतिः स्पृशति स्म तथा तथा धनुरधिज्यमसौ विदयाशयः ॥४६॥
चरणलम्बितहारमिषाच्छ्रिताक्षवलयैस्तलिमैर्जपसोद्यमैः[3] ।
अजनि वारवधूविटनिर्मितप्रबलमोहनभङ्गभयादिव ॥ ४७ ॥
इह धृते प्रविलोकयिता स मां तमहमप्यखिलाऽऽत्मतया रते ।
इति विचिन्त्य पराधित पार्श्वतो गृहमणिं ज्वलितोज्ज्वलवर्तिकम् ॥४८॥
अयि ! तनोषि किमु क्षणुकोदरीति निगदत्यपि भर्त्तरि सत्वरम् ।
त्यजति मानमशेषमपि प्रिया स्म कटरे रजनीसमयोर्जितम् ॥ ४९ ॥
प्रियसमागमसूचकवामदृक्स्फुरणतो मुदिताशययाऽन्यया ।
हृदयनाथमनुप्रहिताऽपि किं निजसखी न पथः स्म निवर्त्यते ॥ ५० ॥
अपि लवो युगकोटिशतायतेऽधृतिपरस्य जनस्य ऋते यतः ।
हृदयहारिणि तत्र किमौचिर्ती स्पृशति मानिनि मानपरिग्रहः ॥ ५१ ॥
अनुनयन्नपि चैवमुपेक्षितो ह्यसुभगामिव चेद् भवतीं त्यजेत् ।
किमयशःपटहो न तदा तव व्रजति कोपिनि डिण्डिमडम्बरम् ॥५२॥
रतिकृतां प्रथितो रिपुरेव यस्तमपि मानभरं परिपुष्यती ।
सुचरितेत्युदिताऽपि तदाशये कथमिव प्रतिभासि विलासिनि[4] ! ॥५३॥
प्रतिवधूरधिगत्य समं त्वया सकलहं विदधे यदि त्वं स्ववसात् ।
तव तदास्तु पुनः स कुतः करे परिचिताः पुरुषा हि न कस्यचित् ॥५४॥
सखि ! हृदेकहितं भज मार्दवं परुषतां तु दुरन्ततरां त्यज ।
परुषता रचिता हि हृदीश्वरे फलति केवलमात्मनि मूढता[5] ॥ ५५ ॥
मम[6] वचोऽद्य कुरु स्वहितं न चेदनुशयं हृदयं तव यास्यति ।
इति परा प्रतिबोध्य सखीं निजां रमणमन्दिरमध्यमपानयत् ॥ ५६ ॥
—षड्भिः कुलकम् ।

स कितवोऽद्य समेष्यति चेत् तदा भुजयुगेन निबध्य रतालयम् ।
समुपनीय निहन्मि तथा पुरा पुनरुपैति यथा न तदालयम्[7] ॥ ५७ ॥

---

1 K प्रणयिभिः प्रणयेन कटाक्षिताः पुलकिताः बभुरम्बुजलोचनाः । 2 K °चयप्रचिता ।
3 P °स्तलिमर्जपसो° । 4 P विलासिनी । 5 K मूढताम् । 6 K कुरु ममाद्य वचः ।
7 K तदन्तिकम् ।

हृदयनिष्कुटमध्यकृतोद्गमा कमितरीति मनोरथवल्लरी ।
सुभगया परया परया मुदा सफलभावमनीयत सत्वरम् ॥ ५८ ॥
अनुनयान्वितमाश्रितगद्गदं सखि! तथा वद जीवितवल्लभम् ।
स समुपैति यथा न च कुप्यतीत्यभिविबोध्य सखी प्रहिताऽन्यया ॥५९॥
यदि वियोगमवश्यमियध्यथं स्मयमधास्यमिमं हृदि किं तदा ।
इति परा परितप्य मुहुर्मुहुर्नयनमालिषु दीनमथाक्षिपत् ॥ ६० ॥
प्रिय! समेष्यसि सुभ्रु! विमानहृत् तव किमीश! यशो मदनस्य किम् ।
स हि ममेक्षणजः किल सोऽपि तत् तव परेति हृदीशमजीहसत् ॥६१॥
प्रतिदिनं शतशोऽपि निवारितो मुहुरिह त्वमुपैषि कयाऽऽशया ।
कृतककोपवतीत्यपरा रयादुपरितल्पमपातयदीश्वरम् ॥ ६२ ॥
विनयतो वसनं कमितुः करौ करयुगेन परा त्रपयाऽधित ।
स्वयमपि स्फुरितोद्घुषणैर्गलन्निवसना सहसाऽथ किमातत ॥ ६३ ॥
यतिविरोधिलसद्रसपूर्णयोरुपरि लोलदृशः स्तनकुम्भयोः ।
बभतुरीश! कराम्बुरुहे अधोमुखपिधानतुलामिव बिभ्रती ॥ ६४ ॥
दृगतिथौ दयिते मृगचक्षुषां हृदि लवं यदि मानभरो लसत् ।
गृहपतौ समुपेयुषि कश्चिरं परगृहे लभते यदि वा स्थितिम् ॥ ६५ ॥
स्पृशति भर्त्तरि हृद्धृदयेशयः सचकितं मदनोऽन्यनतभ्रुवः ।
समुदतिष्ठदसंशयमत्रुटन्नितरथा किमु कञ्चुकसन्धयः ॥ ६६ ॥
सपदि गोत्रपरिस्खलनात् प्रियामनु परो दहनास्त्रमिवाकिरत् ।
समधित प्रतिशस्त्रमिवाथ सा जलमयं स्रवदश्रुततिच्छलात् ॥ ६७ ॥
तव मुखं कमलं मम चन्द्रमास्तदनयोरधुना स्मरकारितः ।
भवतु सन्धिरिति प्रवदन् परः स्वदयिताऽऽननयोजनमातनोत् ॥६८॥
तव ममाप्यधरं निपिपासतोर्विधुरताऽस्तु न कस्यचनेत्यथ ।
विलसतः स्म तथा पपतुर्यथाऽधरदलं सममेव वधूवरौ ॥ ६९ ॥
उपरि यावमृतस्य तयोरिहाप्युपरितैव भवत्विति दम्पती ।
विलसतः स्म तथाऽधरयोर्यथोपरितयैव मिथोऽजनि चुम्बने ॥ ७० ॥
दयितयोरमृतोपरि यौ तयोरधरयोरधरेत्यभिधा कथम् ।
अवगतं यदि वाऽधरता तयोरधरपानविधौ ग्रहणान्मिथः ॥ ७१ ॥
अमृतमित्यनृतं दयिताधरो यदि तदेष न किं गद नामृतम् ।
निमिमिषुर्यदमुं पिबतां दृशो विमुमुहुर्हृदयान्यपि कामिनाम् ॥ ७२ ॥

---

1 K °मज्जिर° । 2 K अहितगोत्र° । 3 K मिथोऽपि तथाऽधरयोरुपरितैव यथाऽजनि चुम्बने । 4 K मदनामृतम् ।

विशदमेव न किं दयितावलोकनसुधारसपानमसूचयन् ।
मुकुलिताक्षससीत्कृतशब्दिताऽऽननपुरः करणेन विलासिनः ॥ ७३ ॥
हृदि मयाऽनुसृते तव सा स्वयं निरगमत् किल माऽत्र विषीद तत् ।
दयितमित्यभिधास्खलनादवाङ्मुखमभाषत काऽप्यधृताधृतिः ॥७४॥
5 प्रियतमाधरपल्लवचुम्बनोपनतकान्तमुखेन्दुमिषाच्छशी ।
मयि सुधा किल तादृगिहापि किं किमधिकेति विवेक्तुमिवालसत् ॥ ७५ ॥
दयितयोर्मिथ एकमुखासवग्रहणलम्पटयोर्मुखसङ्गमे ।
द्विशशितापनिमित्तमुदत्वरी न किमुवाह विपर्ययवर्जनाम् ॥ ७६ ॥
श्रियमुषामुख एव हरन्निजां प्रियतमामुखवेषधरः शशी ।
10 अधरपानमिषाद् रुरुधे न किं वदनवारिरुहेण विलासिनः ॥ ७७ ॥
प्रणयिना विधृताऽपि मनस्विनी वपुरुवाहयदुत्पुलकं किल ।
किमियताऽपि जगाद न सा वशं तव गताऽस्मि विधेहि यदीहितम्॥७८॥
भज धृतिं त्यज भीतिमहेतुकां ह्रियमवाञ्चय वक्रमुदञ्चय ।
अभिनवामुपदेष्टुमिति प्रियामजनि कोऽपि सखीव पटुः स्वयम् ॥७९॥
15 जघनसङ्गमनोत्सुकमानसं हृदयनाथमवेत्य मृगीदृशः ।
स्वयमपासरदेव तदंशुकं किमुचिताचरणे गुणिनोऽबुधाः ॥ ८० ॥
असह आशु विदूरयितुं परो युवतिनीविमतित्रुटदुत्सुकः ।
विषहते समुदीरितमन्मथो न खलु कश्चन कालविलम्बनम् ॥ ८१ ॥
परिसमाप्तरतोऽपि परः प्रियाधररसं सुरसायनवत् पिबन् ।
20 पुनरपि स्फुरिताऽसमसायको व्यधित किं किमसौ न हृदीप्सितम् ॥८२॥
शशिरवी सुरतेषु तथाचलत्कनककुण्डलकैतवकल्पितौ ।
मृगदृशः पुरुषायितमूर्जितं समभिवीक्ष्य झलज्झलिताविव ॥ ८३ ॥
वरयिता रतकेलिषु[3] कौशलं भृशमसौ वहतीति परा मुदा ।
ऋजुरणन्नवनूपुरसिञ्जितैरभिजगाविव तद्गुणगौरवम् ॥ ८४ ॥
25 मम मुखस्य विधोरपि दर्शनात् तव दृशौ कुमुदे अपि [4]मीलितः ।
किमिदमित्यपरा शयनोन्मुखं स्तनघटेन जघान हि तं मुहुः ॥ ८५ ॥
पुनरुपैषि तदोकसि तां विलोकयसि जल्पसि वाऽथ तया समम् ।
दयितयेत्युदितो विदधे शठो न हि न हीति मृषाऽप्यमृषोत्तरम् ॥८६॥
जहिहि लाक्षणिकीं रुषमुत्तमे ! न हि न वेद्मि मनस्तव यन्मयि ।
30 अहह पश्य तवाधरपल्लवः स्फुरति मामिव चुम्बितुमुत्सुकः ॥ ८७ ॥
अपि च रागमभान्तमिवाशये ! न वहतो न दृशौ बहिरुद्गतम् ।
इति विदग्धवचाः कुपितामपि प्रियतमां न परः किमहासयत् ॥८८॥ —युग्मम् ।

1 K °ताक्षिमसीत्°। 2 K °नुसृते। 3 K रतिकेलिषु। 4 K मीलनः।
5 K किमद्भुतमित्यपराकुला।

रचयिता सखि ! तत्र किमेष मां नवरतं भविता च कथं कथम् ।
इति मुहुः समवादि न का सखी रतिरसोत्सुकयाऽपि नवोढया ॥८९॥
प्रियतमे पुरुषायितलाघवं किमपि पश्यति वक्रितकन्धरम् ।
असहया रतमुज्झितुमन्यया गृहमणिः शमितः कुसुमैर्ह्रिया* ॥ ९० ॥
सुरतकेलिषु सुभ्रु ! तवाहितं किमपि चेच्छपथोऽस्तु तदाऽत्र मे ।
श्रुतगिरं यदि मां[2] न च मन्यसे ननु विधाय न पश्यसि किं तदा ॥९१॥
इति नवां रमणीं रतये परः स्मरकलाविदुरः समबूबुधत् ।
अतिविचक्षणताऽतिविमुग्धतासुखविबोध्यमिदं यदि वा द्वयम् ॥९२॥
[†इति नवां रमणीं रमणः परः स्मरविलासकृते समबूबुधत् ।
सततनिर्मितकामकथोल्लसन्नवनवोक्त्यभिषिक्तमनोभवः ॥ ९३ ॥]
प्रियतमस्य भृशं सुरतार्दने शपथपूर्वमदात् सुरतं पुरा ।
तदनु लब्धरसा न तदस्मरन्नववधूर्वपु रे! स्मरवल्गितम् ॥ ९४ ॥
अधरपातविधौ स्तनमर्दने नखरदोल्लिखने[3] परिरम्भणे ।
क्वचिदपि स्खलति स्म न कामिनां मतिरिहाप्यवधानभृतामिव ॥ ९५ ॥
हृदि यदेव दधे दयितै रते युवतयोऽग्रत एव तदाचरन् ।
इतरथा कथमेकमनस्कता रतिरहस्यमुपैति[4] यथार्थताम्‡ ॥ ९६ ॥
इह सुखेषु सुखं सुरतोद्भवं महदिहापि मिथोऽप्यनुकूलता[5] ।
रहसि केलिरिहापि यदृच्छया सममिहापि रतिर्यदि किं पुनः‡ ॥९७॥
प्रियसखीभिरपि प्रतिबोधिता नवरतोत्सवतो भयशङ्किनी ।
अतितरां परिरभ्य हृदीश्वरं कपटमुद्रितदृक् शयितेतरा ॥ ९८ ॥
दयितदष्टरदच्छदपल्लवा नववधूः करकम्पनकैतवात् ।
विगतवन्ति दिनानि रतोत्सवैर्विरहितानि शुशोच मुहुर्न किम् ॥ ९९ ॥
रतिरसं कलयन् नितमां परस्तदुरुतागुणविघ्नितचुम्बनः ।
परिनिनिन्द कुचौ मुहुरीक्षयन् न च वधूं समयः स हि तादृशः ॥१००॥
रतिरसोपरमे स्खलनात् परः प्रणयिनीकुचपर्वतमस्तके ।
निपतितोऽपि मुमूर्च्छ न सम्मुखं दृढतरोऽजनि रन्तुमहो! पुनः¶॥१०१॥
प्रणयिनां यदभिद्यत कौसुमैरपि शरैर्हृदयं सुमधन्वनः ।
प्रणयिनीकुचशैलमहाहतीस्तदसहिष्ट यदद्भुतमेव तत्¶ ॥ १०२ ॥

---

1 K कियद्व्यथस् । * पद्यमिदं K प्रतौ नास्ति । 2 K मां च न मन्यसेऽनुभवमेव न पृच्छसि किं तदा । † एतत्पद्यमुपरितनस्य पद्यस्य पाठान्तररूपेण K आदर्शे लिखितं लभ्यते । 3 K नखशिखालिखने । ‡ एतत् पद्यद्वयं K प्रतौ व्यत्ययेन समुपलभ्यते । 4 K भवमुखेषु । 5 K मिथोऽपि विदग्धता । ¶ एतत् पद्यद्वयं K प्रतौ नोपलभ्यते ।

सपरिवेषशशिश्रियमुद्वहद्[1] भुजयुगान्तरवर्ति मुखं स्त्रियः ।
[2]विचलिपोर्हृदयाधिपरेतसोऽपशकुनाय न किं समजायत ॥ १०३ ॥
रतिरसं परमात्मरसाधिकं कथममी कथयन्तु[3] न कामिनः ।
यदि सुखी परमात्मविदेकको रतिविदौ सुखिनौ पुनरप्युभौ ॥ १०४ ॥
[4]अधिकृतां करकङ्कतयोजनां विदधतौ रहसीन्दुमुखीवरौ ।
विबभतुः सुगृहीतपरस्पराविव मिथोऽप्युपपादयितुं रतिम् ॥ १०५ ॥
अधिशिरोधि मिथः करकङ्कतप्रगुणि[5]ताननयुग्ममिषादभात् ।
प्रणवसंपुटयन्त्रमिव स्फुरद्विवलयं[6] रतिकृष्टिकृतेऽन्ययोः ॥ १०६ ॥
प्रणयिनो मुखचन्द्रमसि स्फुरत्यभिमुखं तरले! परिचुम्बितुम् ।
अनुचितं किमिदं नवनायिकामुखसरोजमजायत यत् पराक् ॥ १०७ ॥
रतिविरामभवादुपगूहनाद् विघटनेच्छुमवेत्य परा प्रियम् ।
सुदृढमूरुयुगेन निपीडयन्त्यतत हुंहुमिति स्मितजल्पितम् ॥ १०८ ॥
परिपिबन् दयितो दयिताधरं मुकुलिते नयने यदसौ व्यधात् ।
किममुनैव[7] जगाद न यत्पुरो[8]ऽमृतमवेक्षितुमप्यसमञ्जसम् ॥ १०९ ॥
सुरतकौशलशालिनि वल्लभे मुकुलिताक्षिमिषात् समवीविशत् ।
अविषयो वचसां किमिहान्तरा स्फुरति द्रष्टुमिवेति परा दृशौ ॥ ११० ॥
रतिकलां[9] कलयत्यसुवल्लभे किमपि कुञ्चिमुखी सुमुखी न वा ।
हह ननेति ममेति वचो मिषान्मदनदीपनमन्त्रमिवास्मरत् ॥ १११ ॥
अपदयं दयितस्य रतोत्सवं रचयतो नतनाभिपथादधः ।
करतलं ददती मुदमातनोन्नववधूरधिकां सुरतादपि ॥ ११२ ॥
अदहदीश्वरनेत्रहुताशनो रतिपतिं विदुषामिति यद्वचः ।
[10]ऋतमर्मस्त तदत्र स एव यो वशयितुं प्रबभूव न मानिनीम् ॥ ११३ ॥
मदनोऽरिरस्य मदनारिरित्यसौ मदनेन देह इति साधुरन्वयः ।
भुवि कामतत्त्वमधुनेति केवलं कथमन्यथाऽलसदहो[11]! समन्ततः ॥ ११४ ॥
उत्प्लुत्य तल्पादितरा रतान्ते कान्तं भुजाभ्यां दृढमालिलिङ्ग ।
आदातुकामेन तदङ्गयष्टेरनङ्गसर्वस्वमपि प्रपीड्य ॥ ११५ ॥
दध्रेऽङ्गानि यथा यथाऽतिकठिनान्येषा नवोढा रते
शङ्केऽधत्त तथा तथाऽतिकठिनं चेतोऽपि चित्तप्रियः ।
मा मा मा[12] न न मुञ्च मुञ्च हहहेत्युल्लापवत्यां मुहु-
स्तस्यां नो कथमन्यथाऽस्य करुणं[13] तारुण्यमासादयत् ॥ ११६ ॥

---

1 K °मावहत् । 2 P विचलिपोऽहृदया° । 3 K कथयन्ति । 4 K अधिकृकं । 5 K प्रगुणनोपधिना प्रिययोरभात् । 6 K °त्रिवलयं । 7 K °मुनेव । 8 K तत्पुरो । 9 K रतिकलां । 10 K तदकृतं तदमंस्त स एव यो । 11 K स्फुरदहो । 12 K मा मद । 13 P करुणातारुण्य° ।

दम्पत्योर्वदनेन्दुसङ्गममिषात् तथ्यं मिथश्चुम्बने
किं नैवाभ्युदगच्छदच्छरुचिभृत् सद्यः शशाङ्कद्वयम् ।
आसीत् तेन महाहवः स्मरभवो यद्युक्तमेवेति तत्
प्रीतिर्यत्र परैव युक्तमपि तद् यत् क्षेत्रयोरन्यता* ॥ ११७ ॥

दृष्ट्वा स्वं प्रतिबिम्बमेव वहति प्रेयानयं स्वप्रिया-
मक्ष्णीति स्रवदश्रुवार्भिरकरोन्मुग्धा निपानं पुरः ।
तत्रैव प्रतिबिम्बनान्निपतितां भर्त्रा[1] समं यत्पद-
द्वन्द्वे स्वे मुमुदे च वीक्ष्य किमितोऽपि स्यात् परं योषिताम् ॥११८॥

कोऽपि स्मरोन्मुक्तविषाक्तबाणमूर्च्छामतुच्छामिव हर्तुकामः[2] ।
शैलाविवालम्ब्य कुचौ कराभ्यां पपौ सुधामिन्दुमुखीमुखेन्दोः† ॥११९॥

सुरत्राणः कस्य त्वमिति मुहुरेवाभिहितया[3]
पणाख्या प्रोक्तां स्मरशरशरव्यत्वमितया ।
परेषां सर्वेषामवनिहिमरश्मे ! तव पुनः
करक्रीतादासीगिरमिति पपौ कोऽपि सुकृती† ॥ १२० ॥

स्वाभाविकात् सुरततो विपरीतमेतद्रागं विशिष्य सुरतं वितनोति यूनाम् ।
निश्चेतनाऽप्यजनि रागवती यदत्र शय्या मयावकवधूपदबिम्बदम्भात् ॥१२१॥

स्मरस्मेरलीलासु तल्पादधस्तात् प्रसूनानि बभ्राजिरे निष्पतन्ति ।
मृगाक्षीवपुर्वल्लिविश्लेषभावाविरासीन[4]दुःखाद् ददन्तीव झम्पाम् ॥१२२॥

यस्याङ्गं[5] तावदेवं बहिरपि विहितस्पर्शनं कामिनीना-
मीदृक्सौख्यं विधत्ते स खलु रचयिता किं न मध्ये[6] प्रविष्टः ।
इत्थं ध्यात्वा रतान्ते सुदृढतमपरीरम्भदम्भेन मध्ये
कायं प्रक्षेप्तुमैच्छन् सकलमिव हि तं कातराः कातराक्ष्यः ॥१२३॥

भानोः सङ्क्रमणे श्रयेत मृदुतां विश्वं समस्तं यथा
मन्ये शिश्रियतुः स्तनावपि तथा स्त्रीणां रतेः सङ्क्रमे ।
नैवं चेद् गुरुशैलवत् कठिनयोः श्रान्ता रतान्ते भृशं
प्रेयांसः कणशोऽभवन्न पतिता मध्ये तयोस्तत् कथम् ॥ १२४ ॥

क्षणं मानेऽमाने क्षणमथ मिथः काक्षकषणे
क्षणं हासोल्लासे क्षणमथ दृढालिङ्गनविधौ ।
इति व्यग्रा निन्युः प्रतिगृहमशेषामपि निशां
रतोत्साहैस्तैस्तैः समुदितमुदस्ते युवजनाः ॥ १२५ ॥

---

* पद्यमिदं K प्रतौ न विद्यते । 1 K समं तां पद° । † एतत् पद्यद्वयं K प्रतौ व्यत्ययेनोपलभ्यते । 2 P हन्तुकामः । 3 K दयिते पृच्छति मुहुः । 4 P °विरासान° । ‡ पद्यमिदं K प्रतौ १२१-१२२ अङ्काङ्कितात् पद्ययुगात् पूर्वमेव निर्दिष्टम् । 5 K तावदे• तावदपि किल कृतस्पर्शनं । 6 K सर्वं ।

अन्योऽन्यमर्पितरदच्छदखण्डनानां निःशङ्कनिर्मितनखक्षतमण्डनानाम् ।
संभोगसंभवपरिश्रमखेदितानां निद्रासुखं क्षणमभूद् रतयेऽथ यूनाम्॥१२६॥

अन्योऽन्यप्रवितीर्णदन्तनखरप्रोद्यत्पदव्यञ्जनै-
र्यूनोर्वीक्ष्य परां स्थितिं गतवतो निर्व्याजवीरव्रते ।
कन्दर्पोऽपि गिरीशदर्पदलने निश्चिन्ततामुद्वहन्
आशिश्राय चिराय सङ्गसुभगां निद्रां विशङ्कं तदा ॥ १२७ ॥

तूलं स्पर्शानुकूलं मुखशशिरुचिरश्रीसमाकृष्टिमूलं
ताम्बूलं नासिकाया व्रतसुकृतफलं स्फारपुष्पोपहारः ।
कान्ता श्रान्ता स्तनाभ्यामुरसि खिलमिदं न श्रुतः सप्तमश्चेत्
सर्गः शृङ्गारसञ्जीवन इति विदितो वीरहम्मीरकाव्ये ॥ १२८ ॥

॥ इति श्रीजयसिंहसूरिशिष्यमहाकविश्रीनयचन्द्रसूरिविरचिते महाकाव्ये श्रीहम्मीर-चरिते वीराङ्के सुरतवर्णने शृङ्गारसञ्जीवनो नाम सप्तमः सर्गः समाप्तः ॥

अथाष्टमः सर्गः ।

प्रपञ्चयन्तः स्फुटतारमन्द्रमध्यस्वरान् पञ्चमरागगर्भान् ।
हम्मीरदेवाय निशाऽवसानं वैतालिका विज्ञपयाम्बभूवुः ॥ १ ॥
विच्छायमिन्दुं मुखमावहन्ती विनिम्नताराकलुषाम्बरेषा ।
विभावरी याति रजस्वलेव स्नातुं पयोधौ दिशि पश्चिमायाम् ॥ २ ॥
वियुक्तनारीजननेत्रपातोल्काभिः समन्तादिव दीप्यमानम् ।
विहाय शीतांशुरसौ विहाय आसीदपूर्वाचलचूलचुम्बी ॥ ३ ॥
स्वातन्त्र्यहन्ता न उदेति भास्वानस्यामिति क्रोधभरारुणाभिः ।
दृष्टेव दृग्भिः कुलटाजनेन पुरन्दराशाऽरुणतां जगाम ॥ ४ ॥
अबोधि किं न क्षणिका क्षपेयं मानो दधे यद् भवतीभिरेवम् ।
इत्यभ्यसूयन्निव मानिनीभ्यस्तनोति शब्दान् कृकवाकुरेषः ॥ ५ ॥
जायापतीनां रतकौतुकेन रात्रिं समग्रामपि जागरित्वा ।
घूर्णन्त्यमी विस्फुरितप्रमीला इव प्रदीपा रतमन्दिरेषु ॥ ६ ॥
निवर्त्य चेतः सुरतात् कथञ्चिद् यावत् सुषुप्सन्ति युवान एते ।
मार्दङ्गिकैस्तावदवादि सद्यः प्रत्यूषसूचा सुभगो मृदङ्गः ॥ ७ ॥
विलेपनामोदिरतान्ततान्तस्वेदोदकास्वादनमन्दचारः ।
संभोगशालासु निविश्य यूनः सुखाकरोत्येष उषासमीरः ॥ ८ ॥

1 K °माहवम् । 2 K रति° । 3 K रतिमन्दिरेषु । 4 K मार्दङ्गिकैस्तावदवादि । 5 K °तान्तकान्त° । 6 K उषान्तवायुः ।

प्राप्तप्रबोधा गुरुणोपदिष्टान् महाप्रयोगान् प्रणिधाय चित्ते ।
कीर्त्यै कवीन्द्रा इव निर्मलार्थोत्पत्तिं नरेन्द्राः परिभावयन्ति ॥ ९ ॥
विप्राननोद्गीर्णविविक्तवर्णप्रचारचारुध्वनिवेदमन्त्राः ।
सतां हृदन्तस्तरसा प्रविश्य तमः कषन्तीव समूलकाषम् ॥ १० ॥
तमोमये प्रेक्ष्य विधिः प्रलीनं मेरुं युगान्तेऽथ नवं सिसृक्षन् । 5
प्रत्यूषसन्ध्याभवरागदम्भाच्चिनोति शृङ्गाणि हिरण्मयानि ॥ ११ ॥
विभा विभातैव विभावरीयमद्यापि मानं किमिवादधासि ।
इति प्रियाया अपि बद्धमूलं मानं सुखेनैव नुनोद कश्चित् ॥ १२ ॥
संभोगकेलीं[1] प्रविधाय पश्चात् सुप्ताऽपि नारी प्रथमप्रबुद्धा ।
आलिङ्ग्य सुप्तं[2] प्रियसुप्तिभङ्गं विशङ्कमाना न जहाति तल्पम् ॥ १३ ॥ 10
क्वचिद् विभातीकृतयामिनीका अभ्येत्य कान्ता निभृतप्रचारम् ।
स्वप्नेऽपि तत्तर्जनशान्तचित्तामाश्लिष्य सुप्तां दयितां स्वपन्ति ॥१४॥
अपि द्विजेशः श्रितवारुणीको ध्रुवं भवेन्नीचजडोपयोग्यः[3] ।
इति प्रबोधं जगतां प्रयच्छन्नध्यास्त मध्यं जलधेः शशाङ्कः ॥ १५ ॥
असौ[4] सिषेवे चतुरोऽपि यामान् श्यामाक्षये सत्यपि यत् सकामः । 15
तेनैव शङ्केऽस्तमुपैति पक्वपलाण्डुपाण्डुः पतिरोषधीनाम् ॥ १६ ॥
समस्वरूपे शशिनो रवेश्च बिम्बेऽस्तभावादुदयत्वतश्च ।
उपैति पूर्वापरयोर्विभेदे मतिर्जनानां क्षण[5]मीश ! जाड्यम् ॥ १७ ॥
अवाप यस्यामुदयं विहाय तां मामथासावपरां सिषेवे ।
इत्याद्धानेव रुषं हिमांशौ पुरन्दराशाऽरुणतां जगाम ॥ १८ ॥ 20
स्फुटं स्फुटत्कुड्मलकोशनिर्यद्विलोलरोलम्बमिषेण हर्षात् ।
समागमे पत्युरिनस्य पश्[6]याऽस्राणीव मुञ्चन्ति सरोरुहिण्यः† ॥ १९ ॥
क्वापि ह्रदे व्योमसरिद्वरायाः पतिर्नदीनामनुबिम्बितः किम् ।
यद्वारि भान्तीह तमस्तरङ्गाः[7] प्रत्यूषरागोऽपि तदन्तरा[8]ग्निः ॥ २० ॥
एषाऽहमेतच्च गृहे तवैवागन्तव्यमेवाशु पुनः प्रियेण[9] । 25
इत्युक्तिपूर्वं परिरभ्य गाढं[10] षिङ्गान् प्रहिण्वन्ति पणैणनेत्राः ॥ २१ ॥
प्रकाशकल्पे[11]ऽपि सहस्ररश्मौ वारांनिधिश्चापलमुत्ससर्ज ।
हंसे प्रकाशं यति यत् सतीव जडेऽपि शान्तत्वमुपैति मूर्त्तम्[12] ॥ २२ ॥

---

1 K °केलिं । 2 K सुप्त° । 3 K °भोग्यः । 4 K असेवनाऽसौ चतुरो° । 5 K क्षणमत्र । 6 K पश्य विमुञ्चतेऽश्रूणि सरोजिनीयम् । † एतत्पद्यं सप्तविंशतितमपद्यानन्तरं वर्त्तते K आदर्शे । 7 K °रङ्गा प्रत्यूष° । 8 K °न्तरग्निः । 9 K प्रसद्य । 10 K दोर्भ्यां । 11 K शेषेऽपि । 12 मूर्त्तिम् ।

विच्छायतां भूरितरामुपेता दूरीभवत्पुष्करकोशवासाः ।
काले कलौ सन्त इवोडवोऽमी क्वचित् क्वचिन्नेत्रपथं प्रयान्ति ॥२३॥
लोलत्तनूनां मथनेन दध्नस्तनूदरीणां कबरीमिषेण ।
ध्वान्तावलीकुट्टनजातकार्ष्ण्याः स्फुरन्ति दण्डा इव चण्डरश्मेः ॥२४॥
षिङ्गैर्निषिद्धैरपि दत्तदन्तपदालिचित्रेषु[1] रदच्छदेषु ।
संभ्रान्तचित्ताः पतिदृष्टिपाताद्[2] ददत्यलक्तं कुलटा नतास्याः ॥ २५ ॥
स्मराहवे स्मेरतरे प्रवृत्ते पलाय्य पृष्ठे मलिनो यमस्थात् ।
इत्यात्तकोपा इव केशपाशं गाढं निबध्नन्ति सरोरुहाक्ष्यः ॥ २६ ॥
काञ्चीगुणस्य ग्रथनप्रयासे प्रकोष्ठभूषा गणसिञ्जितेन ।
मुक्तिं भजेथाः पुनरेव शीघ्रमित्यादिशन्तीव तमाम्बुजाक्ष्यः ॥ २७ ॥
शिला लिहन्तोऽग्रगसैन्धवानां वक्त्रोष्मभिर्ध्मा[3] मलयन्ति वाहाः ।
निःश्वासवातैरिव पाणिगानाऽऽदर्शान्निशाभोगवियोगिनार्यः ॥ २८ ॥
समूलमुन्मूल्य तमःसमूहं लोके प्रवेशं सृजतो दिनस्य ।
माङ्गल्यहेतो रविबिम्बदम्भात् नीराजनामाचरतीव पूर्वा ॥ २९ ॥
षिङ्गैर्वितीर्णा[4]नणुवित्तवैरा दिवाप्रभातं भृशमर्दिताङ्ग्यः ।
सर्वाङ्गसंस्पृश्यति भानवीयकरोत्करे जाग्रति नो भुजिष्याः ॥ ३० ॥
घूकादिवेन्दोरिव नीलनीररुहादिवाकृष्य विभातकालः ।
रथाङ्गनामार्कसरोरुहेषु मुदं प्रकाशं श्रियमादधाति ॥ ३१ ॥
पत्यू रुचीनामहिताद् भयेन तमःसमूहो विरहय्य धात्रीम् ।
निशाटनेत्राणि विवेश नूनमुत्पश्यतैतेषु कुतोऽन्यथाऽभूत् ॥ ३२ ॥
विभावरीयाय विनाशमेषा मुदं दधस्वेत्यसुवल्लभा स्वा ।
विबोध्यते द्वन्द्वचरेण यावत् सा तावदागात् स्वयमेव पार्श्वम् ॥३३॥
क्रुधेव ताम्रं वपुरादधानमायान्तमालोक्य सहस्ररश्मिम् ।
निलीयते श्वश्यदितस्ततोऽपि भिया तमिस्रं गिरिगह्वरेषु ॥ ३४ ॥
इत्यद्भुतैर्वाक्यभरैर्विबोधकैः समाख्यातविभातकालः ।
तदर्हकृत्यं विरचय्य दानकेलिं कुमारः कलयाञ्चकार ॥ ३५ ॥
विभूषितास्थानसमं शुभैषी *श्रीजैत्रसिंहं* रिपुकुम्भिसिंहम् ।
गत्वा कुमारोऽथ मुदा नमस्यामासानणीयस्तरभक्तिनम्रः ॥ ३६ ॥
कृतप्रणामं तमवेक्ष्य हृष्यद्रोमा पुलोमारिरथो धरित्र्याः ।
रहस्युपानीय रहस्यवेदी जगाद निस्तन्द्रतरास्यचन्द्रः ॥ ३७ ॥

---

1 K °विश्रेषु । 2 K पतितो भयेन । 3 P हि ध्मा । 4 K °वितीर्णोत्तरवित्त° ।
5 P °श्रासु ।

साम्राज्यलक्ष्मीकरपीडनाय [1]जातप्रवीणप्रतिमे तनूजे ।
विद्वांवरेण्ये क्वचनापि नास्मद्वं[2]श्याः प्रशस्या विष[3]माभिवश्याः ॥ ३८ ॥
विध्वस्तबाह्यारिचयोऽप्यजित्वाऽन्तरङ्गशत्रूनतिमात्रशक्तीन् ।
बाह्येतरारीन् जितवत्सु तेषु स्थितः कथङ्कारमहं चकास्मि ॥ ३९ ॥
कियद् वराकाः सविशेषमाहू राज्यं नृपाणां विगलत्कृपाणाम् ।
इदं तु योगप्रणिधानभाजां यावद् वराकाः सविकाशमेवं* ॥ ४० ॥
बाह्याः शरीरे किल शैशवीया भावा यथाऽत्याजिषतात्ययेऽस्य ।
हातुं तथाऽभ्यन्तरगानपीमान् उदासते हन्त ! किमत्र सन्तः ॥ ४१ ॥
शक्तावसत्यां विषयाभिलाषो विडम्बयत्येव जनान् प्रयोक्तॄन् ।
शान्तोऽनलः फूत्क्रियमाण उच्चैः किं पूरयत्याशु न भस्मनाऽऽस्यम् ॥४२॥
अपास्तलज्जं बहुदैन्यमस्मानकामयन्त स्मरकातरा याः ।
ताः कामयेम ह्यधुना मृगाक्षीर्वयं हहाऽतोऽपि विडम्बना कि[4]म् ? ॥४३॥
मलातुराणामशुचौ शुचौ वा यथाप्रदेशे न विचारणाऽस्ति ।
स्त्रीणां तथा मूत्रपुरीषपात्रे गात्रे नराणां मदनातुराणाम् ॥ ४४ ॥
यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्तः कृत्यान्यकृ[5]त्यान्यपि न स्मरन्ति ।
तदप्यहो ! यौवनमस्तमस्तु काऽद्यापि [6]तृष्णा विषयेषु निष्णा ॥ ४५ ॥
ये यौवनोन्मादभरे गतेऽपि कुर्वन्त्यखर्वं विषयेषु रागम् ।
निर्मांसमज्जाऽस्थिषु ये शृगाला लालारसास्वादनमाचरन्ति ॥ ४६ ॥†
सर्वाङ्गेषु निकृष्टमङ्गयुगलं स्त्रीणां तदुक्तं तयो-
राद्यं विड्विवरं प्रसिद्धमितरत् प्रस्रावरन्ध्रं पुनः ।
तन्मध्ये यदपत्यरन्ध्रमसकृद्विस्रस्रवच्छोणितं
ये तस्मादधुनाऽपि नान्यवदनास्तेभ्योऽपि निन्द्योऽस्तु कः‡ ॥४७॥
तद्राज्यकक्षीकरणान्ममैतामाज्ञां गुणैकालय ! पालयाशु ।
साहाय्यतस्तेऽयमुपेन्द्रसेवाहेवाकिचेताः सुखमस्तु भूपः ॥ ४८ ॥
वार्धक्यदोषोदयदुर्भगत्वान्मुक्त्वाऽद्य सद्यः कमलानिवास्मान् ।
पतिं द्विजानामिव सौम्यमूर्तिं साम्राज्यलक्ष्मीरुपतिष्ठतां त्वाम् ॥४९॥
सुधाकिराऽथैष गिरा स्वभक्तिवल्लीं प्रवेलन्नवपल्लवाढ्याम् ।
कुर्वन्निव व्यज्ञपयत् कुमारस्तातं जगच्छ्रेयतमावदातम् ॥ ५० ॥
द्वेधाऽपि राजन् ! नरकान्तमेतद् राज्यं न चेतो बहु मन्यते मे ।
द्युसद्मवीवद् विबुधालिसेव्या त्वद[7]ङ्घ्रिसेवा यदि लभ्यतेऽसौ ॥ ५१ ॥

1 K जाते । 2 P वंशाः । 3 K गृह्यासवश्याः । * पद्यमेतत् K प्रतौ नास्ति । 4 K का । † एतत्पद्यं K आदर्शे न विद्यते । 5 K कृत्यानि । 6 K निष्णा विषयेषु तृष्णा । ‡ नास्तीदं पद्यं K प्रतौ । 7 K त्वदंह्रि° ।

त्वत्पादपद्मे सदसद्विवेककृद् राज्यहंसत्वमभीप्सतो मे ।
हर्षाय सुव्यक्तकलङ्ककारि राजन्नराजत्वमिदं कदाचित् ॥ ५२ ॥
ज्येष्ठे तनूजे सति राज्यलक्ष्मीर्देया कदाचिन्न किलेतरस्मै ।
जानन्नपीत्थं नयवर्त्मसंस्थां मह्यं कथं दित्सति तामधीशः ॥ ५३ ॥
हम्मीरदेवाय वितीर्य राज्यं मदङ्घ्रिसेवानिरतो भवेति ।
स्वप्ने निशान्ते शयितं निशाऽन्ते मामाह विष्णुः करवै किमार्य ! ॥५४॥
निरुत्तरीकृत्य ततो हठेनानिच्छन् तमप्येनमतुच्छचित्तम् ।
हम्मीरदेवं नृपतित्वलक्ष्मीममीमनल्लातुमिलाविलासी ॥ ५५ ॥
ततश्च संवन्नव-वह्नि-वह्नि-भू(१३३९)हायने माघवलक्षपक्षे ।
पौष्यां तिथौ हेलिदिने सपुष्ये दैवज्ञनिर्दिष्टबलेऽलिलग्ने ॥ ५६ ॥
पुरा पुरोधास्तदनु क्षितीन्दुर्भूपास्ततोऽन्ये सचिवास्ततश्च ।
ततो महेभ्यास्तदनु प्रजाश्च तस्याभिषेकं रचयांबभूवुः ॥५७॥–युग्मम् ।
छायाकरैस्तस्य सितांशुशुभ्रं यदातपत्रं बिभरांबभूवे ।
छायाऽखिलस्यापि जगत्रयस्य बभूव तेनाद्भुतमेतदुच्चैः ॥ ५८ ॥
एवं पतिष्यन्त्यसकृत् पदेऽस्य क्षितिक्षितः ख्यातुमिवेति लोके ।
शिरोऽभितोऽप्यापतती नृपस्य तस्याथ बालव्यजने व्यभाताम् ॥५९॥
अपाठिषुर्बन्दिजनास्तदानीमराणिषुर्मङ्गलतूर्यकाणि[1] ।
अनर्तिषुर्नर्तविदश्च[2] गीतमगासिषुर्गायकमकण्डलानि[3] ॥ ६० ॥
पदे पदे वन्दनमालिकानां माला निबद्धा बभुरुल्लसन्त्यः ।
गृहावलीनां नयनायमानद्वारामिव भ्रूलतिकाः सलीलाः ॥ ६१ ॥
नरेन्द्रमार्गेष्वभितो विकीर्णा विस्मेरपुष्पप्रकरा विरेजुः ।
कान्तं नवीनं प्रति भूमिदेव्या हासा इव स्फारतरप्रकाशाः ॥ ६२ ॥
हर्षप्रकर्षेण समन्ततोऽपि सद्यस्कवाह्लीकजलप्रसिक्ताः[4] ।
नवे हृदीशे प्रकटीकृतात्मरागा इवद्रङ्गभुवो[5] विरेजुः ॥ ६३ ॥
प्रत्यालयोत्तंसितशातकुम्भमाञ्जिष्ठकौसुम्भिककेतुदम्भात्[6] ।
अधीश्वरं प्राप्य नवं हमीरदेवं विशङ्कं पुरमप्यरज्यत् ॥ ६४ ॥
साम्राज्यलब्ध्या मुदितोऽप्यमुष्य भूभङ्गमाशङ्क्य शिरांस्यधुन्वत् ।
वृथा व्यषीदत् फणिराड् विवेद *धृतां नतां तेन तदा त्वमेव ॥ ६५ ॥
हृत्वा श्रियं शात्रवकैरवाणां सुहृज्जनाम्भोजकुले दधानः ।
प्राप्तोदयो भूवलये स राजा न कस्य कस्याजनि विस्मयाय ॥ ६६ ॥

1 K मदंङ्गि° । 2 K नृत्तविदश्च । 3 K गायन° । 4 K सहावाः । 5 P इवोद्रङ्ग° ।
6 K °सम्भितशात° । * एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः P प्रतौ त्रुटितोऽतः K प्रतेरुद्धृतः ।

विश्रावणे कर्णनृपस्य नीतौ रामस्य शौर्ये च धनञ्जयस्य ।
काले कलौ पण्डितमण्डलीनां किं जायतोदाहरणं स मा स्म ॥ ६७ ॥
धर्मो जगर्जेव दरिद्रमुद्रा क्वचिन्ननाशेव बभाविव श्रीः ।
समुल्ललासेव नयद्रुमोऽपि शुभं ननर्तेव तदीयराज्ये ॥ ६८ ॥
कालानलो नाजनि नाभिरामो रामोऽभवन्नो भरतो रतोऽभूत् ।   5
आसीन्न चित्ते जनकोऽपि कोऽपि हम्मीरमालोकयतां जनानाम् ॥६९॥
अहानि तान्येव सुखावहानि हम्मीरदेवोऽजनि येषु भूपः ।
लोकास्त एवात्तशुभावलोका वक्त्राम्बुजं यैर्ददृशेऽदसीयम् ॥ ७० ॥
विकासिकाशाभिनवप्रवालजिद्दन्तदन्तच्छददीप्तिदम्भात् ।
हृद्युल्लसद्वाङ्मयरागसिन्धोर्विस्तारयँस्तारतरानिवोर्मीन् ॥ ७१ ॥   10
रुजार्दनादित्यथ जैत्रसिंहः स्वस्यावसानं निकटं विजानन् ।
स्नेहेन हम्मीरनृपाय राज्यशिक्षामिमां प्रारभत प्रदातुम् ॥ ७२ ॥
स्त्रीणां श्रियां वा क्वचनापि मा गा विश्वासमासां क्षणभङ्गुराणाम् ।
रक्ता विरक्ताश्च सतामपि स्युः पदे पदेऽमूर्विपदे यदाशु ॥ ७३ ॥
साम्राज्यमासाद्य महत्तमेषु स्म विस्मरो मा विनयं नरेश ! ।   15
पुमान् बृहद्भानुरिवाविनीतः कुलस्य सर्वस्य विनाशहेतुः ॥ ७४ ॥
अप्यार्यकार्याणि विचार्य कुर्वन् विवेकवानेष जगज्जनेष्टः ।
जगन्निवासा तदियं नृपत्वलक्ष्मीः कथं तं विजहाति तात ! ॥ ७५ ॥
शक्तोऽपि देहाप्रकटीकृतात्मशक्तिः पराभूतिपदं सदैव ।
कारीषवह्निर्वद वत्स ! कस्य कस्याशु न स्यादतिलङ्घनीयः ॥ ७६ ॥   20
सदा सदाचारपरो नरेन्द्रः सेव्यो मुनीनामपि निःस्पृहाणाम् ।
कुशीलताभाग् न वरं खलोपभोगाय तैलीव भवत्यवश्यम् ॥ ७७ ॥
धर्मार्थकामा इव सामदानभेदाः क्रमेणैव पुरा प्रयोज्याः ।
सर्वात्मनैषामसति प्रचारे धार्या[6] मतिर्मोक्ष इवाथ दण्डे ॥ ७८ ॥
अनन्तरो यो विषयेषु राजा [7]संवर्धितः क्लेशकरः स एव ।   25
गृहाङ्गणा[8]न्तर्विषवृक्ष उप्ते कालं कियन्तं कुशलं गृहस्य* ॥ ७९ ॥
राज्यस्य धर्माः किल पञ्च ये तान् पञ्चेन्द्रियाणीह वदन्ति सन्तः ।
प्रलीयमानेषु तदेषु राज्यमपि प्रलीयेत वपुर्यथैव ॥ ८० ॥

---

1 K स मास्म । 2 K कलोऽनलो । 3 K हम्मीर° । 4 K कदापि । 5 K किं तैलिकवद् भवेत । 6 K कार्या । 7 K स वर्धितः केशकरः स्वरेव । 8 K गणाग्रे । * एत-त्पद्यानन्तरं 'पुमान् विराद्धो°' इत्यस्यैव सर्गस्य द्व्यधिकशततमः श्लोक उपात्तो दृश्यते K प्रतौ ।

शक्तिं समासाद्य सदोद्यतेन कार्यो मतिर्विक्रम एव पुंसा ।
तिर्यक्षु भूरिष्वपि पश्य सिंहः पराक्रमादेव न किं मृगेन्द्रः ॥ ८१ ॥
नये धियं सम्यगनाशयित्वा युक्तः प्रयुक्तो न पराक्रमोऽपि ।
छलावलम्बेन विनैव तावत् सिंहोऽपि हन्तुं प्रविशेदिभं किम्? ॥८२॥
बुद्ध्यैव सिद्धिर्यदि तन्न पुष्पैरपि प्रहर्त्तव्यविधिर्विधेयः ।
पश्य प्रसूनैरपि युध्यमानः स्मरो हरात् कां गतिमाससाद ॥ ८३ ॥
शौर्यं च बुद्धिर्मिथुनं तदस्माददूषिताद् राज्यमुदेति नित्यम् ।
न चैकतो विश्वमपि प्रपश्य संजायते द्वन्द्वत एव सर्वम् ॥ ८४ ॥
जिगीषुणाऽरौ बलशालिनाऽपि यात्रा विधेया खलु जेय एव ।
ज्वालाजटालीकृतदिङ्मुखोऽपि नाम्बूनि दग्धुं क्रमते दवाग्निः ॥८५॥
रिपोरपि स्वाश्रयमागतस्य करोति सत्कारविधिं विधिज्ञः ।
तथा हि मीनांशमुपागतस्य नोच्चं पदं किं भृगुनन्दनस्य* ॥ ८६ ॥
यथा न पीडा भवति प्रजानां ग्राह्यस्तथा धीधनतत्करोऽपि ।
किं नाम पुष्पाणि चिनोति पुष्पलावी लतानां जनयन् विबाधाम् ॥८७॥
निवासिता येन स एव वेत्ति प्रायः प्रजानां सुखदुःखभावम् ।
वन्ध्या विजानाति किमङ्गगर्भप्रपोषणं वा वहनक्रमं वा ॥ ८८ ॥
धनं प्रजानामयथापराधं गृह्णन् विजानाति न तच्च ताः स्वाः ।
इदं नृपस्याशकुनं तथा हि राज्यस्य नाशोऽस्य न तच्च ताश्च† ॥ ८९ ॥
सर्वस्वनाशेऽपि कुले विरोधोद्बोधं सुधीर्नो विदधीत कश्चित् ।
कुले विरोधो रचितो निनाय सुयोधनं किं निधनं न सद्यः ॥ ९० ॥
प्रजासु पीडा स्वकुले विरोधः पक्षद्वयं पेषणयन्त्रमस्मिन् ।
चूर्णीकृतं धान्यमिव प्ररोढुं पुनर्न राज्यं समुपैति शक्तिम् ॥ ९१ ॥
स्वमेव पुष्णन् प्रभुवञ्चनेन नार्हत्युपेक्षामनुजीविवर्गः ।
कर्षद्रसाया रसमात्मने किं नोन्मूल्यते क्षेत्रगतं तृणादि ॥ ९२ ॥
मातेव राजा हितकृत् प्रजानां मातुः सपत्नीव नियोगिवर्गः ।
तयाऽर्पितानां च करे तदस्याः क्व वृद्धिरासां क्व च जीवितव्यम् ॥९३॥
स्वतः कुलीनोऽप्यधिको विधेयो राज्ञाऽनुजीवी न कदाचिदेव ।
यतो जडात्मा वटवत् प्रवृद्धः स राज्यसौधस्य विनाशहेतुः ॥ ९४ ॥
प्राज्ञः सपत्नैः परिभूयमानोऽप्युदीषिषन्न त्यजति स्वदेशम् ।
दिवाकराल्लुप्तकरोऽप्यनुद्यन्नभःशशाङ्कः पुनरभ्युदेति ॥ ९५ ॥

1 K निजजेय । * पद्यमिदं K आदर्शे नास्ति । † नास्त्ययं श्लोकः K प्रतौ ।

चिरन्तनान् मन्त्रिवरान् विहाय साम्राज्यभारो निहितो नवेषु ।
क्षणेन मूलादपि नाशमेति यथाऽविपक्केषु जलं घटेषु ॥ ९६ ॥
स्याद् राज्यमन्त्रेषु किलैक एव श्रेयानमात्यो न पुनर्द्वितीयः ।
आरोहणं यानयुगस्य तज्ज्ञा न प्राणसंदेहकरं स्मरन्ति ॥ ९७ ॥
यो यत्र रक्तो यदि वा विरक्तो भावे विवेको न हि तस्य तत्र ।
अतो न तन्मन्त्रविधौ विधेया शिक्षा तदीया सुविचक्षणेन ॥ ९८ ॥
मन्त्रान् बहूनामपि धीसखानां श्रेयस्तरान् नैव वदन्ति सन्तः ।
गर्भस्य मातुश्च कुतः शिवाय करा बहूनां बत सूतिकानाम् ॥ ९९ ॥
पूर्वं स्वहृद्येव विचार्य सम्यग् मन्त्रं ततः सम्मतिमाददीत ।
संवादिता चेत् तदिदं विधेयं नो चेत् तदूहैर्मतिराविरास्या ॥१००॥
विराद्धपूर्वः पुरुषः प्रधानपदे कदाचिन्न पुनर्विधेयः ।
तादृक् छलं प्राप्य तथाविधा हि द्रुह्यन्ति नूनं धृतगुप्तवैराः ॥१०१॥
पुमान् विराद्धो विजहाति नैव धीमान् युगान्तेऽपि विरोधभावम् ।
अद्यापि पश्यार्यमणं विधुं वा तुदन् निवर्तेत विधुन्तुदो न ॥ १०२ ॥
महाबलेनापि कलिर्न कार्यः समं शकेशेन लसच्छलेन ।
तथा समर्थोऽपि बलिर्विजिग्ये छलप्रधानेन जनार्दनेन ॥ १०३ ॥
पुरः पुरो जाग्रदुदग्रकष्टं दुरोदरं दूरत एव हेयम् ।
दुरोदरारम्भवशेन कां कां विडम्बनां पाण्डुसुता न जग्मुः ॥१०४॥
बलाबलं सूत्रगतं विचार्य सविग्रहां यो विदधीत वृत्तिम् ।
स एव तत्तद्गुरुगौरवार्हशास्त्रज्ञधुर्यत्वमुपैति तात ! ॥ १०५ ॥
दत्त्वेति शिक्षां शुभबद्धसख्यां गेहे च देहे च निरीहचित्तः ।
जैत्रप्रभुः स्वात्महितं चिकीर्षन् *श्रीआश्रमं* पत्तनमन्वचालीत् ॥ १०६ ॥
शिवाऽपि जम्बूपथसार्थवाही विराजते यत्र शिवः स्वयम्भूः ।
यो ध्यातमात्रोऽप्युरुभक्तिभाजां दत्ते न किं भुक्तिमिवाशु मुक्तिम् ॥१०७॥
मज्जच्छचीदृग्युगलीकुवेलविष्वग्गलत्कज्जलमेचकाम्बु ।
चर्मण्वती यत्र सरिद् वहन्ती पुण्यश्रियो वेणिरिवावभाति ॥ १०८ ॥
ज्वलिष्यदेतद्विरहाग्नितप्तमिवाम्बकाब्जस्रवदस्रुवर्षैः ।
पृष्टेऽथ हृत्सेसिचतः समेत्य व्यजिज्ञपन्नेनममात्यमुख्याः ॥ १०९ ॥

1 K कुतश्च! । 2 K स्याद्राज° । 3 K कस्य । 4 K वद । 5 K चेत्तदोहैः° 6 K निषेधः । † क्रमव्यत्ययेन दृश्यते K प्रतौ । 7 P °युगका° । 8 K °काम्बुः । चर्मन्वती । 9 P °वाविभाति । 10 K °मिवाम्बुकाब्ज° ।

साम्राज्यलक्ष्मीं विरहय्य पूर्वं मुमुक्षतोऽस्मानपि सम्प्रतीश ! ।
खद्योतवत् त्वद्[1]विरहान्धकारे भाग्यानि नो यान्ति पुरा प्रकाशम्॥११०॥
भवद्दृगालोकनमुक्तयोगं प्रपत्स्यतेऽदो नगरं नरेशः ।
रङ्गत्पतङ्गोज्ज्वलबिम्बडिम्बविवर्जितस्य श्रियमम्बरस्य ॥ १११ ॥
वृष्ट्या सुधाया इव सौम्यदृष्ट्या सिञ्चन्नथैतान् निजगाद भूपः ।
मा कार्ष्ट कष्टं विदुषामनिष्टं कृते मम स्वात्महितं चिकीर्षोः ॥ ११२ ॥
इदं पुरव्योममदंशुमालिप्रतापरोचिश्चयशून्यशोच्यम् ।
*हम्मीरचन्द्रे*ऽभ्युदिते प्रकामश्रीकं भविष्यत्यचिरेण नूनम् ॥ ११३ ॥
मद्वंशपाथोरुहराजहंसस्तैस्तैर्गुणैर्विश्वकृतप्रशंसः ।
संसेव्यमानोऽहमिव प्रसाददानैः सदाऽऽनन्दयितैष युष्मान् ॥११४॥
इत्थं सहैतान् विसृजन् अवापत्[2] *पल्लीं* पुरीं यावदसौ नरेशः[3] ।
लूता विनिर्गत्य पपात तावत् स्वयं च भेजे लघुदेवभूयम् ॥ ११५ ॥
असासहीभिर्विरहं प्रियाभिरष्टाभिरिष्टाभिरथान्वितस्य ।
तत्रैव संस्कारविधिर्विधिज्ञैः *श्रीजैत्रसिंह*ाधिपतेर्वितेने ॥ ११६ ॥
अथाभिषिञ्चन्[4] नवशोकभूपं नवावतारं हृदि बाष्पपूरैः ।
चकार मोहग्रहिलीकृतात्मा *हम्मीरदेवः* परिदेवनानि ॥ ११७ ॥
तातेति तातेति वचःप्रघोषशुष्यद्गलस्यापि ममावनीश ! ।
यद्दर्शनं न प्रददासि तत् का तवौचिती सङ्गतिमङ्गतीयम् ॥ ११८ ॥
विश्वत्रिलोकीतिलकायमानं व्यधाद् विधेयस्तव पाणिरेनम् ।
कथं स एवास्य विनाशहेतोः प्रागल्भ्यमभ्यस्यति [5]हे हताश ! ॥११९॥
हुताशनासज्जनकालकूटान् परन्तपोर्जी(ऽरी?)निति को व्यधत्त ।
श्रीजैत्रसिंहं नृपतिं प्रणिघ्नन्नजायतास्योत्तरमद्य वेधाः ॥ १२० ॥
धातर्विगर्ह्योदभितोऽपि लोकापवादतो यद्यपि नासि भीतः ।
तथाऽपि पाणी कथमुत्संहेतां[6] नृरत्नमेनं तव हन्त ! हन्तुम् ॥ १२१ ॥
केनापि शङ्के पविशैलसाराण्यादाय चक्रे हृदयं विधातुम् ।
क्रन्दत्यपीत्थं मयि मुक्तकण्ठं नाद्यापि यत्तत्करुणा रुणद्धि ॥ १२२ ॥
कण्ठस्य हा ! हेति वचांसि दृष्ट्योरस्रं कपोलस्य कराब्जकोशः ।
चित्तस्य शोकः शरणं *हमीरदेवस्य* तत्राहनि जायते स्म ॥ १२३ ॥

---

1 K ते विर° । 2 K अवाप्य । 3 K नरेन्द्रः । 4 K °चिक्षिव । 5 K ही हताश !
6 K °मुत्सहेते स्म रत्न° ।

इत्थं महाशोकसमुद्रमग्नमुद्धर्तुमेनं जनताहिताय ।
अकर्णधारीयत विप्रबीजादित्यादिभिर्ब्रह्मविदांवरेण्यैः ॥ १२४ ॥
जगाम तातो निधनं ममेति वृथा कृथा मा क्षितिपाल! खेदम् ।
कस्याप्यवश्या निधनस्य शश्वद्दृष्टाः श्रुता वा पितरोऽत्र विश्वे ॥१२५॥
श्वासावधि स्यात् खलु जीवितव्यं श्वासः प्रसिद्धः स तु वायुरेव ।
वायोरिहान्यत् तरलं न किञ्चिद् यज्जीव्यते तन्महदेव चित्रम् ॥१२६॥
क्रीडां करिष्यति कियच्चिरमेष हंसः
स्निग्धोल्लसत्कलरवोऽत्र शरीरवाप्याम् ।
कालारघट्टघटिकावलिपीयमान-
मायुर्जलं झगिति शोषमुपैति यस्मात् ॥ १२७ ॥
इयं मायारात्रिर्वहलतिमिरा मोहललितैः
कृताज्ञाना लोकास्तदिह निपुणं जाग्रत जनाः! ।
अलक्ष्यः संहर्तुं ननु तनुभृतां जीवितधना-
न्ययं कालश्चौरो भ्रमति भुवनान्तः प्रतिदिनम् ॥ १२८ ॥
लङ्काभर्तुर्निधनरुचिना चापहस्तेन येन
क्षिप्तास्तास्ताः पितृपतिमुखे कोटयो राक्षसानाम् ।
सोऽपि स्फूर्जद्दिवसरजनीघोरवक्त्रेण राम-
स्ताम्यन्मूर्तिर्झगिति गिलितः कालनक्रञ्जरेण ॥ १२९ ॥
सूनोर्मन्मनभाषितानि शिशुताहृद्यस्य जीवादिशे-
त्युक्तीर्यौवनगस्य यस्तव पिता माधुर्यधुर्याण्यपात् ।
क्व स्वर्गे वसुधासुधाकरसुधास्वादोऽधुना प्रीतये
तस्य त्वद्यशसैव तृप्तिरमरीगीतेन पीतेन चेत् ॥ १३० ॥
इत्थं स्मार्तविनोदमोदिहृदयप्रज्ञालवक्त्राम्बुज-
प्रादुर्भूतविशेषतत्त्वभणितिश्रेणीप्रबुद्धाशयः ।
शोकद्वेषिचमूरमूर्दलयितुं वीरं विवेकं सृजन्
वेश्मेव स्वमपालयत् क्षितितलं हम्मीरदेवस्ततः ॥ १३१ ॥

॥ इति श्रीजयसिंहसूरिशिष्यमहाकविश्रीनयचन्द्रसूरिविरचिते श्रीहम्मीरमहाकाव्ये श्रीहम्मीरदेवराज्याभिवर्णनो नामाष्टमः सर्गः समाप्तः ॥

---
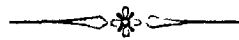
1 K धारायत विप्रवैजा । 2 K श्वासावधिः । 3 K ओगलितैः । 4 K कृतज्ञाना । 5 K °देवो नृपः ।

अथ नवमः सर्गः ।

अथास्य षड्गुणाँस्तिस्रः शक्तीर्भूपस्य बिभ्रतः ।
दिग्जयायानपायाय स्पृहयालु मनोऽभवत् ॥ १ ॥

ततो दैवज्ञविज्ञातलग्ने लग्नेद्धरुग्ग्रहे ।
वन्धाभिर्गोत्रवृद्धाभिः कृतयात्रिकमङ्गलः ॥ २ ॥

पश्चाद्[2]धृतोष्णरुग्बिम्ब ऊर्ध्वाकृष्टसमीरणः ।
नृपस्तुरङ्गमारुक्षत् पुर[3]स्कृतसितद्युतिः ॥ ३ ॥–युग्मम् ।

स्वतोऽधिकौजसं वीक्ष्य मा म्लासीदेनमुष्णरुक् ।
इतीवास्योज्ज्वलं शीर्षे छत्रं छायाकरैर्दधे ॥ ४ ॥

पास्यन्त्यस्याखिलं सैन्या मद्वारीति विशङ्किनी ।
तं वालव्यजनव्याजादागाद् गङ्गेव सेवितुम् ॥ ५ ॥

चम्पाया इव चम्पेशस्त्रिपुरस्त्रिपुरादिव ।
प्रकम्पयन् धरां धीरो निर्ययौ नगराद् बहिः ॥ ६ ॥

प[4]राग इव पाथोजात् पार्थपाणेः शरा इव ।
पुरतः स्फुरितोत्साहाः पृष्ठे सैन्या विनिर्ययुः ॥ ७ ॥

निर्मिमाणा मदाम्भोभिर्विष्वक्कर्दमिलामिलाम् ।
गर्जिसंतर्जितारातिशौण्डीर्या निर्ययुर्गजाः ॥ ८ ॥

[5]प्रखरप्रस्फुरत्पक्षा आरूढपुरुषोत्तमाः ।
चेलुस्तार्क्ष्याः परोलक्षाः प्रत्यक्षास्तार्क्ष्यका इव ॥ ९ ॥

उच्चैर्ध्वजाली[6]र्बिभ्राणैः प्र[7]शस्तैः[8]स्यन्दनैस्तथा ।
यथा तदन्तर्विक्षिप्तैस्तिलैर्भेजे न भूतलम् ॥ १० ॥

वियत्कुक्षिम्भरिस्फारहुङ्कारमुखराननाः ।
पत्तयो वल्गु वल्गन्तो नृपचित्तममूमुदन् ॥ ११ ॥

वात्याव्यतिकराक्रान्तपताकाऽर्पितदृष्टयः ।
मिथो ह हेति जल्पाका रेजिरे वैजयन्तिकाः ॥ १२ ॥

पदप्रतापप्रोद्भूतैरभितोऽपि रजोव्रजैः ।
छायार्थमिव सैन्यस्य प्रतेने दिवि मण्डपः ॥ १३ ॥

केचिद् गजानां केचिच्च पत्तीनां केऽपि वाजिनाम् ।
रथानां केचनावोचन् सैन्ये तस्य प्रभूतताम् ॥ १४ ॥

---

1 K °विज्ञस° । 2 K भूतोष्णरुग्बिम्बः पुरस्कृतसितद्युतिः । 3 K °ऊर्ध्वीकृतसमी-रणः । 4 K परागा । 5 K प्रक्षर° । 6 P °ली बिभ्राणैः । 7 K प्रसक्ते । 8 P स्यन्दनै° ।

परःसहस्रैर्गन्धर्वैः परोलक्षैश्च पत्तिभिः ।
क्रमात् क्रामन् धरां धीरः प्रापद् भीमरसं पुरम् ॥ १५ ॥
तत्र श्रिताभ्यमित्रत्वं गर्जन् अर्जुनभूपतिम् ।
कुट्टयित्वाऽसिदण्डेन स्वनिदेशवशं व्यधात् ॥ १६ ॥
ततो मण्डलकृद्दुर्गात् करमादाय सत्वरम् ।
ययौ धारां धरासारां वारांराशिर्महौजसाम् ॥ १७ ॥
परमारान्वयप्रौढो भोजो भोज इवापरः ।
तत्राम्भोजमिवानेन राज्ञा म्लानिमनीयत ॥ १८ ॥
ततोऽतिबलभारेण कासारितमहीतलः ।
व्यधादवन्तीं दन्तीन्द्रमदाक्रान्तकाननाम् ॥ १९ ॥
शिप्रां विप्राञ्जलित्यक्तैः सिक्तवप्रां पयःकणैः ।
दृष्ट्वा तस्याभवन् सैन्याः सज्जा मज्जनहेतवे ॥ २० ॥
विमुक्तबन्धनास्तत्र कृतमज्जनकौतुकाः ।
वाऽसन् रेवानदीसेवाहेवाकिहृदया गजाः ॥ २१ ॥
धुन्वन्तः कन्धराकेशान् वाजिनः स्नातनिर्गताः ।
आसारं तेनिरे तीरे तटिन्याः पटुकान्तयः ॥ २२ ॥
उन्मज्जत्कुम्भिकुम्भा सा स्रवन्ती सैनिकाशयम् ।
हरति स्म चकोराक्षी यथा पीनोन्नमत्कुचा ॥ २३ ॥
नृपोऽपि निर्मितस्नानो हितदानैकतानधीः ।
तत्रानर्च महाकालं कालं दुष्कर्मवैरिणाम् ॥ २४ ॥
प्रविश्य मध्ये मेध्यश्रीविशालां तां निभालयन् ।
नैकशो विक्रमादित्यं सस्मार स्मेरविक्रमः ॥ २५ ॥
विनिर्वृत्तस्ततो विश्वां विश्वां स्वकरवर्तिनीम् ।
सृजन् शौर्यवतां धुर्यश्चित्रकूटमकुट्टयत् ॥ २६ ॥
ततः स्फुटं नटन्मेदपाटपाटनपाटवे ।
प्राप्यार्बुदाद्रिं सान्द्रश्रीस्तत्रावासान् न्यवेशयत् ॥ २७ ॥
प्रतीभबुद्ध्या बिम्बान् स्वान् स्फाटिकीषु शिलास्विह ।
संपश्यन्तोऽभवंस्तस्य सिन्धुराः प्रधनोद्धुराः ॥ २८ ॥

1 K वाजिभिः । 2 K सिप्रां । 3 K किन्धरा° । 4 K विनिर्वृत्त° ।

हरिन्मणिगणस्यात्र प्रोल्लसन्त्यो मरीचयः ।
नवदूर्वावणभ्रान्तिं तद्धयानामजीजनन् ॥ २९ ॥

श्रमेण कर्मभिः सैन्यैरधिशाखं निवेशितैः ।
रेजिरे शैलराजस्य सुभटा इव शाखिनः ॥ ३० ॥

तत्र विश्रम्य विश्रम्य पादपानां तले तले ।
गीयमानानि भिल्लीभिः स्वयशांस्यशृणोन्नृपः ॥ ३१ ॥

घनधीध्याततन्नागप्रमोदिशिखिकूजितैः ।
जगाविवार्बुदोऽमुष्य दिग्जयप्रभवं यशः ॥ ३२ ॥

कुम्भिकुम्भमदाम्भोभिर्द्विगुणीकृतनिर्झरः ।
आरुह्य पृष्ठमस्याद्रेश्चारिमानमलोकत ॥ ३३ ॥[1]

वसतौ विमलात्माऽयं विमलस्यर्षभप्रभुम् ।[2]
ननाम नोत्तमानां हि चित्ते स्वपरकल्पना ॥ ३४ ॥

तत्र श्रीवस्तुपालस्य कीर्तनं कलिकर्त्तनम् ।
दृष्ट्वाऽसौ विस्मितो नैकवेलं मौलिमकम्पयत् ॥ ३५ ॥

प्रणम्य महतीभक्तिः सर्वदामर्बुदां ततः ।
आश्रमेऽरुन्धतीजानेर्विशश्राम क्षणं नृपः ॥ ३६ ॥

मन्दाकिन्यां विधायोच्चैः स्नपनं[3] शमनं रुजाम् ।
अपूजयज्जगत्पूज्यमथासावचलेश्वरम् ॥ ३७ ॥

साक्षाद्धनञ्जयस्येह[4] धारावर्षस्य[5] धन्विनाम् ।
निरीक्ष्य नृपतिर्जज्ञे विस्मयोत्तानलोचनः ॥ ३८ ॥

प्रचलद्बलपाथोधिमैनाकीकृतवैरिणः ।
अत्राभूत्[6] खर्वदो गर्वः[7] सर्वदोऽस्यार्बुदेश्वरः ॥ ३९ ॥

ततोऽवतीर्य वर्यश्रीर्निर्धनं वर्धनं पुरम् ।
चङ्गामपि[8] गलद्रङ्गां चक्रे चक्रेरि(श)विक्रमः ॥ ४० ॥

अजयोपपदं मेरुं मध्येकृत्य स कृत्यवित् ।
पुष्करं तीर्थमासाद्य दुष्करं पुण्यमर्जयत् ॥ ४१ ॥

आनर्च भूपस्तत्रादिवराहाख्याधरं हरिम् ।
चित्रं दशावतारोऽपि न यो दाहात्मतां गतः[9] ॥ ४२ ॥

---

1 K °माणमलोकयत् । 2 K विमलस्यार्षभ° । 3 K सवन । 4 K साक्षाद् । 5 P धारावर्षस्य । 6 K तत्र । 7 K खर्वदोर्गर्वः । 8 K चङ्गां च विमलश्रीं चक्रे चक्रेरि° । 9 K श्रितः ।

प्रयाणपटहध्वानप्रतिध्वनितकन्दरान् ।
पश्यन् स्वकीर्तिगानैकतानानिव धराधरान् ॥ ४३ ॥
ततः शाकम्भरीद्वारि वारस्त्रीवारलोचनैः ।
अभूत्पिपीतलावण्यसर्वस्वो वसुधेश्वरः ॥ ४४ ॥
अदसीयरिपुस्त्रैणगलल्लोचनवारिभिः ।
तद्वादिलवणस्येह मन्ये खानिरजायत ॥ ४५ ॥
ध्वस्तराष्ट्रं महाराष्ट्रं खण्डिलं खण्डितप्रभम् ।
चम्पां च विस्फुरत्कम्पां भूपस्तदनु तेनिवान् ॥ ४६ ॥
ककरालं करालश्रि कृत्वाऽथास्यात्र तस्थुषः ।
श्रीमांस्त्रिभुवनाद्रीशोऽमिलद्दत्तमहोपदः ॥ ४७ ॥
चतसृष्वपि दिक्ष्वेवं स्वाज्ञां राज्ञां स मौलिषु ।
मौलिलीलायितां बिभ्रन् स्वपुरोपान्तमासदत् ॥ ४८ ॥
अमान् पुरान्तरे पौररागाम्भोधिर्नृपागमे ।
वेल्लद्रक्तध्वजव्याजाद् दधावुद्वेलतामिव ॥ ४९ ॥
द्वारि निर्यज्जनप्रौढद्युतिदिव्यांशुकच्छलात् ।
पुरमप्यहसत् स्फीतप्रीतीवोपेयुषि प्रभौ ॥ ५० ॥
उदञ्चितकरैर्विप्रैर्दत्ताः शृण्वन्नथाशिषः ।
बन्दिवृन्दजयारावैर्मुखरीकृतदिङ्मुखः ॥ ५१ ॥
धर्मसिंहादिभिर्मुख्यैरभ्येत्य प्रणतक्रमः ।
पुरं प्राविशदुर्वीन्दुरतुच्छोत्सवसच्छविः ॥ ५२ ॥
उत्तम्भिता प्रतिद्वारं पौरैरुत्सववाञ्छया ।
कलशा रेजिरे सद्मश्रीणामुरसिजा इव ॥ ५३ ॥
स्फूर्जत्तूर्यावलीध्वानैराहूता इव सर्वतः ।
त्यक्तान्यकार्या नार्योऽथ द्रष्टुमेनं दधाविरे ॥ ५४ ॥
क्षिप्त्वैकं कुण्डलं कर्णे करेऽन्या बिभ्रती परम् ।
रेजे पुरःस्फुरच्चक्रा सेनेवानङ्गभूपतेः ॥ ५५ ॥
एकेनैव कटाक्षेण विश्वं जेतुमहं सहा ।
इत्याख्यातीत्यशोभिष्ट परैकाऽञ्जितलोचना ॥ ५६ ॥
असमाप्ततयाऽन्यस्या वेणिः पश्चाङ्गुलीधृता ।
पद्मकोशविनिर्गच्छद्भृङ्गश्रेणिभ्रमं दधौ ॥ ५७ ॥

1 P °भुवनाद्रीन्द्रो । 2 K बिभ्रत् । 3 K दृप्ता । 4 K °नङ्गचक्रिणः । 5 P °त्याख्यान्तीवेत्य° ।

दन्तक्षतार्द्रा कस्याश्चिद् दिद्युते वीटिका करे ।
भालेनास्या जिता कृष्णा कृशा लेखेव सीतगोः ॥ ५८ ॥
उपरुध्य करेणैव वेगान्नीवीमसंयताम् ।
प्रस्थिताऽभात् परा सादी वल्गावल्गत्करो यथा ॥ ५९ ॥
प्रसाधिकाकरात् पादं रभसादाक्षिप्य काचन ।
चचालालक्तकाङ्कानुमिताङ्घ्रिस्पृष्टभूतला ॥ ६० ॥
कुम्भिकुम्भेक्षणादात्मस्तनापहृतिशङ्किनी ।
काचिदन्वेषयामास पाणिना स्वमुरो मुहुः ॥ ६१ ॥
सव्याङ्गभूषणं सव्येतराङ्गे बिभ्रती परा ।
साम्यं मिथोऽनयोरेव स्माहेव जितविश्वयोः ॥ ६२ ॥
पश्यन्त्युदञ्चितग्रीवं पादाग्राक्रान्तभूः परा ।
विजेतुं कुम्भिनः कुम्भानिवाभादुन्नमत्कुचा ॥ ६३ ॥
धम्मिल्लबन्धे कस्याश्चिदङ्गुल्यन्तर्विनिर्गता ।
कलिका चम्पकस्येव रेजे पत्रावलीवृता ॥ ६४ ॥
कराब्ज एव बिभ्राणा रेजेऽन्या कनकावलीम् ।
यूनां नेत्रकुरङ्गाणां क्षेप्तुकामेव वागुराम् ॥ ६५ ॥
सुप्रसाधितसव्याङ्गी रणद्भिर्नूपुरैः परा ।
अर्धनारीश्वरालोकरागिणां रागमादधे ॥ ६६ ॥
शिरस्यपिहितेऽन्यस्या रक्षा वेणिमुखस्थिता ।
फणाभृतः फटाटोपे फणामणिरिवाबभौ ॥ ६७ ॥
तानवं प्रापयन्मध्यं वक्षोजौ गौरवं नयत् ।
स्त्रीणामूर्ध्वस्थितं रेजे प्रभुशक्तिमिवाश्रितम् ॥ ६८ ॥
दृग्द्वयेन पिबन्त्योऽस्यासीमं लावण्यवारिधिम् ।
जिग्युश्चुलुत्रयापीतससीमाब्धिं मुनिं स्त्रियः ॥ ६९ ॥
अवाप्तावसराः काश्चित् कटाक्षैर्विव्यधुर्नृपम् ।
ता धानुष्क इवामुष्य कामः काण्डैर्व्यडम्बयत् ॥ ७० ॥
पिबन्त्यो नृपलावण्यसुधां तृप्तिं न लेभिरे ।
तथाऽपि शिरसः कम्पं सद्यः काश्चन तेनिरे ॥ ७१ ॥
इत्थं पुरवराङ्गीभिर्मनोहृत्य दृगञ्चलैः ।
निपीयमानलावण्यः स स्वं प्रासादमासदत् ॥ ७२ ॥

---

1 P संयता । 2 P वल्गुवल्गत्करो । 3 K °ह्रिस्पृष्ट° । 4 K °सव्याङ्गि° । 5 K नयत् । 6 P चलुत्रया° ।

अहितापकरस्फारविक्रमाक्रान्तभूतलः ।
अच्युतस्थितिरप्यासीन्न स क्वापि जनार्दनः ॥ ७३ ॥
व्याख्या धर्मार्थकामाख्याः पुरुषार्थास्त्रयोऽप्यमी ।
यथायोगमवाप्तात्माऽवसरास्तं सिषेविरे ॥ ७४ ॥
अहिंसाटोपमाबिभ्रद्विलसत्सर्वमङ्गलः ।
महेश्वरोऽपि तद्राज्ये न विषादी जनोऽद्भुतम् ॥ ७५ ॥
कोटियज्ञफलं राज्ञा पृष्टोऽन्येद्युः पुरोहितः ।
*विश्वरूपा*ख्यया ख्यातो व्याचख्याविति तं पटुः[1] ॥ ७६ ॥
जित्वा भुजबलेनोर्वीं कोटियज्ञं यथोदितम् ।
निर्मिमाणो नृपः प्रीतिपात्रं स्यात् त्रिदिवश्रियाम् ॥ ७७ ॥
इति स्मृतिसुधाम्भोधिच्छटाच्छोटपटुच्छविम् ।
निशम्य तद्गिरं भूपस्तं क्रतुं कर्तुमैहत ॥ ७८ ॥
आहूताः पुरुहूतेन[2] ततो भूमेः प्रमोदिना ।
मिमिलुर्वाडवास्तत्र दुष्कर्मोदधिवाडवाः ॥ ७९ ॥
अन्तःस्फुरच्चतुर्वेदसुधाम्भोधेरिवोर्मयः ।
रेजिरेऽङ्गेषु विप्राणां गोपीचन्दनभङ्गयः ॥ ८० ॥
नित्यस्नानवशात् पिङ्गीभूतकुन्तलकैतवात् ।
बिभ्राणैः परमं तेजः शिरस्यन्तरमादिव ॥ ८१ ॥
द्विभ्रमक्षिप्तरुद्राक्षाक्षमालाव्यपदेशतः ।
भृङ्गैरिवाम्बुजभ्रान्त्या लीनैर्भूषितपाणिभिः ॥ ८२ ॥
अंहोराशिपरित्रासि*काशी*वासप्रकाशिभिः ।
आययानं परानन्दवर्षिभिश्च महर्षिभिः ॥ ८३ ॥
— त्रिभिर्विशेषकम् ॥
मारेर्निवारणं सप्तव्यसनानां च वर्जनम् ।
मोक्षणं गुप्तिगुप्तानां प्रावर्त्तत तदा पुरे ॥ ८४ ॥
तोरणभ्रूलतोत्तुङ्गकल्याणकलशस्तनी ।
शुशुभे वेदिका तत्र यज्ञश्रीरिव देहिनी ॥ ८५ ॥
धूमस्तोममिषाद् भूपकिल्बिषं विक्षिपन्निव ।
ज्वालाजिह्वोऽत्र जज्वाल ज्वालाजटिलिताम्बरः ॥ ८६ ॥
द्विजादेशान्नृपो यज्ञदीक्षा[3]मीक्षाकटाक्षितः ।
सुकृतोप[4]निषद्वेदी वेदीपार्श्वमशिश्रियत् ॥ ८७ ॥

---

1 K पट्टु । 2 K पुरहूतेन । 3 K भिक्षा° । 4 P सकृतोप° ।

मन्त्राहूतत्रयस्त्रिंशद्दनुजद्वेष्टिकोटयः ।
जुहुति स्म बृहद्भानौ वाडवा द्रव्यमण्डलम् ॥ ८८ ॥
वेदमन्त्रानुभावास्ता रुचिना शुचिनाऽमुना ।
पपिरे[1] सर्पिषां विप्रार्पिताः स्फीताः परम्पराः ॥ ८९ ॥
तदर्धास्यसुधात्यागाद्[2] दाहभीचकिता इव ।
आपतन्त्यपि हव्यानि तदा जगृहिरे सुराः ॥ ९० ॥
गायत्सु मधुरं वैदीऋचो विप्रेषु हर्षतः ।
चलत्कीलावलिव्याजान्ननर्तेव हुताशनः ॥ ९१ ॥
नृपपुण्यप्रभावेण निःप्रत्यूहं द्विजेश्वराः ।
ययुः क्रतुक्रियापारं भवपारं तपस्विवत् ॥ ९२ ॥
हाटकानां ततः कोटिं क्षोणीं चाक्षीणसम्पदम् ।
भूदेवेभ्यो नृदेवोऽदाद् दक्षिणां चारु[3]लक्षणाम् ॥ ९३ ॥
नृपविश्राणितस्वर्णकूटेषु नटतो द्विजान् ।
निरीक्ष्य निर्जरा मेरुक्रोडक्रीडामदं जहुः ॥ ९४ ॥
इहैष स्वर्णदानेन तथाऽतूतुषदर्थिनः ।
तान् विहायोच्चकैर्दातॄनुपास्थित[4] यथाऽर्थिता ॥ ९५ ॥
रत्नराशिप्रदं[5] केचित् केचित् पुष्कलनिष्कदम् ।
गजदं वाजिदं केचित् *श्रीहम्मीरं* तदाऽस्तुवन् ॥ ९६ ॥
विश्राणनं सृजन् चिन्ताकल्पनाकामना[6]ऽतिगम् ।
स चिन्तामणिकल्पद्रुकामकुम्भेष्वधाद् घृणाम् ॥ ९७ ॥
सितोपलामिलन्मुग्धदुग्धा[7]दिरसपेशलम् ।
राज्ञा तदा मुदा तेने प्राज्यं भोज्यं द्विजन्मनाम् ॥ ९८ ॥
ततः पुरोहितेनाऽभियुक्तो युक्तं पुरोहितम् ।
आददे नृपतिः प्रीतो मासमेकं मुनिव्रतम् ॥ ९९ ॥

इतश्च शत्रुहृच्छल्यां *दिल्ल्यां*[8] शकमतल्लिका ।
बभूवा*ल्लावदीना*ख्यो व्याख्यः शौर्यवतां धुरि ॥ १०० ॥
ज्ञातभूपस्वरूपेण तदा तेन स्वसोदरः ।
*उल्लूखाना*ख्यया ख्यातो जगदे जगदेकजित् ॥ १०१ ॥
*रणस्तम्भपुरा*धीशो *जैत्रसिंहो*ऽभवत् पुरा ।
प्रददौ स सदा दण्डं मम चण्डौजसो भयात् ॥ १०२ ॥

---

1 P पिपिरे । 2 P तदर्थास्यसुधात्याग° । 3 K चारुलक्षणः । 4 K °नुपास्था-दर्थिता यथा । 5 K राजवाहिप्रद° । 6 K °नाधिकम् । 7 P °मुग्धा । 8 P दिल्ल्यां ।

हम्मीरनामा तत्सूनुरखुनाऽखर्वगर्ववान् ।
दण्डं दूरत एवास्तु न वाक्यमपि यच्छति ॥ १०३ ॥
स महौजस्तया शक्यो जेतुं नाभूदियच्चिरम् ।
प्रतेस्थिधीतयेदानीं लीलयैव विजीयते ॥ १०४ ॥
तद् गत्वाऽस्य रणस्तम्भतलं देशं विनाशय ।
ध्वंस्ते देशे स संस्थातुं सासहिः कति वासरान् ॥ १०५ ॥
इत्यवाप्य प्रभोराज्ञामुलूखानोऽत्यमर्षणः ।
प्रतस्थेऽष्टायुतीमानाश्ववारस्फारविक्रमः ॥ १०६ ॥
रङ्गत्तुरङ्गतुङ्गोर्मिर्गर्जद्द्विरदवारिदः ।
शाणोल्लेखितशस्त्रौर्वो रेजेऽस्य बलवारिधिः ॥ १०७ ॥
भुग्नयन् बलभारेण फटाटोपं स वासुकेः ।
प्रवेष्टुमक्षमोऽभ्यन्तर्वर्णनाशातटे स्थितः ॥ १०८ ॥
ज्वालयन्नुद्वसान् ग्रामानाद्र्वलांश्च चारयन् ।
आसन्नाष्टादशान् घस्रान् सुखेनैषोऽत्यवाहयत् ॥ १०९ ॥
त्रिशुद्धयात्तव्रतत्वेन जोषं तस्थुषि भूपतौ ।
भीमसिंहोऽथ सेनानीर्धर्मसिंहधियोद्धुरः ॥ ११० ॥
उत्कालसमरोत्तालवीरवाराकुलं बलम् ।
सहादाय महावीर्यश्चचालारिबलं प्रति ॥ १११ ॥ – युग्मम् ॥
वाहमानबले वाद्यमाननिस्वाननिस्वनान् ।
निशम्य व्याकुलीभावं शिबिरे दधिरे शकाः ॥ ११२ ॥
वारणेष्वक्षिपन् केऽपि प्रखरान् प्रखरा रणे ।
वाहानभ्युद्यतोत्साहा मङ्क्षु पर्याणयन् परे ॥ ११३ ॥
अबध्नन् केऽपि तूणीरानगृह्णन् केऽपि मुद्गरान् ।
अकर्षन् केऽपि निस्त्रिंशानदधन् केऽपि खेटकान् ॥ ११४ ॥
चण्डदण्डप्रपातेन केचिद् वाद्यान्यवीवदन् ।
योद्धृन् ज्ञापयितुं योद्धुं संनद्धीभवितुं रयात् ॥ ११५ ॥
धीरत्वं प्रापयन् सैन्यानथोलूखाननायकः ।
निर्ययौ स्वयमारुह्य सिन्धुरं सिन्धुरौजसाम् ॥ ११६ ॥

---

1 K गर्वतः । 2 P प्रतेस्तिथीतयेदानीं । 3 P हते । 4 K °क्षमो ह्यन्त° । 5 K ज्वालयन्नुद्वसान् । 6 K वारुणे । 7 P पर्याण्यन् । 8 P °नदहन् केऽपि । 9 K वाद्यान्यवो° । 10 P सन्निधी ।

वंशाग्रलम्बितश्यामसितचामरकैतवात् ।
लक्ष्यगङ्गायमीलक्षमन्तरिक्षमजायत ॥ ११७ ॥
शकानां बाहुजानां च मिथोऽप्यथ निरीक्षणात् ।
अजागरीन्महावैरं दैत्यानां द्युसदामिव ॥ ११८ ॥
पदगः पदगं सादी सादिनं रथिनं रथी ।
निषादिनं निषादी चेत्यवृण्वन् सैनिका मिथः ॥ ११९ ॥
मा भूद् युद्धरसच्छेदोऽस्माकं तापनतापनात् ।
इतीव प्राग् भटास्तेनुर्गगने काण्डमण्डपम् ॥ १२० ॥
अङ्के लगन्तः प्रत्यर्थिपत्रिणो वीरकुञ्जरान् ।
सुखयामासुरेणाक्षीकटाक्षा इव कामिनः ॥ १२१ ॥
वीराः सर्वाङ्गसंलग्नै रिपुक्षिप्तैः शिलीमुखैः ।
रेजुर्जयरमाश्लेषसुखाद् रोमाञ्चिता इव ॥ १२२ ॥
नीरन्ध्रप्रसृतैर्बाणैः कल्पिते मेघमण्डले ।
युक्तमेवोदडीयन्त हंसा हृत्सरसोऽङ्गिनाम् ॥ १२३ ॥
वैरिवक्त्रसरोजेषु भ्रामयित्वा शिलीमुखान् ।
अपाययन् मनोहत्य तज्जीवितरसान् परे ॥ १२४ ॥
हर्षात् प्रनृत्यतां वीरकोटीराणां रणाङ्गणे ।
खाट्कारः खड्गदण्डानां कस्यासन् न मनोमुदे ॥ १२५ ॥
क्षणयायावरैः प्राणैश्चिरस्थास्नुयशोऽर्जनात् ।
भेजिरे भटकोटीरा दिव्यां व्यवहृतिक्रियाम् ॥ १२६ ॥
उत्प्लुत्योत्प्लुत्य धावन्तः सादिशीर्षच्छिदेच्छया ।
जीवन्तोऽपि यियासन्त इव स्वर्गं बभुर्भटाः ॥ १२७ ॥
विसृजारुणिता रेजुर्वीराणां तरवारयः ।
लोला इव पलादानां रणे कीलालपायिनाम् ॥ १२८ ॥
लग्नमात्रा अपि भटान् प्रापयन्त्यो यमोदरम् ।
यमदंष्ट्रा निजं नाम निन्यिरे चरितार्थताम् ॥ १२९ ॥
खड्गलूनपतन्मुण्डदन्तुरेऽपि रणाङ्गणे ।
धावन्तो नास्खलन् वीराः स्वशौर्यालम्बिता इव ॥ १३० ॥
त्वत्कुचोन्नतिहृत्कुम्भाः कुम्भिनोऽद्य हता रणे ।
इत्येके स्त्रीप्रतीत्यर्थं दन्तिदन्तानलासिषुः ॥ १३१ ॥

1 K कैतवान् । 2 P लग्नगङ्गा । 3 K रणरस° । 4 K यास्थरैः । 5 K प्रापयन्तो ।
6 P यमदंष्ट्रः ।

समप्रदेशमापन्नान् यवना वीक्ष्य बाहुजान् ।
अधावन्त पुरस्कृत्य वारणान् वीरवारणान् ॥ १३२ ॥
*चाहमानै*रुरःपूरं पूरिता मर्मभिच्छरैः ।
तस्थुरूर्ध्वक्रमा एव द्विट्गजाः स्तम्भिता इव ॥ १३३ ॥
तदा भटप्रकाण्डानां युद्धं किमिव वर्ण्यते ।
यद्युध्यन्त शस्त्राण्यप्यन्योऽन्यास्फालनच्छलात्[1] ॥ १३४ ॥
बलोच्छलितधूलीभिर्महाध्वान्ते प्रसर्पति ।
स्वान्योपलक्षणं जज्ञे केवलं स्वस्वभाषया ॥ १३५ ॥
एवं स्फुरति कीनाशकोटिहृत्तर्पणे रणे ।
धानापेषं स्म पिषन्ति *चाहमाना* द्विषद्दलम् ॥ १३६ ॥
शत्रुभीत्या कबन्धान्तर्निर्विष्टजनरक्षणात् ।
मृता अपि भटाश्चित्रं न शरण्यव्रतं जहुः ॥ १३७ ॥
हृढोपात्तातपच्छत्त्रैः[2] पर्यस्तैर्भटपाणिभिः ।
युयुत्सुरिव भाति स्म तदा समरभूरपि ॥ १३८ ॥
दन्तिदन्ते पदं दत्त्वा प्रहरन्तो निषादिनः ।
चेतांसि पातयामासुः[3] सादिनां रथिनामपि ॥ १३९ ॥
निषादिनो न ते ते न सादिनो न च ते भटाः ।
उरःपूरमपूर्यन्त *चाहमान*शरैर्न ये ॥ १४० ॥
हयान् केचिद् गजान् केचिच्छस्त्राण्येके रथान् परे ।
हायं हायं स्म[4] नश्यन्ति काकनाशं शकायुधाः ॥ १४१ ॥
केचित् तृणं दधुर्दन्तैर्निपेतुः केऽपि पादयोः ।
त्वद्गौरित्यवदन्[5] केऽपि जीवं त्रातुं शकब्रुवाः ॥ १४२ ॥
इत्थं भङ्क्त्वा शकानीकं[6] *भीमसिंहो* न्यवर्त्तत ।
अनुप्रतस्थे प्रच्छन्नम*ुलूखानो*ऽप्यमर्षणः ॥ १४३ ॥
बाहुजा लुण्टितानेक[7]स्वर्णकोटीरकङ्कटाः ।
जितकाशितया *भीमं* पश्चात् त्यक्त्वाऽगमन् पुरः ॥ १४४ ॥
अद्रिघट्टान् विशन् *भीमसिंहो*ऽपि परया मुदा ।
आच्छिद्य स्वीकृतान्युच्चैः शकवाद्यान्यवीवदत् ॥ १४५ ॥

1 K °स्फलन° । 2 P हढात्ततापत्त° । 3 K पातयामासुश्चाहमानास्तुरङ्गिणां । 4 K पलायन्त काकनाशं शकायुधाः । 5 K °रिति जगुः केचिज्जीवं । 6 P शत्तानीकं । 7 P लुण्ठिता° ।

यत्र यत्र स्वकातोद्यनिर्घोषः प्रसरत्यरम् ।
तत्र तत्र जयं मत्वा गन्तव्यं निखिलैरपि ॥ १४६ ॥
इति सङ्केतनाद् भ्रान्ता मन्वाना जयमात्मनः ।
तदा भाव्यर्थभावेन मिमिलुर्यवना जवात् ॥ १४७ ॥
मिलितं स्वबलं वीक्ष्य शको योद्धुमढौकत ।
ववले भीमसिंहोऽपि तादृशाः किमु कातराः ॥ १४८ ॥
तत्र कृत्वा महायुद्धं शकान् हत्वा परःशतान् ।
काण्डखण्डितसर्वाङ्गो भीमसेनो व्यपद्यत ॥ १४९ ॥
जितकाशी शकेन्द्रोऽपि शिबिरं प्राप्य सत्वरम् ।
बाहुजेभ्यः पुनर्बिभ्यद् ववले स्वपुरं प्रति ॥ १५० ॥
अथ पूर्णव्रतो धर्मसिंहमत्याऽद्रिघट्टकान् ।
हित्वाऽऽगतं नृपो भीमसिंहं मत्वा तमाह्वयत् ॥ १५१ ॥
स्फुटिते तद्दृशौ नूनं यन्नादर्शि शको बली ।
स्वयं पश्चाद् यदस्थासीस्तन्न पुंस्त्वमपि त्वयि ॥ १५२ ॥
साक्रोशमित्युपालभ्याभिसभ्यं भूपतिर्मुहुः ।
मुष्कयुग्मच्छिदा पूर्वं तद्दृशौ निरचीकसत् ॥ १५३ ॥
पण्डोर्विदुरवत् तस्य राज्ञोऽभूदनुजो जयी ।
भोजदेवाभिधः खड्गग्राहीत्यपरनामभाक् ॥ १५४ ॥
धर्मसिंहपदं तस्मै तुष्टोऽथ प्रददे नृपः ।
तं च निर्वासयन् देशादमुनैव न्यषिध्यत ॥ १५५ ॥
अथापमानात् सोऽभ्येत्य गुप्तवैरः स्वमन्दिरम् ।
अधीती भरते धारादेवीं नृत्यमशिक्षयत् ॥ १५६ ॥
तां च प्रेष्यानिशं नृत्यच्छलात् पार्थिवपर्षदि ।
वेश्मस्थोऽपि विदामास स सर्वां नृपतिस्थितिम् ॥ १५७ ॥
चिन्ताचिताङ्गी साऽन्येद्युरागता नृपपर्षदि ।
पृष्टाऽन्धेन जगौ चिन्ताकारणं हृद्विदारणम् ॥ १५८ ॥
ताताद्य वेधरोगेण मृताश्वश्रवणाद् विभोः ।
प्रीत्यै न गीतनृत्यादि चिन्ता तेनेयमुल्बणा ॥ १५९ ॥

1 K ज्ञात्वा । 2 K खानो । 3 K न्यषेध्यत । 4 P धारां देवीं । 5 K नृत्त° । 6 K नृपतेः कथाम् । 7 K प्रभो ! ।

श्रुत्वेत्यसाविमामाह चिन्ता मा स्म कृथा वृथा ।
[1]सं प्राप्तावसरा किन्तु पार्थिवं प्रार्थयेरिति ॥ १६० ॥
आसाद्यते विभो ! धर्मसिंहश्चेत् स्वपदं पुनः ।
मृतेभ्यो द्विगुणानश्वांस्तदसावानयेत् पु[2]नः ॥ १६१ ॥
ओमिति प्रतिपद्यैषा गता राज्ञे तदूचिषी ।
लोभात् सोऽप्यन्धमाहूयाध्यकार्षीत् स्वपदे पुनः ॥ १६२ ॥
विवेकदीपो दीप्येत तावद्धृदि सतामपि ।
तृष्णाझञ्झामरुद् यावन्न भजेदुन्मदिष्णुताम् ॥ १६३ ॥
तृष्णावल्लिरियं काऽपि नवैव प्रतिभासते ।
सद्विवेककुठारोऽगान्न वरं यत्र कुण्ठताम् ॥ १६४ ॥
बिन्दवोऽपि [3]स्फुरल्लोभमदेनान्धम्भविष्णवः ।
सपत्नान् सोदरीयन्ति सपत्नीयन्ति सोदरान् ॥ १६५ ॥
प्रचिकीर्षन्नथामर्षादन्धो [4]वैरप्रतिक्रियाम् ।
चक्रे तद्राज्यमुच्छेत्तुं स उपायान् दुराय[5]तीन् ॥ १६६ ॥
लोभदृष्टिं नृपं कृत्वा द्रविणादानवर्त्मना ।
स प्रजाः पीडयामास चण्डदण्डप्रपातनैः ॥ १६७ ॥
गृह्णन्नश्वधनेभ्योऽश्वान् धनवद्भ्यो धनानि च ।
क्रूरकर्मा स लोकानां क्षयकाल [6]इवाभवत् ॥ १६८ ॥
द्रव्यैः [7]संपूरयन् कोशं राज्ञोऽभूद् भृशवल्लभः ।
वेश्यानां च नृपाणां च [8]द्रव्यदो हि सदा प्रियः ॥ १६९ ॥
प्रजादण्डेन यत् तेन प्रतेने कोशवर्द्धनम् ।
तत् किं स्वस्यैव मांसेन न स्वदेहोपबृंहणम् ॥ १७० ॥
अथ स्वपदभोक्तृत्वाद् वृद्धवैरश्चिरं हृदि ।
स [9]भुक्तान्दव्ययादायशुद्धिं भोजमयाचत ॥ १७१ ॥
[10]क्रुद्धोऽन्धस्फूर्तिमालोक्य भोजदेवोऽथ सत्वरम् ।
गत्वा व्यजिज्ञपद् भूपं मौलिमौलीयिताञ्जलिः ॥ १७२ ॥
देवस्य यदि मे प्राणैः कार्यं गृह्णातु तर्हि तान् ।
न [11]सेहे परमन्धस्य वाक्यतोऽकदर्थनाम् ॥ १७३ ॥
निजगाद नृपो यस्य मयि भक्तिरनश्वरी ।
[12]न लुप्यतेऽत्र केनापि धर्मसिंहस्य शासनम् ॥ १७४ ॥

---

1 P °वसरं । 2 K ध्रुवम् । 3 K स्फुरल्लोभ° । 4 K वैरि° । 5 P °तयान् । 6 K इवाऽभवत् । 7 P संपूरयन् । 8 K प्रायो द्रव्यप्रदः प्रियः । 9 K भुक्त्वा । 10 K क्रुद्धोऽन्धः । 11 K न सेहे । 12 K न लङ्घ्यते त्र कुत्रापि ।

स्वामीव स्वामिनां मान्यः सेवनीयोऽनुजीविभिः ।
सुस्थिरस्थाणुसत्कारादनड्वान् किं न पूज्यते ॥ १७५ ॥
भाषणेनामुना रौद्रदृग्वक्त्रालोकनेन च ।
नृपं दुष्टाशयं ज्ञात्वा *भोजदेवः* स शुद्धधीः ॥ १७६ ॥
निरीहचित्तवत् तस्य सर्वस्वमपि दत्तवान् ।
मूलाद् विनष्टे कार्ये हि किं कुर्याद् बलवानपि ॥१७७॥ युग्मम्।
तथाप्येषोऽभिजातत्वादजहत् स्वामिभक्तताम् ।
योगीव परमं ब्रह्म *भोजो* भूपमसेवत ॥ १७८ ॥
अन्येद्युर्नृपतिर्वै*जनाथ*यात्रामुपागतः ।
दृष्ट्वा पृष्ठस्थितं *भोज*मन्योक्त्येदमभाषत ॥ १७९ ॥
सन्त्येवात्र पदे पदेऽपि बहवः क्षुद्रा निकामं खगा
नो कुत्रापि समोऽस्ति गर्ह्य इतरः काकात् वराकात् परम् ।
क्रोधाविष्टपटिष्ठघूकनिकरास्याग्रोत्थकोटिक्षतै-[1]
स्त्रुट्यत्पक्षचयोऽपि यस्तरुतटं नापत्रपः प्रोज्झति ॥ १८० ॥
अनयाऽन्योक्तिकौमुद्या *भोजो*ऽम्भोजमिवास्तरुक् ।
वेश्मागत्य रहः *पीथसिंहं* सोदरमब्रवीत् ॥ १८१ ॥
देवोऽद्य कल्य उत्पश्य वचनैर्दुर्मनायितः ।
सेवाहेवाकिनोऽप्यस्मान्न तृणान्यपि मन्यते ॥ १८२ ॥[2]
अवाप्तामेयसाम्राज्यमदमोहितमानसाः ।
यदि वा पार्थिवा नैव क्वचिदेकान्तवत्सलाः ॥ १८३ ॥
यात्राव्याजेन तद् यामो दिनानि कतिचिद् बहिः ।
कालक्षेपोऽशुभे श्रेयान्[3] नीतिविद्भिर्जगे यतः ॥ १८४ ॥
संमन्त्र्य सोदरेणैवं भूपं गत्वा[4] व्यजिज्ञपत् ।
काश्यां व्रजामि यात्रायै यद्यादिशति भूपतिः ॥ १८५ ॥
जगाद[5] भूपतिर्यासि परतः परतो न किम् ।
विना भवन्तमप्येवं[6] पुरं संशोभते पुरा ॥ १८६ ॥
इत्याक्रुष्टोऽपि कौलीन्यात् क्षमामेव क्षमापतौ ।
बिभ्राणः प्रचचालैषोऽनु *काशीं* सपरिच्छदः ॥ १८७ ॥

---

1 K °निकरस्त्रोत्थाग्र° । 2 K मन्यते न तृणेभ्योऽपि सेवाहेवाकिनोऽपि नः । 3 K श्रेयानिति नीतिविदो विदुः । 4 K गत्वा भूपं । 5 K भूपतिः प्रजगौ याथ । 6 K भवद्भिरप्येतत् ।

तस्मिन् गते क्षितिपतिः प्रसरत्प्रमोद-
हृद्य दण्डनाथकपदे *रतिपालवीरम्* ।
युक्त्याऽभिषिच्य जगदेकहितत्रिवर्ग-
संसर्गतोऽतिसरसान् दिवसाननैषीत् ॥ १८८ ॥

इति *श्रीजयसिंह*सूरिशिष्यमहाकवि*श्रीनयचन्द्र*सूरिविरचिते श्रीहम्मीरमहाकाव्ये वीराङ्के *हम्मीरदेव*दिग्विजयवर्णनो नाम नवमः सर्गः समाप्तः ॥

अथ दशमः सर्गः ।

धरणीरमणापमाननादथ *भोजः* स *शिरोहमागतः* ।
परिभाव्य मुहुः स्वदुर्दशामभिमानेन हृदीत्यचिन्तयत् ॥ १ ॥
विततान विनाऽपि कारणं नरनाथो मम यां तिरस्क्रियाम् ।
विदधे यदि तत्प्रतिक्रियां न तदा केव मनस्विनां गतिः ॥ २ ॥
गुणवानपि वक्रतां गतः पुरुषश्चाप इवातिभीषणः ।
स शरैरिव दुर्जनैर्यतो गुणमुक्तैस्तनुतेऽतिपीडनम् ॥ ३ ॥
अपमानपरेऽपि यो नरे शममेव प्रयतोऽवलम्बते ।
अपि शूकशिखा ततो वरं व्यथयत्यङ्घ्रिमसौ[2] तदाऽहता ॥ ४ ॥
अपकारपरान् सहोदरान् अपि हन्यात् किल नास्ति पातकम् ।
अभिमानवतां नयोन्मुखैः स्थितिरेषा जगदे सनातनी ॥ ५ ॥
सुहृदां यदि वा विरोधिनां क्रिययैव क्रियते परीक्षणम् ।
सुहृदप्यपकारकृद् द्विषन्नुपकारी तु सुहृद् द्विषन्नपि ॥ ६ ॥
सहतेऽरिकृतं पराभवं ननु यः क्लीबमना मनागपि ।
जनिरेव जनिष्ट तस्य मा जननीयौवनगर्वगर्हिणी ॥ ७ ॥
परिपृच्छ्य ततः सहोदरं *पिथमं* सन्मतिवासमन्दिरम् ।
अगमलघु *योगिनीपुरं* यवनानां समगच्छदीश्वरम् ॥ ८ ॥
तादृक्कुलीनोऽपि स *भोजदेवो*ऽधुना ही कृतवान् यदेवम् ।
तन्म्लेच्छभूजृम्भितमेव तस्मात् सतां न तद्भूरपि वासयोग्या ॥ ९ ॥
तत्समागमनहर्षवशात्मा*ऽल्लावदीन*नृपतिः स ततोऽस्मै ।
वस्त्रनिर्वपणपूर्वमयच्छन्मुद्रलेशनगरीं *जगरां* ताम् ॥ १० ॥
तत्र चित्ररुचिभाजि[3] स *भोजः* सोदरं स्वमदरं परिमुच्य ।
आक् स्वयं पुनरुपेत्य च *दिल्लीं*[4] सेवते स्म शकनायकमेव ॥ ११ ॥

1 K धरिणी° । 2 K °त्यंह्रिमसौ । 3 K °चित्रभाज्यथ । 4 P डिल्यां ।

प्रौढमानमनुघस्रममानैः कान्तकाञ्चनहयादिकदानैः ।
तं तथाऽपुषदसावपि भूपो जायते स्म यथा निज एव ॥ १२ ॥
तं विपक्षमपि यत् सदकार्षीत् प्राक् शकस्तदुचितोचितमेव ।
अन्यथा कथमिवारिजयेऽसौ जागदीति निरपायमुपायम् ॥ १३ ॥
आत्मनीनमधिगत्य तमुच्चैरन्यदेति यवनेन्दुरपृच्छत् ।
ब्रूहि *भोज* कथमेष *हमीरो* जीयते युधि मया द्रुतमेव ॥ १४ ॥
सत्यमेव यदि पृच्छसि कार्यस्तर्हि नो मम गिरीश्वर! कोपः ।
इत्युदीर्य गिरमाहितभारामाततान गतभीरथ *भोजः* ॥ १५ ॥
शैथिल्यं *कुन्तलेषु* प्रसभमुपनयन् पीडयन् *मध्यदेशं*
स्थानभ्रष्टां च *काञ्चीं* विदधदुपचयन् काममङ्गेषु लीलाम् ।
यो भूमेश्चञ्चलाक्ष्याः पतिरिव तनुते भाग्यसौभाग्यलक्ष्मीं
स *श्रीहम्मीरवीरः* समरभुवि कथं जीयते लीलयैव ॥ १६ ॥
दीपः पर्यायशेषः स्फुरदरुणमणी दीप्तिराकारशेषः
सूरोऽप्याख्यानशेषः प्रलयशिखिशिखाश्रेणिराभासशेषः ।
यस्य प्रौढप्रतापे प्रसरति नितमां क्षोणिपीठे क्षितीन्दोः
स *श्रीहम्मीरवीरः* समरभुवि कथं जीयते लीलयैव ॥ १७ ॥
यस्मिन् शश्वन्निवासा ऋतव इव गुणा हायने षट् क्षितीन्दौ
श्रित्वा तिस्रोऽपि तस्थुः पुरुषमिव गुणा यं परं शक्तयोऽपि ।
अङ्गैः स्फीता यथोक्तैः प्रथयति पटुतां यस्य विद्येव सेना
स *श्रीहम्मीरवीरः* समरभुवि कथं जीयते लीलयैव ॥ १८ ॥
यं व्यालोक्यापि खड्गग्रहणपटुकरं बिभ्यतां पार्थिवानाम्
निःश्वासो नासिदण्डो न च कुलममलं नापि शौर्यं न धैर्यम् ।
[5]किन्त्वेकं तूर्णमेवापसरणमयते ध्यानमार्गेऽध्वगत्वं
स *श्रीहम्मीरवीरः* समरभुवि कथं जीयते लीलयैव ॥ १९ ॥
अश्रान्तस्राविदानोच्छलितपरिमलाकृष्टगुञ्जद्द्विरेफ-
श्रेणीद्विट्कुम्भिकुम्भस्थलदलनकलाकेलिकण्डूलहस्तः ।
सोदर्यो यस्य वीरव्रजमुकुटमणिर्वीरमो विश्वजेता
स *श्रीहम्मीरवीरः* समरभुवि कथं जीयते लीलयैव ॥ २० ॥

---

1 K शीघ्रमेव । 2 P °मणेर्दीप्ति° । 3 K शीघ्रमेव । 4 K वैरभाजाम् नेश्वासो ।
5 P किंचेकं ।

त्वङ्खातुर्लुण्टितार्थोर्थननिबिडमतेर्मानमुन्मूलयन्तो
 निःशङ्कं मेनिरे त्वां[2] स्फुटसुभटतया ये तृणायापि नैव ।
औदीच्यास्तेऽपि सेवां विदधति *महिमासाहि*मुख्या यदीयां
 स *श्रीहम्मीरवीरः* समरभुवि कथं जीयते लीलयैव ॥ २१ ॥

देशो यस्यानुघस्रं कृतसुकृतजनाचारचारुप्रदेशो
 दुर्गं दुर्ग्राह्यमेवाऽहितधरणिभुजां श्रेणिभिश्चेतसाऽपि ।
अन्योऽन्यस्पर्धिवीर्यार्जितशुचियशसोऽप्याहवे[4] वीरवाराः
 स *श्रीहम्मीरवीरः* समरभुवि कथं जीयते लीलयैव ॥ २२ ॥

अङ्गो नाङ्गानि धत्ते कलयति न पुनर्युद्धलिङ्गं *कलिङ्गः*
 काश्मीरः[5] स्मेरमास्यं न वहति तनुते शौर्यसङ्गं न *वङ्गः* ।
गर्जि नो *गूर्जरेन्द्रः*[6] प्रथयति पृथुधीर्यस्य कौक्षेयकाग्रे
 स *श्रीहम्मीरवीरः* समरभुवि कथं जीयते लीलयैव[7] ॥ २३ ॥

यस्याग्रे नैव किञ्चिद् रपति[8] नरपतिर्भीतिशुष्कोष्ठकण्ठो
 यं नाथत्यश्वनाथः प्रथितकृपणधीर्जीवरक्षामभीक्ष्णम् ।
आत्मक्षेमाय मन्त्रं जपति गजपतिर्यत्कटाक्षेण दृष्टः
 स *श्रीहम्मीरवीरः* समरभुवि कथं जीयते[9] लीलयैव ॥ २४ ॥

शूरः कश्चन कश्चनापि मतिमान् दाक्षिण्यवान् कश्चन
 प्राज्ञः कश्चन कश्चनापि सुकृती दाता पुनः कश्चन ।
इत्येकैकगुणप्ररूढमहिमा जागर्ति भूयान् जनः
 सर्वैः श्रेष्ठगुणैरधिष्ठिततनु*र्हम्मीरवीरः* परम् ॥ २५ ॥

एतस्याधिपतेस्तथोन्नतकराम्भोजप्रसादोदयात्
 दोष्मन्तः श्रियमाप्नुवन्ति तदिदं मंस्थाः स्म माऽत्यद्भुतम् ।
किं चिन्तामणयः स्फुरन्ति न नखाः किं कामधेनोः स्तना
 नाङ्गुल्यस्तलमस्य वा किसलयाः कल्पद्रुमाणां न किम् ॥ २६ ॥

सङ्ग्रामेऽस्य[10] तुरङ्गनिष्ठुरखुरोत्खातै रजोभिः क्षणात्
 पङ्कत्वं गमिते मिलद्रिपुशिरश्छेदोच्छलच्छोणितैः ।
व्योम्नो मध्यपथे रथस्खलनतामाशङ्कमानोऽर्यमा-
 ऽवाचीं[11] कर्ह्यपि चञ्चरीति भगवान् कर्ह्यप्युदीचीमपि ॥ २७ ॥

---

1 K °लुंण्ठिता° । 2 K त्वा । 3 K यशश्चाऽहवे । 4 K शीघ्रमेत्र । 5 K कश्मीरः । 6 P गुंबरेन्द्रः । 7 K सूर्णमेव । 8 "°पति नर°" इति पाठः P प्रतौ पतितः । 9 K जीयतां । 10 K यस्य क्षोणिपतेस्तुरङ्गमखुरो (आजौ यस्य तुरङ्गनिष्ठुरखुरा) । 11 K °ऽपाचीं कर्ह्यपि चञ्चुरीति ।

दीपस्येव समीरणः सरसिजश्रेणेरिवाम्भोधरः
सूर्यस्येव[1] दिनात्ययो यतिवरस्येवैणदृक्संगमः ।
देहस्येव गदोदयो गुणगणस्येवातिलोभाश्रय-
स्तद्राज्यस्य विनाशहेतुरधुनैकोऽन्धः परं दीव्यति ॥ २८ ॥
तदमुं[2] जिगीषसि यदीश ! सर्वथा त्वरया तदा प्रवितर प्रयाणकम् ।
यदमुष्य नीवृदधुना नवोल्लसत्सुमनःप्ररोहहरितीकृतावनिः ॥ २९ ॥
ननु तेषु मङ्क्षपि कथावशेषतां गमितेषु भूप ! भवदीयसैनिकैः ।
जहति प्रजा अमुमिता निराशतां गतनेत्रचण्डतरदण्डनात् पुरा ॥३०॥
आचम्यैत्थं तस्य वाचं शकानामीशोऽप्युल्लूखानमाहूय सद्यः ।
दत्त्वा लक्षं सादिनः सादितारीन् देशं येनाचीचलच्चाहमानम् ॥ ३१ ॥
उल्लूखानः पूरवत् सोऽथ वार्धवृत्तिं शत्रून् प्रापयन् वैतसीं स्राक् ।
क्षत्रोत्तंसान्[3] मन्यमानस्तृणांशान् हिन्दूवाटं प्राप तीव्रप्रतापः ॥ ३२ ॥
चरैरथोक्तारिसमागमोऽसौ हम्मीरदेवः क्षितिपालमौलिः ।
न्यपातयत् पर्षदि हर्षहेलामयेषु वीरेषु दृशं सभावाम् ॥ ३३ ॥
राज्ञश्चेष्टासौष्ठवं तद् विभाव्य हृष्यच्चित्ता वीरमाद्या अथाष्टौ ।
वीराः स्मेरास्याम्बुजा म्लेच्छभूभृत्सेनामेनामन्वधावन्त वेगात् ॥३४॥
दृष्ट्वा म्लेच्छान् मारितान् मत्प्रकाशे भूरीन्[4] भूवन् क्वाप्यमी माऽवसन्नाः ।
इत्थं ध्यात्वेवास भास्वान् प्रतीचीभूभृच्चूलाचुम्बिबिम्बस्तदानीम् ॥ ३५ ॥
जीवं[5] लात्वा द्राक् शका यात रे ! रे ! प्राप्ता ह्येते बाहुजास्तीव्रकोपाः ।
व्याचक्षाणानामितीव प्रकामं व्यापे विश्वं कूजितैर्व्योमगानाम् ॥३६॥
गलद्विचारोल्लसितानि भास्वद्रवां विनाशे रुचिरद्युतीनि ।
तमांसि संगन्तुमिव स्वबन्धून् शकान् प्रसस्रुर्भुवनेऽभितोऽपि ॥३७॥
श्रीवीरमेन्द्रो[6] दिशि माघवत्यां दिशि प्रतीच्यां महिमाख्यसाहिः ।
श्रीजाजदेवो दिशि दक्षिणस्यां दिश्युत्तरस्यामपि गर्भरूकः ॥ ३८ ॥
आग्नेयभागे रतिपालवीरः समीरभागे[7] तिचरः शकेशः ।
ईशानभागे रणमल्लमल्लः[8] श्रीवैचरो नैर्ऋतनामभागे ॥ ३९ ॥
इत्थं यथायुक्ति[9] कृतप्रतिज्ञा वीरा रणोत्साहलसच्छरीराः ।
हम्मीर हम्मीर इति ब्रुवाणाः शकाधिपीये शिबिरे निपेतुः ॥ ४० ॥

---

1 K सूरस्येव । 2 K तदिमं । 3 K क्षत्राङ्कूरान्मध्यमानस्तृणेभ्यो । 4 P सूरीन् ।
5 K जीवमाहं यात रे ! रे ! शकेशा आयान्त्येने । 6 K वीरमाख्यो । 7 K सामीर° ।
8 K मल्लवीरः । 9 P यथाशक्ति° ।

कुन्तैव केऽपि परिलासपूपुरमदहन् परे दलिककुर्गसुम्भितम् ।
न्यविशन्त चान्तरितरेऽतिवेगतः पटवासरज्जुनिचयान् परेऽलुनन् ॥४१॥

धीरं धीरं यात रे! माऽऽकुलत्वं चापाग्रे नो बाहुजाः सन्तु केऽमी।
कूर्वालावं मङ्क्षुपीमान् लुनीमः शब्दाद्वैतं जातमेवं शकानाम् ॥४२॥

केचित् कृपाणाँल्लगुडाँश्च केचिच्चापान् परे केचन मुद्गराँश्च ।
आक्रम्यमाणा नृपवीरवारैस्तदा शकेन्द्रा जगृहुर्जवेन ॥ ४३ ॥

श्रुत्वाऽखिलास्वपि ककुप्सु मृदङ्गनादान्
आतङ्ककम्पितहृदो यवना जवेन ।
संदेहमूर्जितमिता किल जीवितव्ये
कर्त्तः! किमद्य भवितेत्यवदन् सदैन्यम् ॥ ४४ ॥

श्रावं श्रावं सिंहनादान् भटानां भीताश्चक्रुः सारसीं यामिभेन्द्राः ।
तामाकर्ण्य त्रासवन्तोऽतिजीवग्राहं क्वापि क्वापि नेशुस्तुरङ्गाः ॥४५॥

कराग्रजाग्रन्निशितासिदण्डदीप्रप्रभाप्रज्वलितप्रदीपैः ।
उत्सारितध्वान्तचया वितेनुर्वीरा यथेच्छं रणरङ्गलीलाम् ॥ ४६ ॥

निष्कासयामास रणाय यो यः शकः क्रुधान्धो युधि यद् यदङ्गम् ।
तत् तल्लुनानाः किल तस्य तस्य न *चाहमानः* कुतुकाय कस्य ॥ ४७ ॥

भीता जीवाघातमाकर्ण्य सद्यो म्लेच्छा यावद् दिक्षु चक्षुः क्षिपन्ति ।
बाणास्तावत् प्रेरिता*श्चाहमानै*र्विध्यन्ति स्मैवाशु मर्माणि तेषाम् ॥ ४८ ॥

*चाहमान*भटपाणिपङ्कजोन्मुक्तमार्गणगणैश्चितीकृताः ।
रेजिरे करिवरा रणाङ्गणे पर्वता इव नवोल्लसच्छदाः ॥ ४९ ॥

सुभटप्रकाण्डघनकाण्डवर्षणातिकदर्थनेन भृशविक्लवाशयाः ।
यवना युगान्तपवना इवास्फलन् नितरां मिथोऽपि समराङ्गणे तदा ॥५०॥

शस्त्राशस्त्रि शराशरि कुन्ताकुन्ति गदागदि दण्डादण्डि ।
दन्तादन्ति भुजाभुजि वीराः केऽपि परे व्यदधन् रणलीलाम् ॥५१॥

खड्गक्षतारिकरिकुम्भमण्डलान्मुक्ताफलानि निपतन्ति रेजिरे ।
स्वेदोदबिन्दुनिवहा जयश्रियां वीरोपगूहनसमुद्भवा इव ॥ ५२ ॥

विगतद्युतीकृतपराननाम्बुजाः परिखण्डिताश्वतरवीचिसंचयाः ।
सुभटा गजा इव शकेशवाहिनीं सुतरां *हमीर*नृपतेर्जगाहिरे ॥ ५३ ॥

खड्गैः शकानां रुधिरापगाभिर्वार्धिस्तदा रक्तमयो व्यधायि ।
तदम्भसि स्नातविनिर्गतोऽसौ धत्तेऽरुणत्वं कथमन्यथेन्दुः ॥ ५४ ॥

---

1 K °[illegible]म् । 2 K धीरा धीरा । 3 P जीवं जीवग्राहं । 4 K [illegible] ।
5 K °कलस्सदाः । 6 P वि(व्य)दधू । 7 K नितमां ।

क्वचिच्छिरोभिः क्वचिदङ्घ्रिपद्मैः क्वचित् करैः क्वापि च बाहुदण्डैः।
आरेचिता सङ्गरभूरराजन्निर्माणशालेव जगद्विधातुः ॥ ५५ ॥
रङ्गत्तुरङ्गोत्करङ्गवीररसाम्बुपूर्णे रणपल्वलेऽस्मिन्।
सिताम्बुजानीव विरेजुरातपत्राणि कौक्षेयकपातितानि ॥ ५६ ॥
स्फूर्जद्भीर्यैर्बाहुजैर्दत्तदैन्यं दृष्ट्वा सैन्यं सर्वथाऽथात्मनीनम्।
काण्डैर्दण्डैस्ताड्यमानोऽपि जीवन्नुलूखानो नेशिवान् भाग्ययोगात्॥५७॥
केचिन्मम्लुः केऽपि जग्लुः परे च त्रेसुर्नेशुः केचन म्लेच्छपाशाः।
हाहारावं चक्रिरे केऽपि केचिज्जीवं त्रातुं प्राविशन् गुप्तदेशान् ॥५८॥
जितकाशिनोऽथ युधि वीरमादयः सुभटा वितीर्णरिपुराजिसंकटाः।
रणशोधने च शकसैन्यलुण्ठने त्वरयाम्बभूवुरभितोऽपि सैनिकान्॥५९॥
तुरगाभिपातिततुरङ्गिणः शिलीमुखलूनकेतुनिचयान् रथोच्चयान्।
करिणः पलायितनिषादिनो वसून्यमितानि तत्र सुभटा ललुस्तमाम्॥६०॥
तत्रैणनेत्रा यवनाधिपानां बध्वाऽत्यमर्षाद् रतिपालवीरः।
व्यचिक्रयत् ख्यातिकृते क्षितीन्दोस्तर्के प्रतिग्राममपूर्भिरेषः ॥ ६१ ॥
यवनाधिपसैन्यसागरं प्रविलोड्येति भटा मुकुन्दवत्।
परिरब्धजयश्रियो नृपं जयवार्त्ताभिरवर्धयन्नथ ॥ ६२ ॥
अथ क्षितीशो रतिपालशौर्यं अतीभमाकर्ण्य लसत्प्रमोदः।
मत्तो ममायं गज इत्यमुष्य पादेऽक्षिपत् काञ्चनशृङ्खलानि ॥ ६३ ॥
परेष्वपि प्रीतिकृदंशुकादि दत्वा विसृष्टेष्वथ मानपूर्वम्।
नृपेण पृष्टा यवनास्तथैव स्थिताः स्थितेः कारणमूचुरेवम् ॥ ६४ ॥
अस्मासु जीवत्सु यदीह भोजदेवः कृतघ्नो जगरां भुनक्ति।
वीरव्रतं तर्हि विलीनमेव संवीक्ष्यताम्मा कतरो नरेश! ॥ ६५ ॥
सहामहे यच्च दिनांस्तमेतावतोऽत्र हेतुस्तव बन्धुतैव।
त्वद्देशमन्वानयतोऽधुनाऽरिबलं विभो! का बत बन्धुताऽस्य ॥ ६६ ॥
तद्यात्रायै गन्तुमेते नरेश! प्रादिश्यन्तां तेष्विति प्रोक्तवत्सु।
भद्रा भद्रेण त्वरध्वं त्वरध्वं स्फीतप्रीतिस्तान् नृपो व्याजहार ॥ ६७ ॥
जयश्रियो मोहनमन्त्रवत् तमादेशमासाद्य नृपस्य तेऽथ।
भङ्क्त्वा पुरीं तां विनियम्य भोजबन्धुं समागुः सकुटुम्बमेव ॥ ६८ ॥

---

1 K क्वचिदंह्रि°। 2 P सर्वथाऽमा°। 3 K दैवयोगात्। 4 P °देशम्। 5 K °लुण्टनो। 6 K °न्यमितान्यमुत्र। 7 K °रमूमुदन्नथ। 8 K °वीर्यं। 9 K °विलीनमेव। 10 K वरध्वं।

इतश्च तस्मात् समराद् विनष्टः खानः स उलूपपदः कथञ्चित् ।
समेत्य दिल्लीं निजगाद राज्ञे तच्चाहमानप्रकृतं समस्तम् ॥ ६९ ॥
पलायितः कातरवद् भवान् किं ततः क्षितीशे गदतीति सोऽवक् ।
पलायनं चेन्नृप! नाकरिष्यं कौ[3]तस्कुतस्तर्हि तवामिलिष्यम् ॥ ७० ॥
निःशेषमिति तदुक्त्वा विरराम न यावदेव शकबन्धुः ।
मन्यूत्पीडग्रहिलः समेत्य तावत् स भोजदेवोऽपि ॥ ७१ ॥
विस्तार्य सिचयमग्रेऽग्रतः सरस्तत्तदद्भुतमतीनाम् ।
कटुकं विरटंस्तदुपरि सुतरां विलुलोठ भूतचान्त इव ॥ ७२ ॥
किमरे! किमरे! जातं पृष्टः शकभूभुजा जगादैषः ।
मरणावध्यपि स्वामिन्! न विस्मरेद् यत् तदद्य सम्पन्नम् ॥ ७३ ॥
हम्मीरवीरनुन्नो महिमासाहिः स[5] वीरकोटीरः ।
हत्वा जगरां बध्वा सपरिच्छदमेव सोदरमयासीत् ॥ ७४ ॥
ला[6]भाय यतां पुंसामभाग्यतः क्वापि मूलनाशः स्यात् ।
अद्यप्रभृति जनोक्तिर्मदुदाहरणा प्रववृतेऽसौ ॥ ७५ ॥
तत् किं करोमि कं वा श्रयामि यामि क्व वा किमु वदामि ।
हृदयं वातान्दोलिततूलतुलां कलयतीदमनुवेलम् ॥ ७६ ॥
लुठितोऽसि किमिह सिचयोपरीति पृष्टोऽमुना पुनः सोऽवक् ।
जानासि किं न निखिलामिलां जितां चाहमानेन ॥ ७७ ॥
रणभ[7]ङ्गाकुलसोदरपरिदेवनद[8]लिकसंकुले नितमाम् ।
नृपहृदि कोपहुताशे घृताहुतिर्भोजभणितिरभूत् ॥ ७८ ॥

तद्वाक्यश्रवणादथ प्रसृमरक्रोधप्रकम्पाधरो
बाहुष्टम्भनमासनं प्रतिलवं सव्यापसव्ये नयन् ।
प्रत्युत्क्षिप्य शिरोवतंसमवनीपीठे तथाऽऽस्फालयन्
चक्रे काव्यपरम्परामिति तदा म्लेच्छावनीवल्लभः ॥ ७९ ॥

रे रे भोज! विमुञ्च शोकमखिलं लज्जाकरं दोष्मतां
हे भ्रातस्तत कीर्तिकेलिसदनं स्थैर्यं त्वमप्याश्रय ।
दुःखेनैव सह क्षणेन युवयोरेतस्य सोऽहं बली
हम्मीरस्य समूलकाषमधुना मानं कषाम्युच्चकैः ॥ ८० ॥

---

1 K मणष्टः । 2 K ढिल्लीं । 3 P कौतस्तुत° । 4 P °गतः । 5 K समीरको° । 6 P लाभाय ततां । 7 K रणरङ्गा° । 8 K °दाहसंकुले ।

निद्रामुद्रणसान्द्रनेत्रयुगलः सिंहः समुत्थापितो
निर्मोकोज्झनतीव्रकोपफणिनो लातुं मणिः काङ्क्षितः ।
सर्वाङ्गं प्रचिकीर्षितं च हुतभुक्कीलापरिष्वञ्जनं
हम्मीरेण बताद्य कोपितवता म्लेच्छावनीवल्लभम् ॥ ८१ ॥

कः कण्ठीरवकण्ठकेसरसटां स्प्रष्टुं पदेनेहते
कुन्ताग्रेण शितेन कश्च नयने कण्डूयितुं काङ्क्षति ।
कश्चाभीप्सति भोगिवक्त्रकुहरे मातुं च दन्तावलीं
को वा कोपयितुं नु वाञ्छति कुधीरल्लावदीनं प्रभुम् ॥ ८२ ॥

देशो यद्यस्ति चञ्चत्तरसुकृतजनोद्यत्प्रदेशस्ततः किं
दुर्गं यद्यस्ति दुर्गं प्रतिभटनिकरैः कोटिभिर्वा ततः किम् ।
वीराश्चेत् सन्त्यनेके समरभुवि महावीर्यवन्तस्ततः किं
कोपिन्यल्लावदीने सकलमपि भजेद् व्यर्थतामेव सद्यः ॥ ८३ ॥

तावद् गर्जन्तु जाग्रन्मदभरतरलाश्चञ्चला वीरमाद्या
वीराः प्रत्यर्थिवीरावलिदलनकलाकेलिकण्डूलहस्ताः ।
ज्यारावैर्विस्फुरद्भिर्जगदखिलमपि प्रापयन्नेडभावं
यावन्नाल्लावदीनः किरति शरभरं प्रावृषेण्यच्छटावत् ॥ ८४ ॥

पाताले प्रविशत्यसौ यदि तदा नूनं खनित्वा ददे
स्वर्गं चेत् समुपैति सेन्द्रमपि तं संपातयाम्यग्रतः ।
दृग्भ्यां चेद् ददृशे न सङ्गरभरे मद्दोर्द्वयीविक्रमः
कर्णाभ्यामपि शुश्रुवे किममुना तर्हि क्षितौ न क्वचित् ॥ ८५ ॥

रे ! रे ! हम्मीर ! वीरस्त्वमसि परमसौ साम्प्रतं वीरता ते
नूनं व्यक्तीभवित्री मम नयनपथे प्राप्तपान्थव्रतस्य ।
भ्राम्यत्युच्चैर्वनान्ते मदमलिनकपोलस्थलो हन्त ! दन्ती
तावद् यावान् मृगेन्द्रः पतति न पुरतो जृम्भया व्यात्तवक्त्रः ॥८६॥

आसारः कमलाकरे मृगगणे सिंहः कुठारस्तरौ
भास्वान् संतमसे पविः क्षितिधरे दावानलः कानने ।
यत् कर्म प्रतनोति सङ्गरभरं प्राप्तस्तदेवाधुना
कुर्वेऽहं भटसंकुलेऽपि निखिले श्रीचाहमाने कुले ॥ ८७ ॥

---

1 K यमलः । 2 K °जातकोप° । 3 K को वाऽमी । 4 K भाजस्ततः । 5 K मौक्तटा । 6 K यावन्नला° । 7 K तद्दोस्त्वबायाऽऽनयामि स्फुटं । 8 K तत् संपातये [illegible] । 9 K [illegible] ।

तत्कालं यवनावनीपतिरथ प्रोल्लासिमानान् स्फुर-
न्मानान् स्वेन कराम्बुजेन[1] लिखितान् विश्राण्य संप्रेषितैः ।
देशेभ्यो निखिलेभ्य एव निखिलान् दूतैः प्रभूतैरसौ
वीरानाह्वयति स्म विस्मयकरप्रोद्दामदोर्विक्रमान् ॥ ८८ ॥

॥ इति श्रीजयसिंहसूरिशिष्यमहाकविश्रीनयचन्द्रसूरिविरचिते श्रीहम्मीरमहाकाव्ये
वीराङ्के अल्लावदीनामर्षणो नाम दशमः सर्गः समाप्तः ॥

अथैकादशः सर्गः ।

अङ्गस्तिलङ्गो मगधो मसूरः कलिङ्ग-वङ्गौ भट-मेदपाटौ ।
पञ्चाल-बङ्गाल-थमीम[2]-भिल्ल-नेपाल-डाहाल-हिमाद्रिमध्याः ॥ १ ॥
इत्यादयोऽन्योऽन्यमहंयुताभिः सम्मेलित[3]प्रौढपताकिनीकाः ।
शकाधिनाथा निखिला अपीमां पुरीमथापुर्यवनेश्वरस्य ॥ २ ॥ –युग्मम् ।
वीरैर्जयश्रीकरपीडनाय लुण्टाकवृन्दैरपि लुण्टनाय ।
व्रजद्भिरन्यैः कुतुकेक्षणाय शून्यीभवन्ति स्म दिशां प्रदेशाः ॥ ३ ॥
याते मयीदं(त्थं?) बलभारभुग्नां कः सासहिर्धर्तु[4]मिमां धरित्रीम् ।
इतीव शेषाहिरमुष्य सैन्ये न केवलं गन्तुमना बभूव ॥ ४ ॥
साश्वद्विपेष्वेषु चलत्सु भूभृन्निदेशमात्रेण दिशो दशापि ।
दिग्दन्तिनो दन्तिषु यद्यतिष्ठन् भास्वद्रथाश्वाश्च तुरङ्गमेषु ॥ ५ ॥
पादातिकानां करिणां रथानां चया हयानां च तथा प्रसस्रुः ।
तैलं तिलस्यापि सुखानुमेयं रिक्तं यथा न क्वचिदास भूमेः ॥ ६ ॥
ततोऽनुजौ स्फारभुजौ शकानामधीश उलूगिसुरत्तखानौ ।
इदं महाचोर्वि वितीर्य सैन्यमचीचलज्जेतुममुं हमीरम् ॥ ७ ॥
शकेश्वरोऽद्यापि समस्ति पश्चात् सृजन्निति क्षत्रकुलेषु भीतिम् ।
शरीरमात्रं स्वयमत्र चास्थादहो शकानां नृपनीतिवित्त्वम् ॥ ८ ॥
लब्ध्वा सहायं निसुरत्तखानं ज्वलन् क्रुधोलूपपदः खखानः ।
इयेष मूलादपि वैरिवंशान् दग्धुं बृहद्भानुरिवाहिकान्तम् ॥ ९ ॥
बलं किलैतद् व्रजति स्म यत्र यत्रैष शेषोऽपि[6] च तत्र तत्र ।
महीतलध्वंसभिया प्रसर्पन्नासीच्छकाज्ञाप्रविलोपिधैर्यः[7] ॥ १० ॥

---

1 P कराम्बुजेन । 2 K थमीमडाहले° । 3 K संमीलित° । 4 P °विरता । 5 K °नाथिपत्र । 6 K द्विषोऽपि । 7 K °नाभूच्छका° ।

पद्भिः पतद्भिर्ध्रुवमस्मदीयैः शेषो धरां धर्त्तुमसौ न शक्तः ।
तन्वीं भुवीतीव वितेनुरेते गतिं तुरङ्गा गगने तु गुर्वीम् ॥ ११ ॥
धावद्धयालीपदपातजातरेणूत्करैः पूरिषताब्धयो मा ।
हेतोरिवास्माद् द्विरदा असिञ्चन् मन्दाम्बुपूरैरभितोऽपि भूमिम् ॥१२॥
सहाभविष्याम पुरा वयं चेत् किं बाहुजास्तर्हिं पराभविष्यन् ।
इत्यूचुषः कांश्चिदुपेतपूर्वा नाद्यापि किञ्चिद् गतमित्यथोचन् ॥ १३ ॥
गजाः कियन्तस्तुरगाः कियन्तो रथाः कियन्तः कति वा भटाश्च ।
जनैर्जनानामिति वादितानां संख्या नहीत्युत्तरमेकमेव ॥ १४ ॥
सर्वाङ्गसंनाहनिवेशलक्ष्यचक्षुर्द्वयीमात्रतयाऽतिरौद्राः ।
प्रधावमानाः सुभटा विरेजुर्लोहस्य गोला इव विस्फुरन्तः ॥ १५ ॥
क्षणात् शकानां कटकैर्निपीताशेषाम्भसामध्वनि निम्नगानाम् ।
गम्भीरमप्यास तलं सुदर्शं जडात्मनां वा न दुरापमन्तम् ॥ १६ ॥
भुक्तिं व्यधाद् यत्र न तत्र सुप्तिं यत्राततैतां न च तां च तत्र ।
अथेत्यविश्रान्ततरैः प्रयाणैर्लक्षीचकारैष विपक्षसीमाम् ॥ १७ ॥
सैन्यैः शकानां प्रसृतैः समन्ताद् देशः कृतः क्लेशवशंवदः सः ।
निर्नाथवन्मङ्क्षु पलाय्य जीवग्राहं प्रयाति स्म यतस्ततोऽपि ॥ १८ ॥
ततोऽद्रिघट्टान् प्रसमीक्ष्य पूर्वानुभूतभीसंस्मरणाद् भयालुः ।
आहूय खानो निसुरत्तखानं सहोदरं सुन्दरमित्युवाच ॥ १९ ॥
भ्रातः ! प्रवेशे विषमा गिरीन्द्रा भटास्तदीयाः प्रकटौजसश्च ।
तदद्रिघट्टान् विशतो बलस्य भवन्नपायः खलु नो हिताय ॥ २० ॥
तद्बाहुजान् सन्धिमिषेण विप्रतार्याद्रिघट्टेषु सुखं विशामः ।
उपायसाध्ये खलु कार्यबन्धे न विक्रमं नीतिविदः स्तुवन्ति ॥ २१ ॥
मते मतेऽत्रानुमतेऽमुनापि श्रीमोल्हणं प्राग् विधिनाऽनुशास्य ।
दिदेश संधानकृते हमीरभूभृत्समीपे कितवः प्रयातुम् ॥ २२ ॥
स्वयं च सन्नह्य बलान्यमुष्मिन्नेवं छलेनाविशदन्तरद्रि ।
मध्ये प्रविष्टः सुखसाध्य एवास्माकं भटैरित्थमुपेक्षितश्च ॥ २३ ॥
मुण्ड्यां[10] प्रतोल्यामनुजस्य शस्य[11]श्रीमण्डपे दुर्गवरे निजं च ।
सरश्च जैत्रं परितः परेषामतिष्ठिपत्[12] सैन्यमपास्तदैन्यः ॥ २४ ॥

---

1 K °भृश° । 2 P °पादजात° । 3 P °सन्नेह° । 4 K °जुरयोविकारा इव ।
5 P गभीर° । 6 P (राज्ञः स°) भूभृ° । 7 P प्रयातु । 8 K °क्षेव फलके प्राप्ति° ।
9 K सुखहस्य । 10 P मुख्यां । 11 K श्रीमेण्डपे । 12 K °मतिष्ठपत् ।

स मोल्हणः प्राप्य कथञ्चिदन्तस्ततः प्रवेशो नृपशासनेन ।
दृष्ट्वा रणस्तम्भपुरं तदुच्चैर्बभूव चित्रार्पितनेत्रपद्मः ॥ २५ ॥
वप्रे यदीये स्फटिकोद्भवानां माला लसन्त्यः कपिशीर्षकाणाम्[1] ।
दिगङ्गनानां वदनश्रियं स्वां विलोकितुं[3] दर्पणभावमीयुः ॥ २६ ॥
प्रदेशयोरप्युभयोर्मिलद्भिर्माणिक्यसोपानमयूखजालैः ।
विलासवापीषु पयश्चकासांबभूव यत्रेव निबद्धसेतु ॥ २७ ॥
यस्मिन् मृगाक्षीवदनेन्दुभाभिर्विसारिणीभिर्विजितः शशाङ्कः ।
खयाम्बुपूरे[4] प्रतिबिम्बदम्भात् किमेष दुःखात् प्रददौ न झम्पाम् ॥२८॥
त्यागाय भोगाय विवेकभाजा जनेन शश्वद् विधृता कराब्जे ।
लेभेऽवकाशं चपलाऽपि लक्ष्मीः पलायनं कर्तुमहो न यत्र ॥ २९ ॥
मरुत्तरङ्गप्रविकम्पितायां ध्वजावलौ इभ्यतमालयेषु ।
लीनेव यत्रास्थिरता न जातु रमासु रामासु समुल्ललास ॥ ३० ॥
जालैर्मणीनामधिकुट्टिमोद्यद्भासैः[5] समन्तात् प्रसरन्मयूखैः ।
प्रासादशृङ्गेषु दशेन्धनाली[6] निन्येऽवकेशित्वमुषासु यत्र ॥ ३१ ॥
यत्रोज्ज्वलस्फाटिकभित्तिभागे[7]ऽप्येणीदृशो दृष्टनिजाङ्गलक्ष्म्यः ।
माङ्गल्यहेतोर्नवरं निरीक्षाञ्चक्रुर्विभाते मुकुरेषु वक्त्रम् ॥ ३२ ॥
यत्रेभदन्तोद्भवचित्रजालवातायनस्थाः कृतदिव्यभूषाः ।
विनिद्र[8]पाथोजदृशो विमानमधिश्रिता देव्य इव स्म भान्ति ॥ ३३ ॥
नृपालयोत्तंसितशातकुम्भकुम्भप्रभा यत्र समुल्लसन्त्यः ।
अभ्युन्नतासन्नपयोधराणां वर्षासु पम्पासमतामगच्छन् ॥ ३४ ॥
अनारतं कौमुदमादधानाः संसेव्यमाना द्विजराजिभिश्च ।
मिष्टैः पयोभिः प्रतिभासमाना[9] विभान्ति यागा इव यत्तडागाः ॥३५॥
वातायनाः किं किममी विमाना जनैः समं तेष्विति संशयानः ।
अबोधि यस्मिन् मिथुनैस्तु तत्स्थैरेवानिमेषैश्च निमेषिभिश्च ॥ ३६ ॥
विलासि[10]वेश्मोदरदह्यमानसुगन्धिधूपोत्थितधूमसङ्घात् ।
व्यधायि यस्मिन्नपि किन्नरीभिरयत्नजन्या पटवासयुक्तिः ॥ ३७ ॥
महद्धिसंस्पर्धिविवर्द्धिकीर्ति परं पुरं किञ्चिदिहास्ति नो वा ।
इतीव यद्भ्रूभ्रशिरोऽधिरुह्य भुवं दृशा पश्यति गोपुरेण ॥ ३८ ॥
निवासवद्भिः सुमनोभिरेभिर्विमानताऽस्मासु कृतेति दुःखात् ।
नैवास्वपन् निश्यपि निर्निमेषकपाटपक्ष्माणि गृहाणि यत्र ॥ ३९ ॥

1 K कपिशीर्षकाणां 2 K स्फटिकोद्भवानाम् । 3 K निरीक्षितुं । 4 P °पुरप्रति° । 5 K कुट्टिमाद्यद्भासैः । 6 K °नालिर्निल्ये । 7 P यत्रोज्ज्वलत्स्फा° । 8 K निर्निद्र° । 9 K प्रतिभास° । 10 K विलास° ।

विसारिरत्नकान्तित्विषाभिभूतिद्विरेफितस्वर्णतुलासु यत्र ।
स्त्रीणां मुखानि प्रतिबिम्बितानि स्वर्णोत्पलानीव चमीषु रेजुः ॥ ४० ॥
सूर्याश्मकुड्यप्रतिबिम्बिनारीमुखानि यत्राब्जधिया वितर्क्य ।
दधुः सुकेश्यः पततो द्विरेफान् दशन् सखीवक्त्रममी स्म मेति ॥ ४१ ॥
कुशेशयाशालिदृशो निशायां रतौ ह्रिया यत्र निशम्य दीपान् ।
ध्वस्तेऽभवन् संतमसेऽवकेशियत्नाः स्फुरत्कुड्यमणिप्रभाभिः ॥ ४२ ॥
निशम्य यत्राविरतोत्सवेषु मृदङ्गनादान् ध्रुवमर्जितो यः ।
अद्याप्यमी गर्जिषु वारिवाहा विवृण्वतेऽभ्यासभरं तमेव ॥ ४३ ॥
हम्मीलनाकेलिषु यत्र बाला सखीप्रहातङ्कसु[1]निश्चलाङ्गी ।
पाञ्चालिकानां वि[2]तनौ निलीना दृष्टाऽपि [3]नाग्राहि सखीजनेन ॥ ४४ ॥

—महाकुलकम् ।

निभालयन् लोचनलोभिलक्ष्मि क्रीडानिकेतं पुरमेतदुच्चैः ।
नृपालयश्रीकरकैरवेषु दृशं भृशं स भ्रमरीचकार ॥ ४५ ॥
स्तम्बेरमाणां मदवारिभिन्नकुम्भस्थलीसंचरणप्रमत्ताः ।
झङ्कारवैर्यत्र सदा द्विरेफा वसन्तमाहुः स्म वसन्तमेव ॥ ४६ ॥
क्रीडागिरीन्द्रैरिव वीरलक्ष्म्या यदेकतोऽराजत वारणेन्द्रैः ।
गङ्गातरङ्गैरिव दत्तरङ्गैस्तथाऽन्यतोऽश्वैः पदखातविश्वैः ॥ ४७ ॥
भुजङ्गमाधिष्ठितचन्दनद्रुमिवासिहस्तं प्रकृतिप्रशस्तम् ।
पूर्वाद्रिचूलाश्रिततिग्मरश्मिमिवोरुसिंहासनसन्निविष्टम् ॥ ४८ ॥
सिंहासनान्तर्गतबिम्बदम्भाद् धराधिपैः शीर्ष इवोह्यमानम् ।
रत्नस्तरङ्गाङ्गरुचीचयेनेव खर्वयन्तं नवहेमगर्वम् ॥ ४९ ॥
नक्षत्रचक्रेष्विव शीतरश्मिममर्त्यचक्रेष्विव देवदेवम् ।
नरेन्द्रचक्रेषु विराजमानमनन्यजन्येन महामहिम्ना ॥ ५० ॥
निबद्धभूबिम्बितसभ्यदम्भात् सभामधस्तादिव कुर्वती गौः ।
अधिश्रितं तत्र सभां विभाव्य हम्मीरदेवं स हृदीति दध्यौ ॥ ५१ ॥
किमेष कामो न यतोऽननङ्गः किमेष दस्रौ न यदद्वितीयः ।
किमेष विष्णुर्न यतोऽद्विबाहुः किमेष वज्री न यतो द्विनेत्रः ॥ ५२ ॥
त्यक्तान्यकार्यैरथ वीरवर्यैर्विलोक्यमानो वदतीति किं किम् ।
प्रणम्य भूपं दरनम्रमौलिः प्रचक्रमे व्यक्तमिदं प्रवक्तुम् ॥ ५३ ॥
स्वतेजसैवारिगणं विजित्याकुतोभयं संसृजतः स्वराज्यम् ।
वृथैव वर्षासनमाददाना [4]लेलज्जिरे यस्य भटा निकामम् ॥ ५४ ॥

1 K विनिश्चलाङ्गी । 2 K वितती । 3 K नाग्राहि । 4 K [illegible]

दुर्गाणि दुर्ग्राह्यतराणि शाणोल्लीढानि शस्त्राणि भटा रणोत्काः ।
अभ्रंलिहाग्रा गिरयो यदग्रे न वास्तवीं वृत्तिमयुः कदाचित् ॥ ५५ ॥
दुर्गाणि दुर्ग्राह्यतराणि यः श्रीदेवाद्रिमुख्यान्यपि मङ्क्षु भङ्क्त्वा ।
अवीन्द्रमुद्यद्दरदन्तुराक्षी चकार कारायमितारिचक्रः ॥ ५६ ॥
दुर्गाणि दुर्ग्राह्यतराण्यरीणां भञ्जन्ननेकान्यपि लीलयैव ।
आजन्मभग्नत्रिपुरैकदुर्गे दुर्गापतौ योऽत्र घृणां बिभर्ति ॥ ५७ ॥
यद् यन्मनस्यप्यमुना नरेन्द्र! निधीयते तत् तदहो तदात्वम् ।
सम्पादयन् सोऽपि विधिर्विशङ्के न शासनं यस्य विहन्तुमीष्टे ॥ ५८ ॥
अल्लावदीनस्य नृपस्य तस्यानुजौ किलोलूनिसुरत्तखानौ ।
देशं तवाक्रम्य तदाज्ञयैव त्वामाहतुः स्मेति मदाननेन ॥ ५९ ॥
हम्मीर! राज्यं यदि भोक्तुमीहा तत् स्वर्णलक्षं चतुरो गजेन्द्रान् ।
अश्वोरणानां त्रिशतीं सुतां च दत्त्वा किरीटीकुरु नो निदेशम् ॥ ६० ॥
इदं विमुक्तं यदि वा परन्तु तथाऽस्मदाज्ञाप्रविलोपिनो द्वे ।
स्नाग् मुद्गलांस्तांश्चतुरोऽपि दत्त्वा क्रोडीकृतां क्रीडय राज्यलक्ष्मीम् ॥६१॥
त्यक्त्वा यथैतं तव दुर्गरोधं देशान् पुरः साधयितुं व्रजामः ।
न चेद् विधाता प्रतिघोषितं स्वराभ्यां तु तत् तेऽनुभवोऽभिधाता ॥६२॥
इत्येतदीयानि वचांसि भूपः श्रुत्वाऽथ भीमां भृकुटीं दधानः ।
नवोल्लसत्क्रुध्विषवल्लिसूनद्विरेफलीलाक्षरमित्युवाच ॥ ६३ ॥
वशिष्टयुक्त्या यदि नाभविष्यदाजग्मिवानत्र भवान् कथञ्चित् ।
तदा त्वयाऽगादि ययेदमर्वाग् जिह्वां ध्रुवं तां निरकासयिष्यम् ॥ ६४ ॥
दन्तौ द्विपस्येव मणिं भुजङ्गस्येवैणशत्रोरिव केशरालिम् ।
श्रीशाहमानस्य धनं बलेन न जीवतः कश्चन लातुमीष्टे ॥ ६५ ॥
स्वर्णं गजा दन्तितुरङ्गमाणां पदे प्रदेया यदि खड्गघाताः ।
भवत्प्रभू सूकरमांसमेव सद्यः स्वदेतां यदि जातु यातः ॥ ६६ ॥
द्विषामपि स्वाच्छरणागतानां रक्षासु मन्दोऽपि निबद्धकक्षः ।
तन्मुद्गलान् नो ननु याचमानौ न किं त्वदीशौ जडधीवतंसौ ॥ ६७ ॥
शतांशमप्येकविशोपकस्य न प्राणमोक्षेऽपि ददे बलेन ।
यद् रोचते नाम भवत्प्रभुभ्यां तत् तूर्णमेवाचरतां यथेच्छम् ॥ ६८ ॥
एवं विनिर्भर्त्स्य मुहुर्मुहुस्तं वशिष्टपार्श्वं गलहस्तयित्वा ।
निष्कासयामास पुराद् भटानां त्रातुं च दुर्गं ददिवान् विभज्य ॥६९॥

---

1 K मुख्यान्यपि । 2 K पुराणि । 3 K यो विलसोत्यकाम् । 4 K स्मदुक्तप्रवराज्ञाप्रविलोपिजीव् । 5 P त्वयोगादि । 6 K स्वर्णंकृजा । 7 P तौ मन्दु ।

उत्तम्भितान्युन्नतधर्मममिच्छिदेऽधिशालं पटमण्डपानि ।
दिवानिशं संगरजागरूकभुजैर्विरेजुर्निभृतं भृतानि ॥ ७० ॥
वप्रोपक्लिप्तस्फुटलोहबन्धदृढोल्लसद्दिक्कुलियष्टिदम्भात् ।
शालोऽपि युद्धाय विवृद्धमन्युः संवर्मयामास भुजानिव स्वान् ॥७१॥
रालाविलं तैलमयःकटाहे तप्तं प्रकामोत्कलिकाच्छलेन ।
दग्धुं युयुत्सून् प्रतिपक्षपक्षानलक्ष्यतौत्सुक्यमिवादधानम् ॥ ७२ ॥
चेतश्चमत्कारिकलोत्सृतानि संचक्रिरे भैरवयन्त्रकाणि ।
व्यामोहहेतोः स्फुटमिन्द्रजालानीवागतानां शकपुङ्गवानाम् ॥ ७३ ॥
दूतः प्रभूतप्रतिघोऽथ गत्वा निजप्रभुभ्यामखिलं तदुक्तम् ।
न्यवेदयत् तावपि निर्विलम्बं युद्धाय सैन्यं प्रगुणं व्यधत्ताम् ॥ ७४ ॥
अत्रैव मध्ये पुरमाहवाय ससर्ज यान् यान् नृपतिः प्रयोगान् ।
तांस्तानमर्षात् कुलिशाङ्गभूवत् सद्यः शकेन्द्रोऽपि बहिस्ततान ॥७५॥
शकेशवाद्येषु भृशाहतेषु दण्डैः स्वना ये प्रकटीबभूवुः ।
प्रतिस्वनैस्तांस्तिरयन् गिरीन्द्रो न स्वामिभक्तव्रतमुज्झति स्म ॥ ७६ ॥
निषादिनो दन्तिवरांस्तुरङ्गानप्यश्ववारा रथिका रथांश्च ।
समन्ततोऽप्यारुरुहुः पदातिपूगा वितेनुः श्रममाहवाय ॥ ७७ ॥
महीभ्रमभ्रङ्कषमप्यमुं स्ववीर्याग्रतः क्षुद्रमिवेक्षमाणाः ।
ढुढौकिरे योद्धुमतिप्रवृद्धोत्साहास्ततस्ते समरोत्कवाहाः ॥ ७८ ॥
समं छुटद्भिर्भटपाणिपद्माद् बाणैस्तमिस्रं ककुभां बभूव ।
निर्घोषपूरैरपि कार्मुकाणां विश्वं समग्रं बधिरत्वमाप ॥ ७९ ॥
नीरन्ध्रमाकाशमनुज्झितेषु काण्डेषु कूर्मास्बुदताण्डवेषु ।
आग्नेयबाणा भृशमुत्पतन्त आकालिकीकेलिकिलीबभूवुः ॥ ८० ॥
आकर्षतां संदधतां रयेण विमुञ्चतां बाणगणान् भटानाम् ।
विलोकमानैरपि निर्निमेषमलक्षि नैवान्तरमम्बरस्थैः ॥ ८१ ॥
तपात्ययाम्भोदपटुच्छटावद्बहुर्गादवर्षन् सुभटाः शरौघान् ।
कौक्षेयदार्ढ्येण मृणालनालवच्चिच्छिदुस्तान् यवना जवेन ॥ ८२ ॥
मिथोऽपि वीरव्रजपाणिमुक्तपृषत्कवक्त्रास्फलनप्रभूताः ।
रेजुः पतन्तोऽग्निकणाः प्रदग्धुं पलायितानामिव कीर्तिवल्लीम् ॥ ८३ ॥
क्षत्रप्रकाण्डप्रविमुक्तकाण्डपक्षोद्भवः कोऽपि स वायुरासीत् ।
यत्रोन्मदिष्णौ रिपुदर्पसर्पोऽप्यासीत् क्षणं व्याकुलचित्तवृत्तिः ॥८४॥

---

1 K °च्छिदे विशालं । 2 K शकनायकानाम् । 3 P शकेषु° । 4 P पदा (ति?) पू° । 5 K श्रममायुधौघैः । 6 K कूतां । 7 K मेषैरलक्षि । 8 K शरौघैः ।

आकर्णमाकृष्य भटैर्विमुक्तैरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च बाणैः ।
उत्पातहेतोर्ववृषुः शकानामधोमुखा ऊर्ध्वमुखाश्च मेघाः ॥ ८५ ॥
शिलीमुखैर्धैर्यवनप्रणुन्नैर्वप्रः समन्ताच्छुशुभे चिताङ्गः ।
विगाहमानो रिपुदर्पसर्पविनाशहेतोरिव जाहकत्वम् ॥ ८६ ॥
भ्रमं भ्रमं वीरवरैर्निजाङ्गोपरि प्रणुन्नाः प्रतिशत्रुवीरान् ।
कुन्ता विरेजुर्निशिताः पतन्तः स्फुटाः कटाक्षा इव भानुसूनोः ॥८७॥
सधाम्निकैर्भैरवयन्त्रगोला मुक्ता मिथोऽप्यूर्ध्वमधः पतन्तः ।
अपि द्वयानामरुचन् भटानां पीना उरोजा इव वीरलक्ष्म्याः ॥ ८८ ॥
दूरोन्नमट्टिङ्कुलिकाग्रहस्ताः शौर्यश्रियः क्षत्रकुलोद्भवानाम् ।
समुत्पतद्गोलकदम्बदम्भात् पञ्चेटकैः पर्यरमञ्चिताः ॥ ८९ ॥
प्रक्षिप्तरालाविलतप्ततैलसंगज्वलत्कुन्तलकैतवेन ।
क्षत्रेषु कोपाग्निरमानिवान्तः शङ्के शकानां बहिरुल्ललास ॥ ९० ॥
प्राकारभित्तेः खनने प्रवृत्तान् शकप्रवीरान् कुशटङ्कहस्तान् ।
विभिद्य शूलैर्वटकानिवोच्चैरुच्चिक्षिपुः क्षत्रकुलावतंसाः ॥ ९१ ॥
उत्प्लुत्य शाखामृगवद् गिरीन्द्रमारूढवन्तः किल केऽपि वीराः ।
प्रचख्निरे शालतलं प्रविश्य केचिद् वराहा इव तीव्रकोपात् ॥ ९२ ॥
दुर्गस्थवीरव्रजमौलिमौलीनपाहरन् बाणगणाः शकानाम् ।
समीरगुञ्जा इव पादपानां पुष्पाणि शाखाशिखरोद्भवानि ॥ ९३ ॥
अचाक्षुषत्वं प्रगतांस्तनुत्वाद् घटैकदेशीयभटप्रणुन्नान् ।
नालीकबाणान् प्रविभिन्नगात्रानवक् शकानां परिणाम एव ॥ ९४ ॥
उत्खाय शालस्य शिलां प्रविश्य तदन्तरे बाहुजघातभीताः ।
स्थिता विरेजुर्यवना दिवान्धा इवातपत्रापनरश्मिसन्नाः ॥ ९५ ॥
निजप्रहारव्रणजर्जराङ्गान् शकान् गिरेर्निष्पततो निरीक्ष्य ।
वीरा हसान् यान् व्यदधंस्त एव हम्मीरवीरस्य यशांस्यभूवन् ॥ ९६॥
श्रित्वा नगागान् गरुडासनेन हृष्टा निविष्टा यवनेशयोधाः ।
विद्धाः शरैर्वीरवरैस्तथैव चित्रं प्रयाता इव रेजुरुच्चैः ॥ ९७ ॥
निःश्रेणिमालम्ब्य धृतासवोऽन्ये दन्तैरथारोहणमाचरन्तः ।
दुर्गे हता मूर्धनि मुद्गरेण दुर्गस्थितैः पेतुरमातयैव ॥ ९८ ॥
इत्थं सदाऽप्यौपयिकैरनेकैः परिस्फुरद्धौकनसाहसस्य ।
अगाच्छकानां क्षयकालरात्रिरिव त्रिमासी यवनाधिपस्य ॥ ९९ ॥

---

1 K मुखैः पृषत्कैः । 2 K प्राप्य भ्रमिं । 3 P °कुलोद्भवस्य । 4 K कोपाः । 5 K बाणभीताः । 6 K इवातपत्रापन° । 7 K सधोऽन्ये । 8 K समुल्लसद्धौकन° ।

प्रवर्तमाने समरेऽन्यदाऽथापस्फाल गोलः शकगोलकेन ।
प्रकम्पयता तच्छकलेन मूर्ध्नि हतो व्यनेशन्निसुरत्तखानः ॥ १००॥

अथ गतं सहसाऽपि परासुताममुमवेक्ष्य परिस्रवदीक्षणः ।
अविदितः परिदेवनसेवनं भृशमसौ शकपोऽतत मध्यमः ॥ १०१ ॥

प्रक्षिप्यैनं तदनु सहसा मध्यमोऽसौ शकाना-
मीशः स्वर्णस्फुटजटनतामञ्जुमञ्जूषिकान्तः ।
ढिल्ल्यां धृत्वा कथमपि धृतिं प्राहिणोत् प्राभृतं वा
क्षौणीभर्तुः स्वसकलकथाज्ञापनापत्रपूर्वम् ॥ १०२ ॥

एतद् वीक्ष्यासशोकः श्रुतरिपुजनिताशेषतत्तन्निकारः
कृत्वा तस्यान्तकृत्यं निखिलमपि यथायुक्तिकोपप्रकम्पः ।
वेगादागादमुत्र स्वयमथ यवनैकावनोऽल्लावदीनो
वीरंमन्याः सहन्ते रिपुजनजनितं क्वापि किं वा निकारम् ॥१०३॥

॥ इति श्रीजयसिंहसूरिशिष्यमहाकविश्रीनयचन्द्रसूरिविरचिते श्रीहम्मीरमहाकाव्ये वीराङ्के *निसुरत्तखान*वधवर्णनो नामैकादशः सर्गः समाप्तः ॥
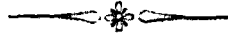
अथ द्वादशः सर्गः ।

*अल्लावदीन*नृपतिं समागतं[2] श्रुत्वाऽथ जैत्रिरवनीवनीघनः ।
दुर्गोपरि प्रतिपदं मंदादसौ[3] शूर्पाण्यबीवधदुदारधीधनः ॥ १ ॥

दृष्ट्वा तदद्भुतमसौ शकेश्वरो विस्मेरविस्मयविकासिलोचनः ।
पप्रच्छ पाणितलचालसंज्ञयेत्येतत् किमङ्ग ! वरुणोपरिस्थितान्[4] ॥ २ ॥

श्रुत्वाऽदसीयभणितिं *हमीर* राट् हर्षप्रकर्षमतिमानमुद्वहन्[5] ।
प्रोदञ्चय वक्त्रकमलं हसन् मनाक् प्रोवाच वाचमिति तं शकाधिपम् ॥ ३ ॥

म्लेच्छावनीदयित ! चारु चारु भो ! चक्रे त्वयाऽऽगमदमुत्र यद् भवान् ।
पूर्णोऽसि प्रचुरवस्तुसंचयैर्भाराय किं भवति शूर्पसंचयः ॥ ४ ॥

उक्तिं निशम्य स इमां शकाधिपो राज्ञोदितां समुचितामदोऽवदत् ।
तुष्टस्तवोपरि *हमीर* भूपते ! याचस्व वाञ्छितमतुच्छविक्रम[6] ! ॥ ५ ॥

क्षत्रोत्तमोऽथ निजगाद यद्यदस्तर्हि प्रयच्छ समरं दिनद्वयीम् ।
आयोधनादपरमत्र दोष्मतां नो वाञ्छितं किमपि वल्गु वल्गति ॥६॥

---

1 K प्रकम्प्रः । 2 P तमागतं । 3 K पद्मादसौ । 4 K वरुणो° । 5 K मत्यहद् ।
6 K विक्रमः ।

तद्वचःश्रवणतः प्रकोपमः क्षात्रजते स्तुतिमुखो मुहुर्मुहुः ।
प्रातस्तदेव भवितेति भावुकः स्वायासमासददसादमानसः ॥ ७ ॥
प्रातर्भविष्यति कदेति[1] सत्वरं निध्यायतामथ[2] रणाय दोष्मताम् ।
भास्वान् प्रियार्थमिव पूर्वपर्वतस्योत्संगसंगसुभगं वपुर्दधौ ॥ ८ ॥
लक्ष्मीभराभिरमणीयतागुणं धर्तुं तदा प्रबलतामुपागमन् ।
पाथोरुहाणि सलिलाशयोदरे सैन्योदरे च सुभटाननेन्दवः ॥ ९ ॥
दोषोदयस्फुरितमूर्त्तिविद्विषद्ध्वान्तप्रजोर्जिततिरश्चिकीर्षया ।
सूरप्रकाश उपमानमानभित् प्रादुर्बभूव गगने बलेऽपि च ॥ १० ॥
व्युष्टोचितामुपचितां[3] बलिक्रियां युक्त्या वितत्य स ततः क्षितीश्वरः ।
संग्रामसंगमविनोदहेतवे सैन्यान् रयेण समनीनहत्तमाम् ॥ ११ ॥
अल्पेतरद्युतिविकल्पिताहवाः कल्पप्ररूढरुचिराङ्करोचिषः ।
षट्त्रिंशदायुधभृतो धृतोदया वीरा विनिर्ययुरजीर्यविक्रमाः ॥ १२ ॥
शृङ्गारतः समरसंभवो रसो नूनं विशेषमधुरत्वमञ्चति ।
हित्वा प्रियाङ्कपरिरम्भणादरं वीरा रणाय यदमी प्रतस्थिरे ॥ १३ ॥
संग्रामसंगमविनोदहेतवे स्फातिं गतानि नितमां महीयसीम् ।
अङ्गानि वीरनिकरस्य नो तदा मान्ति स्म वर्मसु सुविस्तृतेष्वपि ॥१४॥
कश्चिद् विलोक्य कबरीं भियो[4]द्भ्रमत्सारङ्गशावकदृशः प्रकम्पिनीम् ।
ध्यानाध्वगीकृतरणाङ्गणोल्लसत्खड्गश्चचाल करवालमुद्वहन्[5] ॥ १५ ॥
अङ्गे लगन्त इषवः किमङ्गनाकाक्षाः किमङ्ग! नितमां प्रियङ्कराः ।
एतद्विवेचनविधानकौतुकी कश्चिन्महीरणमहीमभूषयत् ॥ १६ ॥
पूर्वं त्वदेकहृदयामरालयं गच्छाम्यहं ज्वलनवर्त्मनाऽमुना ।
किं वा मदेकहृदयोऽसि वर्त्मना त्वं काऽप्यवोचदिति सस्मितं हितम् ॥१७॥
संभाव्य वैरिकरिणां रणाङ्गणे कुम्भान् मम स्तनधियाऽतिकामुक! ।
मा भूरनङ्गरससंगकौतुकीत्येकं जगाद सुमुखी हसोन्मुखी ॥ १८ ॥
प्रेयांस्त[6]वास्मि यदि वल्लभा ततः स्वोत्खातदन्तिरदजातकङ्कणैः ।
पाणी विभूषय ममाद्य कश्चिदित्यूचे प्रियारचितसाचिलोचना ॥ १९ ॥
स्नेहातिरेक[7]वशतः स्वपाणिना माताऽभिमौलितिलकं यदाऽकरोत्[8] ।
शौर्यात् तदेव कवचाधिकं विदन् कश्चिच्चचाल किल वीरशेखरः॥२०॥
कृत्वा करे दलितखड्गमुद्धतं तात! प्रहन्तुमरिवीरकुञ्जरान् ।
एष्यामि नन्वहमपीति भावुकं कश्चिच्चचाल तनयं हसन् मुहुः[9] ॥ २१ ॥

---

1 K कदाऽथ । 2 K तामिति । 3 P "°मुपचितां' इति पाठशुद्धिः । 4 K भयो° ।
5 K मावहन् । 6 K प्रेयंस । 7 K प्रेमातिरेक° । 8 K यदाऽतनोत् । 9 K [illegible]

पुत्राद्य संगरमवाप्य सत्वरं विस्तारयेर्भुजपराक्रमं तथा ।
वीरप्रसूतिलकतां यथा श्रये कश्चिज्जगाद जननी प्रमोदिनी ॥ २२ ॥
मेदस्विवीररससंगसम्भवद्रोमोद्गमत्रुटितवर्म्मसंहतिः ।
मूर्त्तो भयानकरसः स्फुरन्निवाचालीत् परोऽक्रणितदारुणेक्षणः ॥ २३ ॥
विद्वेषिवीरजनमानदारणो मा भूत् प्रवृत्त ऋत एव मारणः ।
सम्भावयन्निति निशम्य काहलां प्रायात् परः समरजित्वरत्वरः ॥२४॥
गृध्रं भ्रमन्तमुपरीत्यवक् परः संवर्म्मयत्नयमिह प्रतीक्ष्यताम् ।
मूर्ध्नीतरस्य यदि वाऽऽत्मनस्तनौ श्रद्धां तनोमि फलिनीं तत्राधुना ॥२५॥
स्याज्जीवतो युधि यशो मृतस्य तु स्फीतं च तच्च सुरवल्लभा अपि ।
इत्यस्य वीरनिकरस्य निर्यतो जज्ञे न दुःशकुनमध्वनि क्वचित् ॥२६॥
कुम्भान् निधाय शिरसि प्रपूरितान् एलालवङ्गरसशीतलैर्जलैः ।
श्रीत्याऽनुयातुमसुवल्लभान् निजान् सज्जीबभूव निखिलो भटीजनः ॥ २७ ॥
*अल्लावदीन*विभुरप्यथोद्भटद्विड्प्रोन्मिमन्थिषुतयाऽकुलाशयः ।
संनह्य सैन्यमनुजादिभिर्वृतः स्थाने प्रतिश्रुतमशिश्रियन्मिथः ॥ २८ ॥
अन्योऽन्यवीक्षणवशोल्लसन्महाकोपप्ररूढमहिमप्रसृत्वराः[2] ।
वीरा रवाः प्रतिरवैक्ष्णादिभिर्[3]योगैर्द्विरुक्तिमिव धातवो ययुः ॥ २९ ॥
अभ्रङ्कषोल्लसितचारुचामरे कुक्षिम्भरिद्विरदबृंहिते दिशाम् ।
प्रस्पर्धयेव दधतुः परस्परं सैन्ये इमे श्रियमिहाधिकाधिकाम् ॥ ३० ॥
पुष्णन्त्यरं विनिमयेन संगरोत्साहं हृदि प्रधनकारिणां नृणाम् ।
तूर्याणि[5] पूरितहरीन्ति निःस्वनैः सैन्यद्वयेऽपि नितरा[6]मराणिषुः ॥ ३१ ॥
भङ्क्तुं विपक्षकरिकुम्भघर्षणैः कण्डूलतां स्वभुजदण्डयोरथ ।
चेलुर्भटा अपि बलद्वयाद् रणोत्साहत्रुटत्त्रुटदशेषकङ्कटाः ॥ ३२ ॥
पत्तिः पदातिकमियाय सादिनं सादी रथस्थितमहो महारथी ।
मातङ्गयानगमनो निषादिनं द्वन्द्वाहवोऽजनि तदेति दोष्मताम् ॥३३॥
ऊर्ध्वीभवन्त उरुविक्रमैः शिरस्त्राणानि वीरनिकरस्य मूर्धजाः ।
स्मोच्छ्वासयन्ति[7] घनकालसंभवा भूस्फोटका इव महीप्रदेशकान् ॥ ३४ ॥
अन्योऽन्यजातहठतो गतान्तरं मुक्तैः पृषत्कनिवहै रणाङ्गणे ।
पाणिग्रहाय विजयश्रियो भटा यत्नेन मण्डपमिव व्यरीरचन् ॥ ३५ ॥
कोदण्डचण्डरुचिमण्डलादतो दीप्राः क्षुरप्रकिरणाः प्रपातिनः ।
प्रत्यर्थिवीरतिमिराणि वेगतोऽप्यानिन्यिरे युधि कथावशेषताम् ॥३६॥

---

1 K तवाविशत् । 2 °सृत्वरैः । 3 P "°णा°" इति पाठस्त्रुटितः । 4 P °काधिकम् ।
5 K सूर्याणि । 6 K नितमा° । 7 P स्मोत्स्वास° ।

मत्पावनोऽद्य समरे तनुत्यजां भावी समागम इति प्रमोदतः ।
स्पष्टान्तरभ्रमदिषुव्रजच्छलाद् रोमाञ्चिताङ्गमिव दिद्युते नभः ॥ ३७ ॥
वीरैः प्रकाममभिमुक्तपत्रिणां नीरन्ध्रमम्बरतले प्रसर्प्पताम् ।
अन्तःप्रकर्त्तनभयादिव क्षमः क्षेप्तुं न तीव्रकिरणोऽप्यभूत् करान् ॥ ३८ ॥
वीरव्रतस्य ददतोऽङ्कपालिकां मा स्मान्तरायमिह कार्षुरेतके ।
सान्द्रेऽपि बाणनिवहे निपेतुषि स्फारान् स्फरानिति न केऽप्यलासिषुः ॥ ३९ ॥
वायुं विजित्य तरसा पतत्स्विह श्वासैः पुरैव चलितं विरोधिनाम् ।
भित्त्वा तदङ्गमनवेक्ष्य तानि वैतत्पृष्ठ एव चलितं शरैरपि ॥ ४० ॥
पार्श्वद्वयस्थकरिदन्तभासुरस्तत्कुम्भपीठविलुठत्कराम्बुजः ।
शौर्यश्रियो भुजलतास्तनद्वयीसंस्पर्शसौख्यमितरोऽन्वभूत्समाम् ॥४१॥
प्रोतोऽरिणा सह शरेण वाजिनः पृष्ठे न शल्यभृदसन्निवेशनात् ।
संप्राप्तवानपि परासुतां परो नाश्वात् पपात युधि जीववानिव ॥ ४२ ॥
आरोढुमन्यसुभटे प्रलम्बितैकाङ्घ्रौ रदस्थितपराङ्घ्रिभासुरे ।
क्रोधाद् भ्रमन् करिवरो रणाङ्गणे शुण्डाद्वयीं दधदिव व्यभाव्यत॥४३॥
द्वैधीकृते शिरसि पाणिना धृते चोर्ध्वं निहन्तुमहितस्य चिन्तयन् ।
संधागतेऽन्यशरशल्यतः परो हृष्यन्नधावत नियोद्धुमुद्धतः ॥ ४४ ॥
ऊर्ध्वं विदारितमरातिना शिरो भ्रश्यन्नियोजितमपि द्विधाऽप्यधः ।
स्वेनैव भिन्नजठरादुपाददैरन्त्रैर्निबध्य युयुधे पुनर्भटः ॥ ४५ ॥
विस्मेरमारचरितां विकञ्चुकां स्नेहाधिकां विशदकान्तिधारिणीम् ।
छित्त्वा करं प्रतिभटस्य कोऽप्यलात् तद्वल्लभामिव कृपाणवल्लरीम्॥४६॥
आक्रम्य पादमुरुणैकमङ्घ्रिणा धृत्वा करेण च परं महाग्रहात् ।
लोकद्वयीमयमसाधयद् युधीत्याख्यन्निव द्विरकृतेतरं करी ॥ ४७ ॥
याभ्यामहारि मम वल्लभास्तनश्रीस्ताविमाविति परोऽत्यमर्षणः ।
कुम्भौ गजस्य समरे विदारयन्नाधोरणप्रहृतिमप्यजीगणत् ॥ ४८ ॥
अन्योऽन्यदत्तकरवालवल्लरीप्रौढप्रहारपरिभिन्नहृत्तया ।
कौचिद् गतौ युधि भटौ परासुतामालिङ्गिताविव मिथोऽपि रेजतुः॥४९॥
सद्वंशजोपनतकोटिभूषणा संलीनसायकसमुल्लसद्गुणा ।
दृष्ट्वा परस्य समरे धनुर्लता वेश्येव कम्पमतनिष्ट कस्य न ॥ ५० ॥
कस्याप्यसिर्द्विरदकुम्भमण्डलात् पीत्वा भृशं समितिशोणितासवम् ।
उन्मत्ततां गत इवाशु विद्विषां वक्षःस्थलीमभिनिपेतिवान् मुहुः ॥५१॥

---

1 K भिया द्विषाम् । 2 K °कांह्रौ । 3 K °पराङ्घ्रि° । 4 K °रानै° । 5 K [illegible]-भिकां । 6 K परासुतां भटावालि° ।

कूर्मोऽब्जजन्मनि पदद्वयेऽरिणा दन्तावलस्य पततः क्षितौ किल ।
उत्तम्भनाय निजमेव दन्तयोर्युग्मं बभूव किमिवान्यदीदृशम् ॥ ५२ ॥
प्रत्यर्थिमुक्तशरभिन्नपुष्करो लेभे न घातसमयेऽपि तां किल ।
अग्रे स्फुरन्तमपहर्त्तुमक्षमो लेभेऽत्र यां प्रतिभटं करी व्यथाम् ॥ ५३ ॥
दत्त्वा प्रहारमतिलाघवात् पुरः पृष्ठं श्रयत्यसकृदुद्भटे भटे ।
क्रुद्धो भ्रमन् समितितज्जिघृक्षया वात्या विनोदमभजत् परो गजः ॥ ५४ ॥
भित्त्वाऽखिलाङ्गमपि भूजुषेषुणा हत्वा करेणुमितरोऽभिपातुकम् ।
वर्त्मेव हंसगमनाय तेनिवान् क्रौञ्चं पराशरसुतो गिरिं यथा ॥ ५५ ॥
कस्यापि कुण्डलितचापमण्डलान्तर्वर्तिं वक्त्रकमलं बभौतमाम् ।
प्रत्यर्थिषु प्रबलबाणवृष्टये बिम्बं स्फुरत्परिधिशीतगोरिव ॥ ५६ ॥
द्वैधीकृतस्य सुभटस्य कस्यचित् सव्येतरार्धमवलोक्य वर्ष्मणः ।
लब्धोऽद्य शम्भुरुमया विनेत्यधावन्तामरेशदयितो दिशो दिशः ॥५७॥
जज्ञे तदा रणभृतां च रक्षसां यज्ञे महाहठभरः परस्परम् ।
यक्षे प्रथीयसितरामसृग्नदीं चक्रुः पराणि पपुरेव तत्क्षणात् ॥ ५८ ॥
निःसंख्यसंख्यविवरातिथीभवद्वीरातिथेयकरणैरिवातुरे ।
द्वीपान्तरं व्रजति तिग्मदीधितौ सैन्ये उभे अपि ततो विरेमतुः ॥५९॥

—इति प्रथमदिनम् ।

द्वितीयदिनयुद्धम्—

स्वप्नप्रसंगसमरैरनेकधा रात्रिं व्यतीत्य सुभटाः कथञ्चन ।
प्रातः पुनर्निजाधिपाज्ञया संग्रामसीमनि मनो व्यनोदयन् ॥ ६० ॥
सन्नद्धयोरथ च सैन्ययोर्द्वयोरानद्धहेममयकङ्कटैर्भटैः ।
स्वास्मिंस्तदा समरभूरपि स्फुटां प्राचीव काञ्चनरुचं दधौतमाम् ॥ ६१ ॥
मूर्च्छामितोऽपि किल कोऽपि विद्विषत्खड्गप्रहारवशतो रणाङ्गणे ।
तं लातुमागतसुरीकरामृतस्पर्शाद् विबुध्य युयुधे भृशं पुनः ॥ ६२ ॥
उत्प्लुत्य वीरकलशेन कोपिना मुक्तेन हस्तिपककुम्भभूमिदा ।
कुन्तेन भिन्न इतरः करी बभावालानलम्बित इवाहवाङ्गणे ॥ ६३ ॥
लग्नप्रतीभदर्शनद्वयीतया संरूढसिन्धुमितदन्तभासुरः ।
स्तम्बेरमो रणभुवीतरो भ्रमन्नैरावणेन सुलभां दधौ विभाम् ॥ ६४ ॥

---

1 K °दीदृशाम् । 2 P °मक्षमा । 3 P लेभे त्रपां । 4 K क्रोधावृन्न° । 5 K परासुर° । 6 K यम्ये । 7 P महाहटभरः । 8 P नःसंख्य° । 9 P कण्टकैर्भटैः । 10 P स्फुटं । 11 K मूर्च्छां सतो । 12 P °मरीकरामृतैः सिक्तः प्रबुध्य । 13 K रदचतुष्टयी° । 14 K °नैरावतो न ।

छन्नारिबाणगणलग्नवक्रणश्रेणिप्रमत्तकरिकुम्भमण्डलात् ।
धारा निपेतुरसृजो मदस्य च स्पर्धां दधत्य इतरेतरामिव ॥ ६५ ॥
कस्याप्युदग्रतरवारिदारितादन्त्राणि रेजुरुदरात् पतन्त्यधः ।
आदातुमेकपदमेव तं दिवः क्षिप्ताः सुरीभिरिव पाशपङ्क्तयः ॥ ६६ ॥
क्रुद्धे प्रधावति रणाय सिन्धुरे वाहानुपर्युपरि वीक्ष्य पातिनः ।
देवैरहासि यदहो तदेव तन्मौलौ बभूव सुमवृष्टिरुत्कटा ॥ ६७ ॥
उत्पाट्य बाहुमभिसन्निवेशात् कुन्तव्रणोच्छलितशोणितच्छटाः ।
वीरश्रियेव नवकुङ्कुमच्छटा दत्ता भटोरुषु विरेजिरेतमाम् ॥ ६८ ॥
स्वारोढुरुन्नततरान् निषादिनो हन्तुं सुखेन वितरन् प्रवीणताम् ।
श्रीवृक्षकी हयवरो रणाङ्गणे स्वामुन्नतिं प्रविदधौ फलेग्रहिम् ॥ ६९ ॥
उत्प्लुत्य भूत इभकुम्भमाश्रितः स्वोजोर्जिताद्भुतयशःसितद्युतिः ।
मेरुत्ययाश्च इव तुङ्गभूभृतः शृङ्गाग्रलीन इतरो व्यराजत ॥ ७० ॥
संग्रामभूपतितवीरमर्दनात् पादान्तलग्नलसदन्त्रकैतवात् ।
क्रीडन् परः समरपल्वले करी सेवालजालमिव बिभ्रदाबभौ ॥ ७१ ॥
एकः करी समरसीम्नि सादिनं चिक्षेप कन्दुकमिवाधिपुष्करम् ।
धृत्वा करेण च कटौ परो हयं प्रास्फालयद् रजकवस्त्रवद् भुवि ॥७२॥
धाराप्रपातकृतलोककौतुकस्तेजोवितानविलसच्छतह्रदः ।
कस्याप्यसिर्युधि पयोधरायितो युक्तं द्विषामजनि हंसनाशकृत् ॥७३॥
कस्याप्यपाकृतगुणोऽत्र मार्गणो लक्षाय धावति तदा स धावतु ।
कोटिद्वये सति ननाम यद्धनुः सद्वंशजस्य न तदस्य सांप्रतम् ॥ ७४ ॥
ज्योतिर्मयीभिरिह मूर्त्तिभी रणे व्याप्तेऽभितोऽपि गगने समित्कृताम् ।
नालक्षि दैवतगणैरपि क्षणं व्यक्तं सहस्रकिरणस्य मण्डलम् ॥ ७५ ॥
क्रोधारुणेक्षणरुचीचयाचितं कस्यापि कृष्टमरुचद् धनू रणे ।
कुण्डं हविर्भुज इव स्फुरज्जयश्रीकृष्टये रिपुपशून् जुहूषतः ॥ ७६ ॥
क्रोधप्रधावितरथाङ्घ्रिमर्दनात् त्रुट्यत्करङ्कसविकाशशब्दितैः ।
जीवत्यहो मयि कथं भ्रमन्त्यमी इत्यन्वशेत पतितः किलेतरः ॥७७॥
कुर्वद्भिरन्विह रणे पलायितान् धावद्रथस्खलनतां पदे पदे ।
वीरैर्जहे न बिरुदं पलायितप्राकार इत्यनुगतं मृतैरपि ॥ ७८ ॥
सङ्ग्रामसङ्गमविनोदिवारणप्रोत्क्षिप्तवीरवृतिलोलचेतसाम् ।
स्वर्योषितामपि तदा परस्परामाविर्जभूव दिवि दारुणो रणः ॥ ७९ ॥

---

1 P प्रधावणाय । 2 P मेचाद् प्रयोऽत्र° । 3 P °गुणोऽत्रमार्गणो । 4 K °रथाङ्घ्रि-मर्दनत्रुट्य ।

प्रागेव मा स्म सुरवल्लभा अमुं वृण्वन्निति स्फुरितवेगविस्तराः ।
आलिङ्ग्य वल्लभमपासुमप्युरस्तन्व्यश्रितां[1] प्रविविशुर्भुजाभृताम् ॥८०॥

छत्रैः सिताम्बुजमयीव कुत्रचित् कुत्रापि पल्लवमयीव[3] पाणिभिः ।
कुत्रापि शैवलमयीव[2] कुन्तलैर्भ्रष्टैर्बभौ रणभृतां रणावनिः ॥ ८१ ॥

शस्त्रप्रहारभृशजातमूर्च्छया स्वारोहकेषु पतितेषु भूतले ।
हेषारवैः समितिजातगौरवैर्दुःखाद् विलापमिव वाजिनो व्यधुः ॥८२॥

द्विट्कुम्भिकुम्भ[4]विनिपातिमौक्तिकश्रेणिप्ररूढरुचिराजिभूरभात् ।
वीरश्रियं प्रपरिरभ्य दोष्मतां शय्येव पुष्प[5]खचिता सुषुप्सताम् ॥८३॥

वीरैर्निहत्य विनिपातिता रणक्षोण्यौ[6] बभुः करिवराः पदे पदे ।
सेतोः कृते हनुमतेव चालिताः शैला इवार्धपथ उज्झिता भरात् ॥८४॥

जग्मुर्मृतिं दशशतानि भटा इहेति जल्पन्निवाततकरद्वितयाङ्गुलिभिः ।
नृत्य[7]क्रियामभजतैकतरः प्रवीरः कावन्धिकीमहितवीरविलूनमौलिः ॥ ८५ ॥

इति तिरस्कृतभारतसारते रणभरे स्फुरिते दिनद्वयीम् ।
दिनकरः प्रतिवक्तुमिवावधिं चरमभूमिधराग्रमसेवत ॥ ८६ ॥

शौर्येण प्रतिपक्षपक्षहृदयं स्वस्वामिभक्तव्रते-
श्चेतांसि स्वविभोरसिप्रहृतिभिर्द्विट्कुम्भिकुम्भानपि ।
अङ्गैरङ्गणमाहवस्य विलसत्कीर्त्या च लोकत्रयीं
वीरा व्यानशिरेऽत्र योद्धृविसरश्रेयस्करे संगरे ॥ ८७ ॥

एतस्मिन् समरे वीरा यवनानां महौजसः ।
पञ्चाशीतिसहस्राणि यमावासमयासिषुः ॥ ८८ ॥

म्लेच्छानामथ दोष्मतामधीशितारावादत्तावधिकालपालनासचित्तौ ।
वीरेन्द्रान् कथमप्यमून् निवार्य युद्धाद् भेजाते शिबिरं निजं निजं रयेण ॥८९॥

इति श्रीजयसिंहसूरिशिष्यमहाकविश्रीनयचन्द्रसूरिविरचिते श्रीहम्मीरमहाकाव्ये वीराङ्के दिनद्वयसंग्रामवर्णनो नाम द्वादशः सर्गः समाप्तः ॥

---

1 K स्तन्यश्रितां । 2 K शैवलमयीव कुन्तलैः । 3 K पल्लवमयीव पाणिभिः । 4 K कुम्भतटपा° । 5 K पुष्परचिता । 6 K रणे क्षोणौ । 7 K नृत्त° । 8 K स्वःश्रीकरे । 9 K °वारूढावधि° । 10 K °मध्यभूध्रिवर्त्य ।

अथ त्रयोदशः सर्गः ।

अन्यदाऽथ क्षमानाथः स्फारशृङ्गारभासुरः ।
अलञ्चकार शृङ्गारचातुरीं चतुराशयः ॥ १ ॥
निरीक्ष्य सहसा यत्राम्भोभ्रान्त्या स्फाटिकीः शिलाः ।
वस्त्राण्युत्संवृणोति स्म प्रकृत्य न भयान्न कः ॥ २ ॥
रम्भा ग्रावोद्भवा यत्र वीक्ष्य साक्षाज्जनं स्मरन् ।
फलेभ्यः स्पृहयन्नुच्चैर्नैकशः करमक्षिपत् ॥ ३ ॥
यत्र स्तम्भेष्वराजन्त विचित्राः शालभञ्जिकाः ।
देव्यो नृदेवमालोक्य तद्गुणैः स्तम्भिता इव ॥ ४ ॥
यत्रोत्कृत्तेषु पद्मेषु सिस्वादयिषवो मधु ।
भृङ्गा निपत्य व्यर्थत्वाद् ह्रियेव शितितामगुः ॥ ५ ॥
यत्र स्फाटिकपाञ्चाल्यास्येष्[4]वब्जाध्याश्रितालिषु ।
चकोराः शशभृद्वीक्षा[5]श्रद्धामह्नयप्यपूपुरन् ॥ ६ ॥
यत्कुट्टिमे पदप्रान्तारुणिमप्रतिबिम्बनात् ।
रक्तं क्षौममिवास्तीर्णं पदन्यासाय भूभृतः ॥ ७ ॥
स्फारकर्पूरपारीकं चन्दनक्षोदमेदुरम् ।
मृगनाभिस्फुरन्नाभि यदङ्गणमराजत ॥ ८ ॥
नृपोरःस्थेन्द्रनीला[6]श्मदाम यत्स्फटिकाश्मसु ।
निरीक्ष्य बिम्बितं सर्पभ्रान्त्या लोका[7]श्चकम्पिरे ॥ ९ ॥
अधोनिबद्धभूभागप्रतिबिम्बिततामिषात् ।
भोगीन्द्राणामपि सभां विजेतुं प्रस्थितेव या ॥ १० ॥
*वीरमो*ऽभान्नृपात् तत्र दक्षिणे चारुलक्षणः ।
हासं हासं सृजन् गोष्ठीं *रतिपालो* रतिं दधौ ॥ ११ ॥
परीतो *महिमासाहि*स्त्रिभिरप्यनुजन्मभिः ।
व्यक्ततामभजत् तत्र परमात्मा गुणैरिव ॥ १२ ॥
मार्दङ्गिका मृदङ्गानि वीणामपि च वैणिकाः ।
अपि वैणविका वेणुं यथातालमवीवदन् ॥ १३ ॥
रणद्रेणुझण[8]त्कारानुकारिप्रसरत्स्वराः ।
गायना वीर*हम्मीर*कीर्तिस्फूर्त्तिमगासिषुः ॥ १४ ॥

---

1 P चतुरीं । 2 P उत्संवभार वस्त्राणि प्रकम्पनभयानकः । 3 K °मरन्दास्वा-दनेच्छया । 4 K °ब्जजाध्याश्रिता । 5 K वीक्ष्याप्रीतिमह्नयप्य° । 6 K °नीलाश्म° । 7 K के न चकम्पिरे । 8 K °कारनिकारि ।

मिथोऽपि स्पर्धया वर्धमानत्वादिव संयते ।
दृढं चोलान्तरीयाभ्यां स्तनश्रोणी प्रबिभ्रती ॥ १५ ॥
वपुर्वल्लिविलासेन मूर्च्छयन्तीव कामिनः ।
कूणिताक्षप्रपातेनोज्जीवयन्तीव मन्मथम् ॥ १६ ॥
प्रविश्य तत्र सभ्यानां मनसीव प्रमोदिनी ।
प्रवृत्ता नर्त्तितुं धारादेवी सोत्पश्य नर्तकी ॥ १७ ॥

त्रिभिर्विशेषकम् ।

तस्या लास्येन वेल्लन्तो रेजिरे पाणिपल्लवाः ।
मोहनव्रततेः कामं स्फुरन्तः पल्लवा इव ॥ १८ ॥
गोलकत्रितयोच्छालच्छलेन भुवनत्रयीम् ।
सा जगादेव लोकानां कृतां स्ववशवशायिनीम् ॥ १९ ॥
अङ्गुल्यग्रभ्रमच्चक्रदम्भेन युवतीजने ।
रूपलावण्यसौन्दर्यैः सा दधौ चक्रितामिव ॥ २० ॥
कर्णोपान्तभ्रमच्चक्रव्याजात् स्माहेव तां शशी ।
ममोपमा तवास्यस्य भ्रम एव विपश्चिताम् ॥ २१ ॥
कर्पूरपरि(र)माणूनां व्याजालग्नानि पादयोः ।
भ्रमिभिर्भ्रामयन्तीव रेजे यूनां मनांसि सा ॥ २२ ॥
मयूरासनबन्धेन नृत्यन्ती विलुलोप सा ।
वाच्यं विधेर्मयूरस्य दुःक्रमाधानसंभवम् ॥ २३ ॥
अङ्गहारतया हारलता तस्याः स्तनाग्रतः ।
रराज बिसवल्लीव चक्रचञ्चग्रसंस्थिता ॥ २४ ॥
लास्येन धनुषीवास्याः पश्चाद् वपुषि सन्नते ।
पार्ष्णिसंस्पर्शिनी वेणिर्जीवाभावमजीजिवत् ॥ २५ ॥
सभ्यानामसकृत् तस्यां दृष्टिरापादमस्तकम् ।
चक्रेऽवरोहमारोहं व्रतत्यां वानरी यथा ॥ २६ ॥
ताण्डवं निर्मिमाणेति सा तालत्रुटनक्षणे ।
अधःस्थाय शकेन्द्राय पश्चाद् भागमदीदृशत् ॥ २७ ॥
शकेशस्तेन दूनात्मा सभाध्यक्षमदोऽवदत् ।
धनुर्धरः स कोऽप्यस्ति वेध्यमेनां तनोति यः ॥ २८ ॥
अवदत् सोदरो राजन् ! गुप्तौ क्षिप्तोऽस्ति यः पुरा ।
उड्डानसिंहस्तं हित्वा नान्येनात्र प्रभूयते ॥ २९ ॥

1 K अपवादं विभेसत्य । 2 K किल ।

सद्यः शकेशोऽथानाय्य भङ्क्त्वा निगडसंचयम् ।
द्विधाऽपि स्नेहदानेन तं सज्जाङ्गमचीकरत् ॥ ३० ॥
ततः स सज्जीभूताङ्गोऽनन्यसाधारणं धनुः ।
आदायाहाय तां पापो विव्याध व्याधवन्मृगीम् ॥ ३१ ॥
मूर्च्छामतुच्छामृच्छन्ती बाणघातेन तेन सा ।
उपत्यकायां न्यपतद् दिवो विद्युदिव च्युता ॥ ३२ ॥
नृपादयस्ततो लोकाः क्षणं वैलक्ष्यलक्षिताः ।
धानुष्कतां स्तुवन्तोऽस्य मूर्धानं दुधुवुर्मुहुः ॥ ३३ ॥
तन्मर्म *महिमासाहि*र्बिभ्रद् हृदि परेदिवि ।
शकेशं वेध्यतां नीत्वा *हम्मीर*मिदमब्रवीत् ॥ ३४ ॥
यथादिशति भूनाथो मामिदानीं तदा रिपुम् ।
शरसात् तरसा कुर्वे राधामिव धनञ्जयः ॥ ३५ ॥
नृपो वक्ति हतेऽत्रामा रंस्येऽहं केन संगरे ।
हित्वा तं *महिमासाहे!* जज्जानं धनुर्धरम् ॥ ३६ ॥
शकेशवेध्येऽनासाद्यादेशं दूनमनास्ततः ।
हत्वा तं *महिमासाहि*र्धिगित्यौज्झद् धनुः करात् ॥ ३७ ॥
चकितस्तद्विनाशेन सद्यः सोऽपि शकेश्वरः ।
त्यक्त्वा सरः पुरोभागं तत्पृष्ठे शिबिरं न्यधात् ॥ ३८ ॥
ढौकनानि ततोऽभ्येत्य दायं दायमनेकधा ।
खिन्नोऽसौ दापयामास सुरङ्गां समया गिरिम् ॥ ३९ ॥
उपलैर्मृत्तिकापूरैर्दलिकैस्तृणपूलकैः ।
परिखां पूरयामास सोदरश्चान्यदेशतः ॥ ४० ॥
कियद्भिरप्यथो मासैः सिद्धेऽत्रौपयिकद्वये ।
शका डुढौकिरे योद्धुमादिष्टाः शकभूभुजा ॥ ४१ ॥
विज्ञाय *चाहमाना*स्तत्परिखां वह्निगोलकैः ।
अदहन् जतुतैलं च सुरङ्गायां प्रचिक्षिपुः ॥ ४२ ॥
तेन तैलेन पूर्णायां सुरङ्गायां द्विषद्भटाः ।
उदच्छलन् यथा मीनाः सरस्यां ज्वलदम्भसि ॥ ४३ ॥
चीत्कारान् मुमुचुः केऽपि कण्ठस्थैर्भापिता भटैः ।
यष्टिलोष्टकरैर्डिम्भैरिव श्वानोऽन्धुमध्यगाः ॥ ४४ ॥

1 K धूत्वाङ्घ्रः । 2 K नत्वा हम्मीरमब्रवीत् । 3 P धारामिव । 4 K छित्वा तदेनं जगत्यासौ जयधारशिरोहरः । 5 K °मनेकशः । 6 K चीत्कारानमुचन् । 7 K यष्टिलेष्टु° ।

तत्तैलदग्धसर्वाङ्गा बभूवुर्द्विषतां भटाः ।
क्षणारुणक्रमश्यामतप्तायोगोलसन्निभाः ॥ ४५ ॥
ज्वलदङ्गसमुद्भूतोच्छलत्कीलावलिच्छलात् ।
तेजांस्यपि शकाङ्गेभ्यो नेशुर्दाहभयादिव ॥ ४६ ॥
शकाधीशः शकैरेतां सुरङ्गां यैरचीखनत् ।
अपूपुरन् द्राग् दोष्मन्तस्तेषामेव कलेवरैः ॥ ४७ ॥
इत्थं दुर्गजिघृक्षायै यान् यान् यत्नान् शकेश्वरः ।
असृजत् सततं तांस्तानवकेश्यकरोन्नृपः ॥ ४८ ॥
ततो दुर्गं शकेन्द्रोऽसौ हातुमादातुमक्षमः ।
दिने दिनेऽप्यवासीदहुरगो गिरिकामिव ॥ ४९ ॥
दिवानिशं स योगीवाशेषसौख्यपराङ्मुखः ।
दृष्टिमेकां ददौ दुर्गे परां च क्षितिमण्डले ॥ ५० ॥
दुर्गाग्रहणदुःखाग्निप्लुष्टमस्याथ मानसम् ।
प्रसेक्तुमिव पाथोदः प्रोन्ननाम नभोऽङ्गणे ॥ ५१ ॥
बर्हिणो व्यदधन् केका उन्नीयोन्नीय कन्धराम् ।
आह्वयन्त इवाम्भोदं मिलितुं चिरमागतम् ॥ ५२ ॥
वीक्ष्याभ्युन्नतमम्भोदं केकाव्याजेन केकिनः ।
कदाऽगामीति पप्रच्छुर्हर्षादर्धोक्तिभङ्गिभिः ॥ ५३ ॥[1]
उद्गीते केकिभिर्गीते तूर्यिते घनगर्जिते ।
ननर्त्त नर्त्तकीवोच्चैस्तडिद्गगनमण्डपे ॥ ५४ ॥
सान्द्रोद्गमोल्लसन्नीलतृणश्रेणिच्छलात् क्षितिः ।
मेघप्रियागमप्रीता पर्यधादिव कञ्चुकम् ‡ ॥ ५५ ॥[2]
दधत्यम्बुनिधेः स्पर्धां सरांसीह रराजिरे ।[3]
त्रुटित्वा वारिभारेणाभ्राणीव पतितान्यधः ‡ ॥ ५६ ॥[4]
वियोगिनीनां नेत्राणि व्योम्न्यभ्रपटलानि च ।
मिथः स्पर्धां दधन्तीव वर्षन्ति स्माधिकाधिकम् ॥ ५७ ॥
किरत्यसूचीसंचारा धारा वारिधरे भृशम् ।
वियोगिनीनां लावण्यं जगालेति किमद्भुतम् ॥ ५८ ॥
शम्भोः परिभवात् त्यक्तमधुचापोऽधुना स्मरः ।
वर्षासखस्तडिद्दम्भादसिश्रममिवातनोत् ॥ ५९ ॥

1 K हर्षादर्धोक्ति । 2 P छलादिला प्रियाम्भोदागम । ‡ K प्रतौ श्लोकद्वयं पौर्वापर्येण विपर्ययरूपेणास्ति । 3 K विरेजिरे । 4 K °जलभारेणा° ।

वारिदेन तदा सिक्ता रराजे भूरि भूरियम् ।
कान्तकान्तोपभुक्तायाश्छायाऽन्यैव मृगीदृशः ॥ ६० ॥
अम्भोधरस्य ग्रीष्मर्तुं निर्जित्य विशतः सतः ।
स्फूर्जद्गर्जिच्छलात् प्रादुरासंस्तूर्यस्वना इव ॥ ६१ ॥
अङ्गानि कानि सिक्तानि कानि सेच्यानि वा भुवः ।
इति विद्युत्[1]प्रकाशेन ददर्शेव घनाघनः ॥ ६२ ॥
मालतीकुटजामोदहारी स्पृष्टपयःकणः ।
लतालास्यकलाचार्यो ववौ वर्षासमीरणः ॥ ६३ ॥
क्षेत्रग्रं च साग्रं च गात्रस्नायमपि क्वचित् ।
चेल[2]क्नोपं तदा वर्षन्नहो वन्ध्यं व्यधाद् घनः* ॥ ६४ ॥
यथा यथा जगर्जायं स्तनयित्नुस्तथा तथा ।
प्रियाः शकानां चक्रन्दुर्बाहुजैर्विधवीकृताः* ॥ ६५ ॥
इलामधः कर्दमिलां धारा[3]श्चोपरिपातिनीः ।
विलोक्य यवनाः सेवाव्रते वैराग्यमासदन् ॥ ६६ ॥
अमुञ्चंस्तुरगा रङ्गमगच्छन् कृशतां द्विपाः ।
अभ्युक्षन् स्यन्दना धात्र्यां जनान् दंशा उपाद्रवन् ॥ ६७ ॥
इत्यालोक्याम्बुमुत्कालं साक्षात् कालमिवागतम् ।
यथाकथञ्चित् संधानमचिकीर्षच्छकाधिपः ॥ ६८ ॥
आजुहाव ततो दूतं *रतिपालं* शकाधिपः ।
शकेशः किं किमाहेति *हम्मीरो* ऽप्यन्वमन्यत ॥ ६९ ॥
रतिपाले गते जाते संधाने चलिते शके ।
वृथा नो दोष्मतेत्याप *रणमल्ल*स्तदा रुषम् † ॥ ७० ॥
आयाते *रतिपाले*ऽथ स मायावी शकेश्वरः ।
उपावीविशदेनं स्वासनेऽभ्युत्थानपूर्वकम् ॥ ७१ ॥
अरञ्जयच्च कूटेन मानैर्दानैरनेकधा ।
कूटोपजीविनः किं वा कूटे मुह्यन्ति कुत्रचित् ॥ ७२ ॥
अपवार्य सभास्तारान् भ्रातृमात्रद्वितीयकः ।
रतिपालं जगादेष विस्तार्याग्रे सिचोऽञ्चले ॥ ७३ ॥
अल्लावदीन इत्याख्यः सोऽहं शककुलाधिपः ।
दुर्गाण्यनेकशो येन दुर्ग्राह्याण्यपि जिग्यिरे ॥ ७४ ॥

1 K संपाप्रकाशेन । 2 K चलत्कोपं । * K प्रतौ श्लोकद्वयं पूर्वापरविपर्ययेण लभ्यते । 3 P धाराउपरि । † नास्त्ययं श्लोकः K प्रतौ । 4 K तत्र वेश्येव शकेशो मायितां सृजन् ।

इदानीमस्वसात् कृत्वा यदि दुर्गं व्रजाम्यदः ।
ज्वलदश्युसवल्लीव तन्मे कीर्तिः कियच्चिरम् ॥ ७५ ॥
स्वसात् कर्तुं बलेनैतत् सहस्राक्षोऽपि न क्षमः ।
परं भाग्यात् त्वमायासीः सिद्धमस्मत्समीहितम् ॥ ७६ ॥
तद् यतस्व यथा तूर्णं यथा स्यां सत्यसंगरः ।
एतद् राज्यं तवैवास्तु जयेच्छुः केवलं त्वहम् ॥ ७७ ॥
दुराचारो यदाचारो माया यत्सहचारिणी ।
अनृतं यत्पदन्यासाः क्रोधो यत्पारिपार्श्विकः ॥ ७८ ॥
अत्रान्तरे कलिर्नाम लोभं कृत्वा तमग्रतः ।
विविशे *रतिपालस्य* मनोदुर्गं सुदुर्ग्रहम् ॥ ७९ ॥ *युग्मम्* ।
*रतिपाल*मनोदुर्गं बलाद् गृह्णंस्तदा कलिः ।
शकुन्यभूच्छकेशस्य *रणस्तम्भं* जिघृक्षतः ॥ ८० ॥
अन्तरन्तःपुरं नीत्वा शकेशस्तमभोजयत् ।
अपीप्यत् तद्भगिन्या च प्रतीत्यै मदिरामपि ॥ ८१ ॥
प्रतिश्रुत्य शकेशोक्तं ततः सर्वं स दुर्मतिः ।
विरोधोद्बोधिनीर्वाचो गत्वा राज्ञे न्यरूपयत् ॥ ८२ ॥
देवाहङ्कारलङ्केशो निजगाद शकेश्वरः ।
हम्मीरः किमयं मूढः पुत्रीं मे न प्रयच्छति ॥ ८३ ॥
यद्वा मा दादसौ किन्त्व*ल्लावदीनो*ऽस्मि नो तदा ।
पुत्रीमयच्छतोऽमुष्य नाददे यदि वल्लभाः ॥ ८४ ॥
किं जातं यद्यगुर्वीरा भूयांसोऽपि परासुताम् ।
किं द्वित्रिपदभङ्गेऽपि खर्जूरो याति खञ्जताम् ॥ ८५ ॥
किं जातं नीयते कोशो यदि निःकोशतां व्ययैः ।
किं शुष्यति समुद्रोऽपि वारिभिर्वारिदाहृतैः ॥ ८६ ॥
त्वं रे ! प्रयाहि यत्कर्त्ता कर्त्ता तद्भविता ध्रुवम् ।
भर्त्सनापरमेवं तं निर्भर्त्स्याहमपीयिवान् ॥ ८७ ॥
विशङ्के *रणमल्लो*ऽसौ रुष्टः केनापि हेतुना ।
तेनाज्ञायि ध्रुवं येन दृढां प्रौढिं वहत्यसौ ॥ ८८ ॥

---

1 K वल्लीवत् । 2 K श्याकसिद्धं समीहितम् । 3 P यत्पदं न्यासाः । 4 K गृह्णन् कलिस्तदा । 5 K भगिन्या । 6 P त्वरे ।

तत्सभ्यैर्जनैर्युक्तो गत्वा सायं तदालयम् ।
तं प्रसादय सद्योऽपि किंमान्नोऽसौ शकेश्वरः ॥ ८९ ॥
त्वरयित्वेति भूकान्तं रणमल्लानुरञ्जने ।
वीरमं निकषाभूय रतिपालो विनिर्ययौ ॥ ९० ॥
तदा चास्य मुखाद् गन्धः प्रससार मदोद्भवः ।
अङ्गादन्यप्रियाऽऽश्लेषसंशीत्वर्या इवानिलः ॥ ९१ ॥
दाक्ष्याद् विज्ञायते नैनं संगतं शत्रुभूपतेः ।
नृपं विज्ञपयामास वीरमो रहसि स्थितम् ॥ ९२ ॥
निर्यतोऽस्य मुखाद् राजन्! मदगन्धस्तथा ययौ ।
जाने यथैष पापीयान् निश्चितं संगतो द्विषः ॥ ९३ ॥
कुलं शीलं मतिर्लज्जाऽभिमानः स्वामिभक्तता ।
सत्यं शौचं च न क्वापि जृम्भते मद्यपायिनि ॥ ९४ ॥
अकृत्यकरणागम्यगमनाभक्ष्यभक्षणात् ।
मद्यं विशिष्यते यस्मादस्मात् संपद्यते त्रयम् ॥ ९५ ॥
तथा हि स ऋषिः पीत्वा मधु वेश्यामरीरमत् ।
असिस्वदच्च गोमांसं लिङ्गभङ्गमरीरचत् ॥ ९६ ॥
असिसात् क्रियते स्वामिंस्ततो यद्येष मेषवत् ।
शकेशो[3] निष्फलारम्भः सद्यस्तर्हि प्रयात्यसौ ॥ ९७ ॥
वाचमाचम्य तस्येत्थं विश्रम्य क्षणमायतौ ।
उपाददे नृपो वाचं वञ्चितामृतचञ्चुताम् ॥ ९८ ॥
उदेति काले कस्मिंश्चित् प्रतीच्यामपि भास्करः ।
भज्यमानं परं दुर्गं न तिष्ठेदिति मे मतिः ॥ ९९ ॥
तदस्मिन्निहते जाते दुर्गभङ्गे च दैवतः ।
लोकानिति प्रजल्पाकान् निरोद्धुं कतमः क्षमः ॥ १०० ॥
ध्रुवं सपरिवारोऽपि दुर्मतिर्विभुरेव नः ।
यदेवमविमृश्यैव रतिपालं प्रजल्पिवान् ॥ १०१ ॥
जीवत्यत्र दुर्गेऽस्मिन् विलसन्तीति किं शकाः ।
पारीन्द्रे सति किं तस्य गुहायां कोऽपि दीव्यति* ॥ १०२ ॥
हमूमदयनं यद्वदभविष्यज्जितेऽमुना ।
हतेऽत्र भविता तद्वद् रतिपालायनं क्षितौ ॥ १०३ ॥

1 P विज्ञाप° । 2 P यद्येवमेव तत् । 3 P स शकेशो निष्फलारम्भः । 4 K °मपि ।
5 K दुर्गे किं । * साविकालद्वितीयश्लोकान्तरं K प्रत्यायं श्लोकः—
कुलीनः पीड्यमानोऽपि कुलीनत्वं न मुञ्चति ।
अगुरुर्दह्यमानोऽपि सौरभं किं विमुञ्चति ॥

विरम्यतां तदेतस्माद् भाव्यमस्ति यदस्तु तत्[1]।
रावणादिभिरप्युग्रैर्न भाव्यं रुरुधे यतः ॥ १०४ ॥
उक्त्वेति विरते राज्ञि प्रससार पुरान्तरे ।
वार्ता नृपं शकाधीशो यत्पुत्रीमेव याचते ॥ १०५ ॥
इतश्च राजपत्नीभिरनुशास्य प्रणोदिता ।
पुत्री देवलदेवीति गत्वा[3] भूपं व्यजिज्ञपत् ॥ १०६ ॥
हा हा तात! मदर्थं किं राज्यं विप्लावयस्यदः ।
किं कीलिकार्थे प्रासादं प्रपातयति कश्चन[2] ॥ १०७ ॥
प्रभूता अपि पुत्राः किं कुर्युः पूर्वं ततोऽङ्गजाः[4] ।
परार्थमेव वर्धेत या क्षुद्रश्रीरिवान्वहम् ॥ १०८ ॥
मत्प्रदानेन[5] साम्राज्यं चिरं यत् क्रियते स्थिरम् ।
तत्काचखण्डदानेन रक्षा चिन्तामणेर्न किम् ॥ १०९ ॥
परासोर्यत्र कुत्रापि जीवन्ती[6] तनुजा वरम् ।
दृष्टा हि पुनरावृत्तिर्जीवतां न गतायुषाम् ॥ ११० ॥
नीतिः स्वहितमालोच्य[7] कार्यं कुर्याद् विचक्षणः ।
तत् तात! मयि दत्तायां किं किं भावि न ते हितम् ॥१११॥
जामाता भूपतिस्तादृक् सुखं स्वक्षितिरक्षणम् ।
खलूक्त्वा बहु सर्वेषां वयमपि किलोपरि ॥ ११२ ॥
त्यजेदेकं कुलस्यार्थे नीतिरित्याह वाक्पतिः ।
त्रातुमावर्धितक्ष्मां मां ददतस्तव का क्षतिः ॥ ११३ ॥
तन्निधेहि धियं तस्वे विधेहि समयोचितम् ।
पिधेहि मा च मद्वाक्यं शकेन्द्राय[8] प्रदेहि माम् ॥ ११४ ॥
अयशःपटनिर्माणतुरीं तच्चातुरीमिति ।
श्रुत्वा भृशं प्रजज्वाल[9] नृपतिस्तर्पिताग्निवत् ॥ ११५ ॥
जगाद च सुते! नैतद् ध्रुवं त्वन्मतिवल्गितम् ।
अस्पृष्टपापपङ्कानां कुमारीणां[10] न धीरिति ॥ ११६ ॥
शिक्षयित्वेति पापिन्या त्वमिह प्रेषिता यया ।
छिनद्मि रसनां तस्या बिभेमि स्त्रीवधाच्च चेत् ॥ ११७ ॥
त्वद्दानेन यदीप्स्येत[11] प्राज्यराज्यसुखासिका ।
तत् किं न जीवितव्याशा पुत्रकालेयभक्षणैः ॥ ११८ ॥

---

1 K यदस्ति । 2 K कश्चित् । 3 P गत्वा । 4 P ततोऽङ्गजाः । 5 K मत्प्रदानेन । 6 P जीवन्ति । 7 P स्वयं । 8 K शकेशाय । 9 P सजज्वाल । 10 P °णामधी° °णां न धी° । 11 P यदिप्स्येत ।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे इति नीतिं वदन्न्यधाः ।
शैशवात् तन्न तेऽद्यापि तत्परार्थे समर्थता ॥ ११९ ॥
त्याज्य एकः कुलस्यार्थे तस्माद्धीनतरः स चेत् ।
अहिदष्टो यथाङ्गुष्ठः छेद्यो जिह्वाऽपि किं तथा ॥ १२० ॥
सत्यामप्यासमुद्रोर्व्यां कुले सारं त्वमेव नः ।
न चेच्छकोऽपि तां हित्वा कथं त्वामेव याचते ॥ १२१ ॥
यदूचे मयि दत्तायां किं किं भावि न ते हितम् ।
तदेतदपि ते बाललीलोन्मीलितमङ्गजे ! ॥ १२२ ॥
सर्वात्मना निकृष्टाय पापिष्ठाय गवाशिने ।
शकाय त्वयि दत्तायां कुतो हन्त ! हितार्जनम् ॥ १२३ ॥
अयशःपटहो लोके परलोके च दुर्गतिः ।
स्वकुलाचारविध्वंसो धिङ् नृणां जीवितं ततः ॥ १२४ ॥
दुर्लभं नृभवं प्राप्य द्वयमेवार्जयेत् सुधीः ।
कीर्तिं धर्मं च तौ सम्यक्कुलाचारप्रपालनात् ॥ १२५ ॥
पूर्वाचारं निहत्योच्चैः सुखं हन्त ! चरन्ति ये ।
आज्ञालोपान्न किं पापैर्हतास्तैः पूर्वजा निजाः ॥ १२६ ॥
आचाहमानमप्याद्यैर्यन्नाकृत्यं कृतं पुरा ।
तत् कुर्वन्नधुनाऽहं तान् कथं वक्ता स्वपूर्वजान् ॥ १२७ ॥

[यतः –]

पितर्युपरते यस्तु नोद्वहेत् पैतृकीं धुरम् ।
तेन नैवोपदेष्टव्याः स्वस्य वंशस्य पूर्वजाः ॥ १२८ ॥
बज्रवाचं विधायेति प्रतीपोक्तिरङ्गितैः ।
स्वावासं प्रेषयामास सद्यस्तां क्षितिवासवः ॥ १२९ ॥
इतः स रतिपालोऽपि तूर्णं गत्वा तदालयम् ।
कलयन्नाकुलीभावं रणमल्लमभाषत ॥ १३० ॥
भ्रातः ! किं सुखमासीनस्त्वरस्व प्रपलायितुम् ।
सेवाहेवाकिनां शत्रुर्वञ्चुमभ्येति यद्विभुः ॥ १३१ ॥
सुधांशौ विषवत् तस्मिन्नेतत् सम्भाव्यते कथम् ।
इत्याक्षिप्तवचास्तेन रतिपालः पुनर्जगौ ॥ १३२ ॥
स पञ्चषैर्जनैर्युक्तो यदि सायं त्वदालयम् ।
एति तन्मे वचः सत्यमित्युक्त्वाऽसावगाद् गृहम् ॥ १३३ ॥

1 P [illegible] । 2 K °सेवार्जयत् । 3 K धुराम् । 4 K पूर्वजान् । 5 K प्रपलायसे ।

अथ दृष्ट्वा यथादिष्टमायान्तं स क्षितीश्वरम् ।
जातप्रतीतिरुत्तीर्य दुर्गाद् भीत्याऽमिलद् रिपोः ॥ १३४ ॥
उत्तीर्य *रतिपालो*ऽपि दुर्गात् स्वर्गादिवोच्चकैः ।
शिश्राय निरयावासमिवावासं शकेशितुः ॥ १३५ ॥
तयोस्तच्चेष्टितं दृष्ट्वा कलिं धिक् कलयन्नयम् ।
कोशेऽन्नं कियदस्तीति नृपः पप्रच्छ *जाहडम्* ॥ १३६ ॥
वदामि यदि नास्तीति तदा संधिर्भवेद् ध्रुवम् ।
भाव्यर्थभावाद् ध्यात्वेति जगौ न कियदित्यसौ ॥ १३७ ॥
कुर्वन्नपि हितं मूर्खोऽहितायैव प्रगल्भते ।
अत्रोदाहरणं व्यक्तं किं न पश्यत *जाहडम्* ॥ १३८ ॥
तद्गिरा चिन्तयाऽऽक्रान्तो भूकान्तोऽभ्येत्य मन्दिरम् ।
उच्चन्द्रे विगलत्तन्द्रश्चेतसीति व्यचिन्तयत् ॥ १३९ ॥
अमानैरपि सन्मानैर्दानैस्तैस्तैरनेकधा ।
पूजितौ सत्कृतौ शश्वद् यौ मया भ्रातराविव ॥ १४० ॥
यदि तावप्यहो स्वामिद्रोहमेवं प्रचक्रतुः ।
तदा स्वभावनीचानां परेषां गणनाऽस्तु का ॥ १४१ ॥
साजात्यात् तस्य संगम्य रिपोश्चेन्मुद्गला अमी ।
नियम्य मामदुस्तस्य महद् भावि विडम्बनम् ॥ १४२ ॥
यथा कथञ्चिदर्हास्तद् विसृष्टुं स्वपुरादमी ।
परः प्रेमपरोऽप्युच्चैः परत्वं यन्न मुञ्चति ॥ १४३ ॥
एतस्मिन्नन्तरे द्वाःस्थो विदग्धः कोऽपि मागधः ।
प्रत्यूषोन्मेषकं काव्यद्वयमेतदपीपठत् ॥ १४४ ॥

कोकीनिःश्वासवातज्वलिततमोऽङ्गारवैभातरागा-
र्चिष्मत्स्थव्योममूषाजठरविनिहितेऽपास्तनिःशेषदोषे ।
क्षिप्त्वा प्रत्यूषकल्कं शशभृति विशदे पारदे कालयोगी
भास्वन्तं निर्मिमीते नवमिव कनकं भूषणार्थं दिनस्य ॥ १४५ ॥
आयातेन वितन्वता हृदि करस्पर्शं भृशं प्रेयसो-
न्निद्रत्वं गमिताऽपि तिग्मरुचिना यान्तीव निद्रालुताम् ।
अप्रोढेव सरोजकोशविगलद्भृङ्गावलीझङ्कृतैः
सोत्कम्पं वितनोति पश्य नलिनी प्रोढाऽप्यहो हुङ्कृतिम् ॥ १४६ ॥

---

1 P परः प्रेमदुस्तस्य । 2 K सूक्तद्वयमेतदपापठीत् । 3 K निर्मिमीते ।

प्रीतस्तद्वचसारिम्या नृपस्तत्पारितोषिकम् ।
दत्त्वा क्षणमुपाक्रांस्त ब्राह्ममौहूर्तिकीं क्रियाम् ॥ १४७ ॥
अथ प्रातरधिश्रित्य सभां स क्षितिवल्लभः ।
स्वतत्सहोदराभ्यर्च्यं महिमासाहिमब्रवीत् ॥ १४८ ॥
प्राणानपि मुमुक्षामो वयमात्मक्षितेः कृते ।
क्षत्रियाणामयं धर्मो न युगान्तेऽपि नश्वरः ॥ १४९ ॥
स एव क्षत्रियः प्राणान्तेऽपि यो हुङ्कृतौ क्षमः ।
किं नोदाह्रियते व्यक्तमिह राजा सुयोधनः ॥ १५० ॥
यूयं वैदेशिकास्तद् वः स्थातुं युक्तं न सापदि ।
यियासा यत्र कुत्रापि ब्रूत तत्र नयामि यत् ॥ १५१ ॥
नृपस्य वचसा तेन प्रासेनेव हतो हृदि ।
मूर्च्छया प्रपतन्नुच्चैरवष्टब्ध इव क्रुधा ॥ १५२ ॥
एवमस्त्विति जल्पाको महिमाऽभ्येत्य मन्दिरम् ।
कुटुम्बमसिसात्[5] कृत्वा नृपं गत्वेदमब्रवीत् ॥ १५३ ॥
पाणिगृहीती त्वद्भ्रातुर्गन्तुमुत्कण्ठिताऽप्यसौ ।
इलाविलासिनी कान्तं मामाहेति सगद्गदम् ॥ १५४ ॥
कान्तैतावन्ति वर्षाणि तस्थिवांसो यदोकसि ।
[7]अप्यासानुभवं नैवास्माष्र्म शत्रुपराभवम् ॥ १५५ ॥
यस्य प्रसादैः सम्प्राप्तसौख्यलक्ष्मीर्निरन्तरम् ।
अबोधि नापि तिग्मांशुरुदितोऽस्तमितोऽथ[8] वा ॥ १५६ ॥
तमिदानीमदृष्ट्वैव यद्येवं नाथ ! गम्यते ।
पश्चात्तापहतं तर्हि मनः केनोपशाम्यति ॥ १५७ ॥
प्रसाद्यागत्य तत् सद्यो मन्दिरं मेदिनीपते ! ।
त्वदर्शनामृतैः पश्चात्तापतप्तां निषिञ्चताम् ॥ १५८ ॥
एवमभ्यर्थितस्तेन महिमासाहिना विभुः ।
आलम्ब्य तद्भुजादण्डं सादरं सानुजोऽचलत् ॥ १५९ ॥
आसाद्य तद्गृहं भूपो यावदन्तर्विशत्यसौ ।
कुरुक्षेत्रमिवाद्राक्षीत् तावत् सर्वं तदङ्गणम् ॥ १६० ॥
असृक्पूरे शिरांसीह शिशूनां योषितामपि ।
तरन्त्यवेक्ष्य मूर्च्छालः क्ष्मापालः क्ष्मातलेऽपतत् ॥ १६१ ॥

1 K मावद । 2 K स्थलिष् । 3 K तितिक्षामो । 4 K वचोपेव । 5 K °सात्कृत्वा ।
6 K कान्त° । 7 K अप्यासातु° । 8 P °अपि वा ।

बन्धूनां वीरमादीनां विमूर्च्छोऽधाश्रुसेचनैः[1] ।
लगित्वा महिमासाहेः कण्ठे व्यलपदित्यसौ ॥ १६२ ॥
हा कम्बोजकुलाधार ! हा कीर्तिकुलमन्दिर ! ।
हाऽनन्यजन्यसौजन्य ! हा धन्यतमविक्रम ! ॥ १६३ ॥
हा क्षत्रैकव्रतागार[2] ! हा विश्वजनवत्सल ! ।
कथंकारं भविष्यामि प्राणदोऽप्यनृणस्तव ॥ १६४ ॥
मत्तो नैवाधमः कोऽपि त्वत्तो नैवोत्तमः परः ।
अध्यायं[3] मन्दधीस्तादृगीदृक् प्रेम्ण्यपि यत् त्वयि ॥ १६५ ॥
प्रातिकूल्याद् विधेर्जाता ममेयं यदि दुर्मतिः ।
आश्चर्यमेतत् तत् किं त्वं यद्वा[4] भाव्यं हि नान्यथा ॥ १६६ ॥
पुमानात्महितं कर्तुं धियं ध्यायत्यनेकधा ।
सा[5] सतीव पतिं क्वापि भवितव्यं जहाति न ॥ १६७ ॥
अन्यथैव विचार्यन्ते पुरुषेण मनोरथाः ।
दैवादाहितसद्भावा कार्याणामन्यथा गतिः ॥ १६८ ॥
विनिवृत्तस्ततो मानमञ्जमालोक्य कोष्ठगम् ।
किमेतदिति पप्रच्छ जाहडं जगतीपतिः ॥ १६९ ॥
उक्तायामथ तेनात्मबुद्धौ प्रोवाच पार्थिवः ।
त्वन्मतौ[6] पतताद् वज्रं यया जज्ञे कुलक्षयः ॥ १७० ॥
ततः प्रदाय पौराणां मुक्तिद्वारं स युक्तिवित् ।
प्रवेष्टुं ज्वलने शिष्टमतिरादिष्टवान् प्रियाः ॥ १७१ ॥
स्वयं च कृतदानादिधर्मोऽर्चितजनार्दनः ।
क्षणं पद्मसरस्तीरे निषसाद विषादमुक् ॥ १७२ ॥
आरङ्गदेवीप्रमुखा[7] अथ ता दिव्यभूषणाः ।
तत्र स्नात्वा नृपं नत्वा तस्थुरूर्ध्वंदमाः पुरः ॥ १७३ ॥
कस्याश्चित् कर्णयोः स्वर्णकुण्डले रेजतुस्तमाम् ।
चक्रे इव जगज्जेत्रे रतिकन्दर्पचक्रिणोः[8] ॥ १७४ ॥
बभौ परस्याः कस्तूरीतिलकं कलिकाकृतिः ।
स्मरेण त्रिदिवं जेतुं संहितं धनुषीष्विह ॥ १७५ ॥
नासावंशाग्रतोऽन्यस्या मुक्तं मुक्ताफलं बभौ ।
तिलपुष्पाग्रतो यस्या वारिबिन्दुरिव स्फुरन् ॥ १७६ ॥

1 P °धाश्रु सेचनैः । 2 K °व्रताधार । 3 K अध्ययं । 4 P यद्वा । 5 K क्वापि छायेव सा क्वापि । 6 P त्वद्बुद्धौ । 7 P °देविप्र° । 8 P रतिवल्लभकामयोः ।

कस्याश्चिदुरसि स्फारा मुक्ताहारलता बभौ ।
वितता हासधारेव निर्याता सृक्किणीद्वयात् ॥ १७७ ॥
रेणुसंगभयात् कामस्यन्दनाङ्गमिवावृतम् ।
बभौ नीलदुकूलेन कस्याश्चिच्छ्रोणिमण्डलम् ॥ १७८ ॥
करद्वयाङ्गुलीयानां मयूखैर्वृत्तवर्तिभिः ।
परीता हरिचापाभ्यामिव काचिदराजत ॥ १७९ ॥
आच्छिद्याहितचक्राङ्कयाननाशभयादिव ।
रेजे नियन्त्रणाऽन्यस्याः पादयोर्नूपुरच्छलात् ॥ १८० ॥
ततस्तुष्टो नृपश्छित्त्वा कवरीं स्वां वरीयसीम् ।
मूर्त्तं शृङ्गारसर्वस्वमिव तासां व्यशिश्रणत् ॥ १८१ ॥
पुत्रीं देवलदेवीं च दोर्भ्यामालिङ्ग्य निर्भरम् ।
निर्तरां निःश्वसन् क्रन्दन् कष्टेन महता जहौ ॥ १८२ ॥
ऊचे च चेद् भवेत् पुत्री भूयात् तर्हि भवादृशी ।
परां कोटिं ययाऽनायि गौर्येव जनको निजः ॥ १८३ ॥
स्वर्नारीरूपलुब्धोऽसौ यदि न स्वीकरोति नः ।
तदाऽस्मै प्राक् प्रतीत्यर्थमिमां दर्शयितास्महे ॥ १८४ ॥
इति ध्यात्वेव तां वेणीं हृदि विन्यस्य सुभ्रुवः ।
ज्वलद्धनञ्जयज्वालाकरालां प्राविशंश्चिताम् ॥ १८५ ॥

[स्वःस्त्रीरूपवशीकृतो यदि कदाऽप्यस्मानयं स्वप्रियाः
स्वीकर्त्ता न तदा प्रतीतिमनयाऽस्योत्पादयिष्यामहे ।
ध्यात्वेवेति निधाय तां स्वहृदये वेणिं विभोस्ता ज्वलत्
श्रीखण्डाऽगुरुसारचन्दनचितां सद्योऽप्यविक्षंश्चिताम् ॥ १८६ ॥†]

विसृष्टोऽन्त्याञ्जलीन् तासां दत्त्वा जाजः स भूभुजा ।
आगाच्छित्त्वा द्रुतं क्षिप्ताष्टव्येकाङ्कजमस्तकः ॥ १८७ ॥
किमेतदिति राज्ञोक्ते सोऽवक् राजन्! यथा पुरा ।
रावणः शम्भुमानर्च तथा त्वामर्चयाम्यहम् ॥ १८८ ॥
तच्छिरांसि नवैतानि रक्षोहस्तपदे पुनः ।
शिरो ममेदमित्युक्त्वा से स्वं शीर्षमदीदशत् ॥ १८९ ॥

---

1 K स्फाणि । 2 K नीली° । 3 K शक्रचापा । 4 K दत्तचक्राङ्क । 5 P मूर्त्तं । 6 K नितरां । 7 K स्वस्त्रैणरूपलुब्धा । 8 K °ऽगुरुसारचन्द्रनिचितां । 9 K °विशंश्चि° । † '१८४, १८५' इत्यङ्कचिह्नितश्लोकद्वयस्य पाठान्तररूपोऽयं श्लोकः । 10 K आगाच्छित्त्वा...न शिरा° । 11 P सं च शीर्षं° ।

राज्यार्थी सोदरं हित्वा वीरमः स्थितवानिति ।
जनापवादभीतेन वीरमेण तिरस्कृतम् ॥ १९० ॥
वितीर्य जाजदेवाय ततो राज्यं मुदा नृपः ।
द्रव्यं क्व निक्षिपामीति चिन्तयन् निद्रयादृतः ॥ १९१ ॥
तदा पद्मसरः स्वप्नेऽभ्येत्य भूपमदोऽवदत् ।
म्लेच्छा धनं मयि क्षिप्तं लप्स्यन्ते नाप्यसुव्यये ॥ १९२ ॥
सर्वेऽपि रतिपालाद्या नीचा द्रोहमयासिषुः ।
एते भटा अहं दुर्गस्तुभ्यं द्रुह्यन्ति नो पुनः ॥ १९३ ॥
अथ निर्निद्रभूपालादेशात् सर्वं स जाहडः ।
प्रक्षिप्य सारं कासारे तमूचे किं करोम्यहम् ॥ १९४ ॥
उक्तो निदेशं देहीति श्रीहम्मीरेण वीरमः ।
कूष्माण्डवच्छिरस्तस्य छित्त्वा भूमौ व्यलोठयत् ॥ १९५ ॥
अथ श्रावणमासस्य सितषष्ठ्यां रवौ निशि ।
दिवि कीर्तिं कलन्तीं स्वां विलोकयितुमिवोत्सुकः ॥ १९६ ॥
अहंकारैरिवाध्यक्षैर्मूर्तैर्वीररसैरिव ।
अन्वितो नवभिर्वीरै रणं शिश्राय पार्थिवः ॥ १९७ ॥
आगाद्धम्मीर इत्युक्तिश्रुत्या व्यञ्जितविक्रमः ।
ससैन्यः शकराजोऽपि भेजे तत्राभ्यमित्रताम् ॥ १९८ ॥
एकस्तस्य नृपस्याग्रे वीरमौलिः स वीरमः ।
बभौ चम्पाधिपः प्रौढः कौरवाधिपतेरिव ॥ १९९ ॥
विशिखान् विकिरन् भूरीन् ध्वानयंश्चापमण्डलम् ।
क्षणात् स वीरकोटीरो व्याकुलं द्विट्कुलं व्यधात् ॥ २०० ॥
क्ष्वेडानादैर्द्विषच्चक्रं त्रासयंश्चैणयूथवत् ।
सिंह सिंह इवाध्यक्षो जज्ञे यज्ञेऽत्र वैरिणाम् ॥ २०१ ॥
नयनाग्निशिरोल्काभिः प्रतिवीराननङ्क्षताम् ।
टाको गङ्गाधरः स्वाख्यां सत्याख्यामिह तेनिवान् ॥ २०२ ॥
यवनानां स्फुरद्वक्त्राम्भोजानि म्लानिमानयन् ।
राजदो वा निजाभिख्यां सत्याख्यामिह चक्रिवान् ॥ २०३ ॥

---

1 K दुर्गे । 2 K न कश्चित् । 3 P अपापमिद्र° । 4 K व्यलोठयत् । 5 K [illegible] ।
6 K [illegible] । 7 K नयति स्म यथार्थताम् । † K प्रतौ श्लोकोऽयमधिको [illegible] ।

चत्वारोऽपि व्यराजन्त मुद्गलास्ते स्फुरद्बलाः ।
चतुरङ्गमपि द्वेषिबलं जेतुमिवोद्यताः ॥ २०४ ॥
परान् परःशतान् प्रेतपतेरतिथितां नयन् ।
परमारान्वयं चक्रे क्षेत्रसिंहोऽत्र[1] सार्थकम् ॥ २०५ ॥
रिपुप्राणापहाराय दण्डभृद् दूतिकास्विव ।
क्ष्वेडासु वीरैर्मुक्तासु चकितं दधिरे शकाः ॥ २०६ ॥
सा कीदृगस्ति स्वःश्रीर्या नृपः परिणिनीषते ।
इति द्रष्टुमिवायासीद् वीरमः प्राग् नृपाद् दिवम्[3] ॥ २०७ ॥
वीराः परेऽपि हम्मीरा निर्विण्णा इव जीविते ।
प्रभोः पूर्वं ययुः स्वर्गं स्थितिरेषा भुजाभृताम् ॥ २०८ ॥
मूर्च्छितं महिमासाहिं विभाव्य रिपुपत्रिभिः ।
युद्धाय स्वयमुत्तस्थावथ[4] हम्मीर भूपतिः* ॥ २०९ ॥
अतिधारानिषूनस्य वर्षतः शुचिनाऽमुना ।
शङ्के द्वेषो भवेन्नो चेत् कथमस्यायमन्तकृत् ॥ २१० ॥
संयत्येकोऽपि हम्मीरः परो लक्षत्वमाश्रयत्[5] ।
व्योमासिकृत्तैर्द्विड्वक्त्रैः पद्माकरमिवाकरोत् ॥ २११ ॥
हम्मीराग्निशरश्रेणिपरीताः परितः शकाः ।
अमंसन्त[6] प्रविष्टं स्वं मण्डलं चण्डदीधितेः ॥ २१२ ॥
एकोऽप्यसौ जिगायाशु प्रभूतानपि वैरिणः ।
एणव्यूहं जयन् सिंहः किं सहायमपेक्षते ॥ २१३ ॥
निषादी पदगः सादी रथी वा यो यथाऽमुना ।
निहतः[7] स तथैवास्थाच्चित्रन्यस्त इवोच्चकैः ॥ २१४ ॥
वरीवर्षन्[8] शरासारैस्तपात्ययपयोदवत् ।
नृपः कदर्थयामास वक्त्राम्भोजानि वैरिणाम् ॥ २१५ ॥
भृशं शरप्रपातेनाकुलयन् मत्तवारणम् ।
तदारोढुश्च तस्यापि मदं स उदतीतरत् ॥ २१६ ॥
रतिपालवदेतेऽपि जाता इत्यपवादतः ।
भीता इवास्यारात्यङ्गं भित्त्वा दूरं ययुः शराः ॥ २१७ ॥

---

1 K °सिंहोऽर्थं° । 2 K प्रष्टु° । 3 K दिवि । 4 K तस्थौ ततो । * द्विशताधिकाष्टमश्लोकानन्तरं K प्रतावस्याः प्रतेर्द्विशताधिकचतुर्विंशतितमः श्लोकस्तत उपात्तो लभ्यते । 5 P °माश्रयत् । 6 P अमंसत । 7 K निहितः । 8 K वरिवर्षञ्छरा ।

अत्यर्जुनं धनुर्विद्यावेदिनामपि विद्विषाम् ।
कोदण्डस्थं करस्थं च गुणं चिच्छेद पार्थिवः ॥ २१८ ॥
धनुर्गुणटणत्कारश्रुत्यैव त्यक्तजीविताः ।
द्विषो नान्वभवँस्तस्य शरप्रहरणव्यथाम् ॥ २१९ ॥
नृपेण मध्यतश्छिन्नैर्भूगतार्धैर्द्विषच्छिरैः[1] ।
रणाङ्गणमभाल्लूनतिलक्षेत्रमिवान्तकम् ॥ २२० ॥
शरौघान् क्षिपतस्तस्य शकराजवरूथिनी ।
वसुहीनस्य वेश्येव क्षणेनासीत् पराङ्मुखी ॥ २२१ ॥
नृपः कांश्चिदुरःपूरं पूरयामास सायकैः ।
दूर्वालावं लुलावोच्चैः कांश्चित् खड्गेन मध्यतः ॥ २२२ ॥
वीरोऽसौ समरेऽरीणां तथाऽत्र कदनं व्यधात् ।
यथाऽमीभिर्यमस्यापि संकीर्णमभवद् गृहम् ॥ २२३ ॥
सध्वजान् खण्डयन् दण्डान् व्यध्यन्[2]नश्वान् ससादिनः ।
द्विधाऽपि विग्रहं भिन्दन् [3]सोऽरेश्चक्रे चिरं रणम् ॥ २२४ ॥
अतिधारानिषून् वर्षन् रिपुक्षेत्रेषु भूरिषु ।
चाक्षुषः श्रावणो जज्ञे चित्रं हम्मीरभूपतिः ॥ २२५ ॥

*

श्रीहम्मीरोऽथ वीरव्रजमुकुटमणिर्म्लेच्छबाणप्रहारैः
सर्वाङ्गेषु प्ररूढैः क्षितितलमभितो भावितो[4] भीष्मकर्मा ।
जीवन्तं ग्राहिषुर्मा क्वचिदपि यवना मामिति ध्यातबुद्धिः
कण्ठं छित्त्वात्मनैव स्वमटति[5] च दिवं स्मात्तसूरातिथित्वः ॥२२६॥

॥ इति श्रीजयसिंहसूरिशिष्यमहाकविश्रीनयचन्द्रसूरिविरचिते श्रीहम्मीरमहाकाव्ये वीराङ्के हम्मीरस्वर्गगमनवर्णनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

1 K द्विषच्छैरैः । 2 K व्यधमश्वान् । 3 K सोऽरिश्चक्रे । 4 K मथितो भावितो ।
5 K स्वमटति शिवं ।

अथान्तिमश्चतुर्दशः सर्गः ।

हम्मीरगुणस्तुतिः ।

ताद्दक्षस्य विभोरथ प्रतिभटत्रासैकदीक्षागुरो-
हम्मीरावनिवासवस्य जगतीलोकंपृणप्रोन्नतिम् ।
श्रुत्वा केचन केचनापि सुतरामाकर्ण्य मृत्युं बुधा-
श्चक्रुः काव्यपरम्परामिति तदा कष्टैकमुष्टिंधयाः ॥ १ ॥ 5

धर्मः शर्मपदं मुमोच करुणारण्यं शरण्यं ययौ-
वौदार्यं विजगाल बाललुलितं शिश्राय वीरव्रतम् ।
नीतिर्भीतिमुपाजगाम कमला वैधव्यमुद्रां दधौ
श्रीहम्मीर! नृपालभालतिलक! स्वर्गं गतेऽद्य त्वयि ॥ २ ॥ 10

भूदेवानिदमादिकाञ्चनचयैः कः पूजयिष्यत्यहो
को वा नाम करिष्यति प्रतिपदं षड्दर्शनोपासनाम् ।
को वा पास्यति गोकुलं शककुलैराहन्यमानं रुषाऽ-
स्माकं का गतिरस्तु निस्तुषमते हम्मीर! हा त्वां विना ॥ ३ ॥

गीर्वाणद्रुमधेनुकुम्भमणयः काले कराले कलौ 15
नैव क्वापि किल स्फुरन्ति धरणावेवं यदाहुर्बुधाः ।
तत् सर्वं निरवद्यमेव नितमां मन्यामहे साम्प्रतं
श्रीहम्मीर महीमहेन्द्र! भवति प्राप्ते यशःशेषताम् ॥ ४ ॥

पाताले भुजगेश्वराः सुमनसां व्यूहाः सुपर्वालये
पुष्पौघाः प्रतिकाननं प्रतिसरस्ते राजहंसादयः । 20
एणाक्ष्यः प्रतिमन्दिरं प्रतिपुरं प्रेमातुरा नागराः
शोचन्त्येकमहो हमीर नृपतिं हा हा त्रिलोकीपतिम् ॥ ५ ॥

धैर्यं मेरुगिरिं मतिः सुरगुरुं गम्भीरता सागरं
सौम्यत्वं शशिनं प्रतापसरणिः सूरं हरिं शूरता ।
चिन्तारत्नमुदारता सुभगता शिश्राय कामं क्षणाद् 25
हम्मीरे सुरसुन्दरीस्तनमहाशैलस्खलच्चक्षुषि ॥ ६ ॥

किं कुर्वीमहि किं ब्रुवीमहि विभुं कं चानुरुन्धीमहि
व्याचक्षीमहि किं स्वदुःखमसमं कं वा बभाषेमहि ।
यन्निष्कारणदारुणेन विधिना ताद्दग्गुणैकाकरं
हम्मीरं हरताऽञ्जसा हृतमहो सर्वस्वमेवावनेः ॥ ७ ॥ 30

---

1 K रक्षिति । 2 K प्रोन्नतेः । 3 K नितमा° । 4 K नाशं । 5 K शर्मभरं । 6 P शिश्रीय । 7 K यदूचुर्बुधाः । 8 K °रुन्धेमहि । 9 K सदुःख° । 10 K हरता सता ।

लक्ष्मीर्यास्यति[1] सत्वरं मुररिपोर्देवस्य वक्षःस्थले
वीरश्रीरपि वीरवेश्मनि हरेस्तास्ताः[2] समस्ताः कलाः ।
पौलोमीकुचकुम्भपत्ररचनाचातुर्यचिन्तामणौ
श्रीहम्मीर नरेश्वर! त्वयि निराधारा ह हा भारती ॥ ८ ॥

सन्ति क्षोणिभुजः क्षितौ कति न ते ये स्वप्रियाप्रीतये
वाहं[3] वाहमनेकवाहनिवहान् प्रौढिं दृढां तन्वते ।
म्लेच्छातुच्छकिरीटकोटिघटनैर्यो दन्तुरं सत्वरं
चक्राणः क्षितिमण्डलं स तु परं हम्मीर एकः कलौ ॥ ९ ॥

एधन्तां प्रबलैर्बलैः स्वबिरुदान्नध्यापयन्तां[4] जनान्
गाहन्तां नयवर्त्म[5] मध्यमसमं स्फीतां वहन्तां मुदम् ।
बाधन्तां युधि बाहुजेशनिकरान् प्रौढिं भजन्तां दृढां[6]
एकस्मिंस्त्वयि वीर! नाकमविते स्वैरं वराकाः शकाः ॥ १० ॥

भोक्तुं[7] ध्वाङ्क्षमियेष विक्रमविभुः पङ्कं स जैत्रो जले
मज्जद्द्राग्मलयेणराङ्गरिपुपुरो मार्दङ्गिकत्वं दधौ ।
इत्थं स्वं स्म विडम्बयन्ति कति नो हम्मीर राजन्! परं
यत् त्वं चक्रिथ तच्चकार कुरुते कर्ताऽथवा कः कलौ ॥ ११ ॥

सन्ध्यावन्दनकर्मकर्मठधियो माद्यन्मराला इवा-
मज्जन् पद्मसरोवरे श्रितमुदो यत्रानिशं वाडवाः ।
निःशङ्कं यवना विगन्धिवसनास्तत्र प्रविश्याधुना
कूर्दन्ते महिषा इव क्षितिपते हम्मीर! हा त्वां विना ॥ १२ ॥

ईदृक्षं नरमौलिमण्डनमणिं हत्वा हहा हेलया
दुःसाधं यदसाधि नाम भवता धातस्तदाचक्षताम्[8] ।
नीचानां[9] यदि वेदृशी स्थितिरहो यत् ते प्रयोगं विनाऽ-
प्यन्येषां हितवस्तुराहृतिविधौ[10] शश्वद् यतन्तेतमाम् ॥ १३ ॥

नेत्रे निष्कशतां नितान्तबधिरीभावं भजेतां श्रुती
नो कार्यं युवयोरतः परमहो किञ्चित् क्वचिद् वल्गति ।
याभ्यामेष समीक्षितो गुणगणस्तस्याथवा संश्रुतो
लज्जेतामितरं हहा किमु न ते श्रोतुं तथा वीक्षितुम् ॥ १४ ॥

---

1 P °यांति । 2 K हरे! तास्ताः । 3 K वाहावाह° । 4 P °विरुदान्यध्या° । 5 K नयसिन्धुमनिशं । 6 P समां । 7 K ध्वाङ्क्षं भोक्तुमि° । 8 K तदाचक्ष्यताम् । 9 K पापानां । 10 K हि तु वस्तु संहृति° ।

लोको मूढतया प्रजल्पतुतमां यच्चाहमानः प्रभुः
श्रीहम्मीरनरेश्वरः स्वरगमद् विश्वैकसाधारणः ।
तत्त्वज्ञत्वमुपेत्य किञ्चन वयं ब्रूमस्तमां स क्षितौ
जीवन्नेव विलोक्यते प्रतिपदं तैस्तैर्निजैर्विक्रमैः ॥ १५ ॥
धिग् धिक् त्वां[1] रतिपाल! याहि विलयं रे सूरवंशाधम![2] 5
द्राग् वक्त्रं रणमल्ल! कृष्णय निजं पापिंस्त्वमप्युच्चकैः ।
एको नन्दतु जाज एव जगति स्वाभाविकप्रीतिभृत्
येनात्रायि दिवंगतेऽपि नृपतौ दुर्गं किलाहर्द्वयीम्[3] ॥ १६ ॥
राधेयः कवचं ददौ शिबिरहो[4] मांसं बलिर्मेदिनीं
जीमूतोऽर्धवपुस्तथाऽपि न समा हम्मीरदेवेन ते । 10
येनोच्चैः शरणागतस्य महिमासाहेर्निमित्तं क्षणा-
दात्मा पुत्रकलत्रभृत्यनिवहो नीतः कथाशेषताम् ॥ १७ ॥
द्वौ नञौ[5] प्रस्तुतार्थं प्रवदत इतिवत् क्ष्माभृता द्विः प्रयुक्ता-
मौचित्याद् याहि याहीति वचनरचनां स्वार्थसंस्थां विधाय ।
यस्तिष्ठन्नप्यलुम्पन्न खलु निजविभोः शासनं स्वामिभक्तः 15
ख्यातस्तेनैव नाम्नाऽपि च जयतु चिरं चाहमानः स जाजा ॥१८॥
श्रीकाम्बोजकुलाब्धिवर्धनविधुर्निर्व्याजवीरव्रतोऽ-
हङ्कारैकनिकेतनं स महिमासाहिः कथं वर्ण्यते ।
हित्वैकं तमलक्ष्यमक्षितनयं[6] हम्मीरवीरं तथा
प्राणान्तेऽपि पुरः परस्य न पुनर्यो नानमत्[7] स्वं शिरः ॥ १९ ॥ 20
नैव स्वं स्वेन हन्यादिति कुलचरितं पालयन् यो गृहीतो
जीवन् म्लेच्छाधिपाग्रे सदसि पदतलं दर्शयंश्च प्रविष्टः ।
कर्त्ता त्वं जीवितः किं मयि च तदुदितः प्रोक्तवान् यद्धमीरेऽ-
कार्षीस्त्वं तेन साम्यं कलयति महिमासाहिना कोऽत्र वीरः ॥ २० ॥
आजौ पादतलेन दर्शितवतो हम्मीरभूभृच्छिरः 25
पृष्टस्तेन[8] तदर्पितांश्च गदतस्तांस्तान् प्रसादानपि ।
खलं ते[9] रतिपाल! यच्छकपतिर्निष्कासयामासिवान्
तद् युक्तं त्वमिवान्यथा कति पुनर्द्रुह्यन्ति न स्वामिने ॥ २१ ॥

*

1 K धिक् त्वां रे! रति°। 2 P धीशूर!। 3 K द्वयम्। 4 K शबिरहो 5 K नञौ। 6 K तमलक्षमक्ष°। 7 K °नीनमत्। 8 K पृष्टांस्तेन। 9 K खलखलं रतिपाल! ते शक°।

काव्यकर्तुः प्रशस्तिः ।

जयति जनितपृथ्वीसम्मदः कृष्णगच्छो
विकसितनवजातीगुच्छवत् स्वच्छमूर्तिः ।
विविधबुधजनालीभृङ्गसङ्गीतकीर्तिः
कृतवसतिरजस्रं मौलिषु च्छेकिलानाम् ॥ २२ ॥

तस्मिन् विस्मयवासवेश्मचरितश्रीसूरिचक्रे क्रमात्
जज्ञे श्रीजयसिंहसूरिसुगुरुः प्रज्ञालचूडामणिः ।
षड्भाषाकविचक्रशक्रमखिलप्रामाणिकाग्रेसरं
सारंगं सहसा विरङ्गमतनोद् यो वादविद्याविधौ ॥ २३ ॥

श्रीन्यायसारटीकां नव्यं व्याकरणमथ च यः काव्यम् ।
कृत्वा कुमारनृपतेः ख्यातस्त्रैविद्यवेदिचक्रीति ॥ २४ ॥

तदीयगणनायकः क्रमनमज्जनत्रायकः
प्रसन्नशशभृत् प्रभुर्जयति वादिभेदिप्रभः ।
यदीयपदपङ्कजे भ्रमिरभृङ्गलीलायितं
श्रयन्ति महतामपि क्षितिभृतां सदा मौलयः ॥ २५ ॥

तत्पट्टाम्भोजचञ्चत्तरखरकिरणः सर्वशास्त्रैकबिन्दुः
सूरीन्दुः श्रीनयेन्दुर्जयति कविकुलोदन्वदुल्लासनेन्दुः ।
तेने[1] तेनैव राज्ञा स्वचरिततनने स्वप्नतुन्नेन कामं
चक्राणं काव्यमेतन्नृपतितितिमुदे चारु वीराङ्करम्यम् ॥ २६ ॥

पौत्रोऽप्ययं कविगुरोर्जयसिंहसूरेः काव्येषु पुत्रतितमां नयचन्द्रसूरिः ।
नव्यार्थसार्थघटनापदपङ्क्तियुक्तिविन्यासरीतिरस[2]भावविधानयत्नैः† ॥ २७ ॥

श्रीहर्षामरयोः कविप्रवरयोर्वाक्कल्पवल्लीं निजा-
मुद्यान्तीमभिवर्षतो नवनवैः पीयूषधारारसैः ।
मन्नाग्यानिलखेलनैरपहृता या विप्रुषः काश्चिद-
प्यासामेव निषेकशाद्वलतमः सोऽयं मदुक्तिश्रमः ॥ २८ ॥

जल्पन्त्येके कवीन्द्राः सरसमनुभवादेव कुर्वन्ति काव्यं
तन्मिथ्या हन्त! नो चेत् तदिह विदधतां तद्वतां येऽपि धुर्याः ।
एषोऽस्माकं प्रसादः सततमपि गिरां देवतायाः स्मृतायाः[3]
धत्ते लालित्यमुच्चैः खलु चपलदृशां पुण्यतारुण्यमेव ॥ २९ ॥

---

1 K तेनैतेनैव । 2 K °रसबोध° । † K प्रतौ सप्तविंशतितमे श्लोके पूर्वार्ध-उत्तरार्धयोर्वैपर्यत्यं लभ्यते । 3 P प्रतौ 'स्मृतायाः' इति पाठः पतितः ।

काव्ये काव्यकृतां न चास्त्यनुभवः प्रायः प्रमाणं न चेत्
प्राहुस्ते कविधर्म एष इति किं प्रत्याहतास्तार्किकैः ।
को नामानुबभूव चन्द्रसुरभिं कुन्दोज्ज्वलां कौमुदी-
सीतां कीर्तिमतोऽन्यथोदितगुणस्फीतामकीर्तिं च कः ॥ ३० ॥
वाणीनामधिदेवता स्वयमसौ ख्याता कुमारी ततः
प्रायो ब्रह्मवतां स्फुरन्ति सरसा वाचां विलासा ध्रुवम् ।
कुक्कोकः सुकृती जितेन्द्रियचयो हर्षः स वात्स्यायनो
ब्रह्माङ्गप्रवरो महाव्रतधरो वेणीकृपाणोऽमरः ॥ ३१ ॥
शृङ्गारेऽनुभवो व्यतर्क्यततमां मूढैरिहोच्चैर्यकः
सुप्तः किन्तु स कः पुरेषु यदयं नैकप्रकाशीप्रभा ।
तद्वन्ध्यासुतलालनामिव वृथा वैकल्पिकीं कल्पना-
माकल्पं परिकल्प्य जल्पततमां धैर्यं धियां केवलम् ॥ ३२ ॥
ये शृङ्गारकथां प्रथां विदधते वाचां विलासै रस-
प्रोल्लासान्न[1] समस्ति तेष्वनुभवो येष्वस्ति तेऽन्ये पुनः ।
वर्ण्या ये वदनेषु कुन्दविशदाः स्तम्बेरमाणां रदा
नैते चर्वणसाधनं तदिह ये दुर्लक्ष्यरूपा[2]स्तु ते ॥ ३३ ॥
काव्यं काव्यप्रकाशादिषु रसबहलं कीर्त्तयन्त्युत्तमं यत्
तन्नो भावैर्विभावप्रभृतिभिरनभिव्यक्तमुक्तैः कदाचित् ।
तेनेति व्यक्तमुक्तं सरसजनमनःप्रीतये काव्यमेतत्
कश्चिच्चेन्नीरसोऽस्मिन् भजति बत मुदं नो तदा कोऽस्य[3] दोषः ॥३४॥
वदन्ति काव्यं रसमेव यस्मिन् निपीयमाने मुदमेति[4] चेतः ।
किं कर्णतर्ण[5]र्णसुपर्णपर्णाभ्यर्णादिवर्णार्णवडम्बरेण ॥ ३५ ॥
रसोऽस्तु यः कोऽपि परं स किञ्चिन्नास्पृष्टशृङ्गाररसो रसाय ।
सत्यप्यहो पाकिमपेशलत्वे न स्वादु भोज्यं लवणेन हीनम् ॥ ३६ ॥
कविता वनिता गीतिः प्रायो नादो रसप्रदाः ।
उद्गिरन्ति रसोद्रेकं ग्राह्यमानाः पुरः पुरः‡ ॥ ३७ ॥
प्रायोऽपशब्दादिकृतोऽपि दोषो न चात्र चिन्त्यो मम मन्दबुद्धेः ।
न कालिदासादिभिरप्यपास्तो योऽध्वा कथं वा तमहं त्यजामि ॥ ३८ ॥
प्रायोऽपशब्देन न काव्यहानिः समर्थतार्थे रससेकिमा चेत् ।
वादेऽप्यसौ नो विदधीत किञ्चिद् यदि प्रतिज्ञा विरमेन्न विज्ञः* ॥३९॥

1 P प्रोल्लासोत्र । 2 K दुर्लक्ष° । 3 P कस्य दोषः । 4 K शममेति तापः । 5 K तर्णकर्ण° । † K प्रतौ द्वात्रिंशत्तमः श्लोको नास्ति । ‡ K प्रतौ सप्तत्रिंशत्तमः श्लोकश्चत्वारिंशत्तमश्लोकानन्तरमस्ति । * K नास्ति पद्यमिदम् ।

वाणी वाणीविलासात् प्रसरति विदुषां तेन शब्दापशब्दौ
प्रायश्चेतोविकल्पौ[1] कविमतवशगा शब्दशास्त्रेऽपि सिद्धिः ।
मन्त्वैवं[2] माऽपशब्दं वदत सहृदयाः प्रौढकाव्यप्रयुक्ता
द्वित्राश्चेत् तेन वृद्धिं भजति कथमसौ तर्हि वाग्ब्रह्मकोशः† ॥४०॥

भवन्ति काव्येषु महाकवीनां यत्नैव भावा अशुभाः शुभा वा ।
प्रदर्शितास्ते कतिचित् ततीह न चेन्महाकाव्यमिदं कथं तत् ॥ ४१ ॥

क्षन्तव्य एव कविभिः कृपया प्रमादात् काव्येऽत्र कश्चिदपि यः पतितोऽपशब्दः ।
प्रीतिर्यथाऽस्तु सुहृदामथवा सुशब्दैः किं सा तथास्त्वसुहृदाम[3]पि माऽपशब्दैः ॥

काव्यं पूर्वकवेर्न काव्यसदृशं कश्चिद् विधाताऽधुने-
त्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपतेः सामाजिकैः संसदि ।
तद्भ्रूचापलकेलिदोलितमनाः शृङ्गारवीराद्भुतं
चक्रे काव्यमिदं हमीरनृपतेर्नव्यं नयेन्दुः कविः[4] ॥ ४३ ॥

हंसाः सन्तः क्व येषां गुणपयसि रतिर्नो रतिर्दोषवारि-
ण्यादर्शाः सन्तु किन्तु प्रतिफलति गुणो दूषणं वाऽपि येषु ।
तेऽमी तिष्ठन्तु दूरे क्वचन तितउवो दूषणं कीकसं[5] ये
बिभ्रत्युच्चैरधश्चोज्ज्वलगुणसमिता संचयं विक्षिपन्ति[6]‡ ॥ ४४ ॥

राजानो युधि बद्धविक्रमरसाः कुर्वन्तु राज्यं मुदा[7]
तेषां विक्रमवर्णने च कवयः शश्वद् यतन्तांतमाम् ।
अश्रान्तं च समुल्लसन्त्विह रसैर्वाचः सुधासेकिमाः
स्वादुंकारमिमाः पिबन्तु च रसास्वादेषु ये सादराः ॥ ४५ ॥

पीत्वा श्रीनयचन्द्रवक्त्रकमलाविर्भाविकाव्यामृतं
को नामामरचन्द्रमेव पुरतः साक्षान्न पश्येद् ध्रुवम् ।
आदावेव भवेदसावमरता चेत् तस्य नो बाधिका
दुर्वारः पुनरेष धावतुतमां हर्षावलीविभ्रमः ॥ ४६ ॥

॥ इति श्रीजयसिंहसूरिशिष्यमहाकविश्रीनयचन्द्रसूरिविरचिते श्रीहम्मीरमहाकाव्ये वीराङ्के कविवाक्यवर्णनो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

॥ समाप्तमिदं श्रीहम्मीरमहाकाव्यम् ॥

---

1 P विकल्पः । 2 K मात्वैवं । † K प्रतौ चत्वारिंशत्तमः श्लोकः द्विचत्वारिंशत्तम-श्लोकानन्तरं विद्यते । 3 K °सुहृदामिह । 4 K नव्यं काव्यमिदं हमीरनृपतेश्चक्रे । 5 P कीकशं । 6 P विक्षिपन्ति । 7 K चिरं । ‡ '४३-४४' इत्यङ्कचिह्नितौ श्लोकौ पौर्वापर्येण लिखितौ लभ्येते K प्रतौ ।

शिष्यकृता काव्यकर्तृप्रशस्तिः ।

*

कार्यात् कारणसंविदं विदधते नैकान्तमुत्सृज्य यत्
तत् तेषामिव नोऽपि कर्हिचन किं चेतश्चमत्ताचिकीः ।
नैवं चेन्नयचन्द्रसूरिसुकवेर्वाणीं विधायामृतं
श्रीहर्षं तमथामरं तमपि तत् किं संस्मरेयुर्बुधाः ॥ १ ॥

काव्यानां त्रितयीं व्यरीरचदिमां यां कालिदासः कलां
सृष्टौ गाधिसुतस्य साऽर्हति न चेत् का नाम तत्रास्तु सा ।
चक्रुर्यां कवयो नयेन्दुरमरो हर्षश्च नानारसैः
सर्गे ब्रह्मण एव सा तु घटते तस्यैव संवादतः ॥ २ ॥

नयचन्द्रकवेः काव्यं रसायनमिहाद्भुतम् ।
सन्तः स्वदन्ते जीवन्ति श्रीहर्षाद्याः कवीश्वराः ॥ ३ ॥

लालित्यममरस्येव श्रीहर्षस्येव वक्रिमा ।
नयचन्द्रकवेः काव्ये दृष्टं लोकोत्तरं द्वयम् ॥ ४ ॥

काव्यं काव्ययशोऽर्थिनां रचयतां सम्यक् कृतत्वस्य नो
प्रीयेतोपचयो न चाप्युपचयः कश्चित् कवीनां स्फुटम् ।
यस्माच्छुद्धमशुद्धमाहुरनयोर्विज्ञापनाकारणं
तत् तेषां मनसैव रुद्धमभितः कुत्रावकाशस्तयोः ॥ ५ ॥

यशोऽर्थिनां काव्यकृतां कवीनां पुण्यं च पापं च न किञ्चिदेव ।
पुण्यस्य पापस्य च यन्निदानं मनस्तदेषां यशसैव रुद्धम् ॥ ६ ॥

संवत् १५४२ वर्षे श्रावणे मासि श्रीकृष्णर्षिगच्छे श्रीजय-
सिंहसूरिशिष्येण नयहंसेनात्मपठनार्थं श्रीपेरोजपुरे
हम्मीरमहाकाव्यं लिलिखे । कल्याणमस्तु ।
भद्रं भूयात् संघस्य । ग्रन्थाग्रः १५६४ ।

* *
*

हम्मीरमहाकाव्यदीपिका।
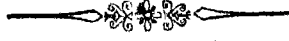
॥ स्वस्ति श्रीगुरुभ्यो नमः ॥ श्रीसरस्वत्यै श्रीविघ्नेशाय च नमः ॥

तरुणतरतरणिकिरणश्रेणीकरणिर्यदीयवाक्सरणिः ।
अज्ञानतिमिरचक्रे पतितस्य श्रीगुरुर्जयति ॥ १ ॥
तात इव सुधीः सर्गे पतिरिव वृत्तौ रसार्थहृद्वेदी ।
एतत्फलः प्रयासो वृत्तिकृतः सुकृतकीर्त्ती च ॥ २ ॥

इह हि श्रीश्वेताम्बरमतगगनकराः श्री**कृष्णर्षिगच्छाम्बुधिकुमुदबन्धवः श्रीजयसिंहसूरि**चरणरेणुपरमाणवः **श्रीमन्नयचन्द्रसूरयः** स्वकविचक्रचक्रवर्त्तित्वख्यापनार्थं श्री**हम्मीरकाव्य**सूत्रं सूत्रयांचक्रुः। तत्र चास्य विवरणकर्तुर्गुरुभक्तिपर्यवसाना श्रेयस्करी प्रवृत्तिराढौकते। अत एव प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः प्रयोजनाविनाभूतत्वमभिद्योतितं भवति। संबन्धश्चात्र वाच्यवाचकलक्षणः सुव्यक्त एव। इत्थमत्र सर्वोऽप्युपोद्घातः शास्त्रमुखसंदर्भे प्रतीयमानः प्रकटीचक्रे। यदुक्तं तत्र कौमुद्यामुपोद्घातलक्षणम्—

स्थानं निमित्तं वक्ता च श्रोता श्रोतृप्रयोजनम्।
संबन्धाद्यभिधानं च उपोद्घातः स उच्यते ॥ १

नायकश्चात्र **हम्मीरदेवः**। 'समग्रगुणः कथाव्यापी नायकः'—इति नायकलक्षणं श्रीहेमाचार्याः [प० १. १] प्रोचुः। नायकभेदश्चात्र धीरोद्धतः। तल्लक्षणं चेदम्—'शूरी मत्सरी मायी विकत्थनः छद्मवान् रौद्रोऽवलिप्तो धीरोद्धतः'—इति। प्रतिनायकश्चात्राल्लाव**दीनः**। रसश्चात्र युद्धात्मा वीरः अङ्गम्। अन्ये शृंगारादयोऽङ्गिनः। बीजं चात्र धर्मादिषु सकलपुरुषार्थेषु परमार्थभूतं श्री**हम्मीरदेवस्य** सत्त्वम्। एतस्मिन् महाकाव्ये प्रतिवृत्तं रसाः भावाः अलंकाराः तदाभासाश्च छंदांसि च यथावृत्तं समर्थयिष्यन्ते।

इह च शिष्टाचारपरिपालनाय शास्त्रादिमङ्गलप्रकटनाय प्रारब्धाविघ्नसमाप्तये च सकलपुरुषार्थफलदातारं समस्तदर्शनध्येयं निखिलवर्णज्ञातिप्रकृतिमनुजमान्यं भव्यान्तःकरणेषु साक्षादिव वसन्तं परमात्मानं श्रीपूज्याः प्रथमपद्ये प्रणिधानविषयीकुर्वते—

१. सदा चिदेति। तदिति कर्म। व(बु)द्धेः वक्तुं ज्ञातुं चाशक्यं परंज्योतिः परमात्मानं वयं उपास्महे। उपासनाविषयीकुर्महे। ननु विगतमानाभिनिवेशाः श्रीगुरवः, तत् कथमात्मानं बहुत्वेन ख्यापयांचक्रुः ? उच्यते। ते सर्वे धर्ममोक्षार्थिनः अहं च प्रक्रान्तशास्त्रसूत्रधारो **नयचन्द्राचार्यः** इति। युगपद्वचने 'परः पुरुषाणाम्' इति कुमारसूत्रेण सिद्धम्। तदुपासनाफल[प० २. १]गर्भितं परंज्योतिषो विशेषणमाहुः—सदेति। **सदा नित्यं चिदानन्दो** ज्ञानानन्दः कैवल्यमिति यावत्। तस्य **महोदयः** **महाप्रादुर्भावस्तस्मिन्**

एकः अद्वितीयः हेतुः कारणं निदानमिति यावत् । यद्वा, सदा चिदानन्दात् कैवल्यात् यो महोदयः मोक्षः तस्य एकहेतुर्मुख्यं कारणं समवायरूपं प्रधाननिमित्तरूपं वा यत् तत्, तत्० तत् । अत्र हेतुशब्दस्य नित्यपुल्लिङ्गत्वात् विशेष्यस्य नपुंसकत्वात् लिङ्गभेदेऽपि न दोषः । यदुक्तं श्री[हे]माचार्यैः—'तदार्जवमहौषध्याज्जगदानन्दहेतुना' इति । अथ उत्तरार्द्धे तदुपासनाफलगर्भितामुपमामाहुः । प्रथमार्द्धगतो हि 'तत्'शब्दो 'यत्'शब्दमपेक्षत इति । यस्मिन् परमज्योतिषि शिवश्रीर्मोक्षलक्ष्मीः रंरमीति । भृशामीक्ष्णतया रमत इत्यर्थः । यङ्लुगन्तं परस्मैपदमिति सिद्धम् । कस्मिन् केव? सरसि हंसीवेति साधर्म्योपमा । साधर्म्यं रमणक्रियापेक्षं चात्र । सर्वात्मकतया साधर्म्ये इदमुपमानमिदमुपमेयमिति द्वैतं संबन्धाभिव्यञ्जकं न स्यात् । सर्वथा ऐक्यापत्तेः । उपमालक्षणं तु 'हृद्यं साधर्म्यमुपमे'त्यूचु[ः] श्रीहेमसूरयोऽलंकारचूडामणौ । अत्र यत् हृद्यत्वं तदेवालङ्कारतया कल्पते । न तु केवलं साधर्म्यमिति परमार्थः । [पृ० २. २] केवलसाधर्म्याङ्गीकार(रे) चन्द्रमुखीवत् घटमुख्यपि स्यात् । वृत्तता-साधर्म्यस्य सत्त्वात् । परंज्योतिषः सरसश्च सश्लेषं विशेषणमाहुः—विशुद्धीति—विशुद्धिं आत्मनो वैमल्यं कृन्तन्ति छिन्दन्तीति विशुद्धिकृतो रागादयः तान् वारयितुं शीलमस्येति तत्, तस्मिन् । 'कृतैत् छेदने' तौदादिके क्विबा सिद्धम् । सरःपक्षे, विशुद्धिकृन्नैर्मल्यकृद् वारि यस्य तत्, तस्मिन् । अलङ्कारश्चात्रोपमा प्रागुक्तैव । रसश्चात्र शान्तस्तृष्णाक्षयं बीजम् । छन्दश्चात्र सर्गे इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः सांकर्यमुपजातिः । यदाहुः छन्दश्चूडामणौ श्रीहेमसूरयः—'तौ जागाविन्द्रवज्रा । जतजागावुपेन्द्रवज्रा ।' एतयोः परयोश्च संकरः उपजातिश्चतुर्दशधा सर्वजातीनामपीति वृद्धा इति । एतन्महाकाव्यं श्रव्यमित्यलङ्कारचूडामणौ । न तु प्रेक्ष्यम् । महाकाव्यलक्षणं चेदम्—'पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वाससन्ध्यवस्कन्धबन्धं सत्सन्धि शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यमिति ।' ॥ १ ॥

पूर्वं सर्वसाधारणं परमात्मानं मङ्गलत्वेनाभिधाय तदनुस्वमतपरमतावपेक्ष्य द्वितीयपद्ये श्रीऋषभं ब्रह्माणं च मङ्गलत्वेनोपाददते—

२. तत् ज्ञानेति । स इति अनन्तगुणभृ[त]त्वाद् अस्मादृशां ज्ञानविषयात् परोक्षः । तच्छ[पृ० ३. १]ब्दस्य परोक्षत्वाभिव्यञ्जकत्वात् । नाभिभूः ऋषभः, नाभेः कुलकरात् भूरुत्पत्तिर्यस्येति । पक्षे, नाभेः विष्णुशरीरावयवाद् भवतीति नाभिभूः ब्रह्मा । वो युष्माकमाराधकानां शिवाय मुक्ताय कल्याणाय वा त्वरतां औत्सुक्याय कल्पतामित्यर्थः । श्लेषेन(ण) द्वयोरप्येकं विशेषणमाहुः—पद्माश्रयः—पद्मानि अतिशयात् देवनिर्मितानि आश्रयश्चरणापेक्षया यस्येति । पक्षे, पद्मं विष्णुनाभिकमलं आश्रयस्तत्र स्थितत्वात् यस्येति वा । पुनर्वैशिष्ट्यं कॢप्तेति—कॢ(कॢ)प्तं कृतं भवस्य संसारस्यावसानं प्रान्तो भक्तानामात्मनश्च येन सः । पक्षे, कॢ(कॢ)प्तं स्वचेतसा स्ववाचा च कल्पितं भवस्य शम्भोरवसानं लिङ्गप्रान्तो येनेति । यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् स इति कः? सन्तः सुधियः यं परब्रह्ममयं परज्ञानमयं कैवल्य-

प्रधानं वाऽऽहुरूचुः । किंविशिष्टाः ? तदिति—तस्य परब्रह्मणो ज्ञानविज्ञाने कृतमवधानं सावधानता यैस्ते ॥ २ ॥

३. अथ च श्रीपार्श्वं विष्णुं च मङ्गलाय श्लेषेणाभिष्टुवन्ति—यशो० । श्रीपार्श्वः अर्हन् । पक्षे, श्रीर्लक्ष्मीः पार्श्वे समीपे यस्येति विष्णुः । अतन्वीं बह्वीं श्रियं मुक्तिलाभरूपां निजसायुज्यपददानरूपां वा वो युष्माकं सेवकानां तनुतात् विस्तारयत्वित्याशीः । विशेषण-[प० ३. २]चतुष्टयी श्लेषद्वये व्याख्यानीया । यशो-दयाभ्यां कीर्ति-कृपाभ्यां स्फीततरा अति-स्थूला प्रवृत्तिः प्रवर्त्तनं विहारो यस्येति । पक्षे, यशोदया नन्दपत्न्या हेतुभूतया कृत्वा योज्यम् । गौः स्वर्गः पृथिवी च तां पालयन्ति ये ते गोपालाः सुरनरेन्द्राः । तेषां माल्या तत्श्रेण्या पूजितचरणाम्बुजः । पक्षे, गाः धेनूः पालयन्ति ये ते गोपालाः बल्लवाः । श्रीवत्सः सामुद्रिकशास्त्रप्रसिद्धं महापुरुषकायलक्षणम् । स एव लक्ष्म चिह्नं यस्येत्युभयत्र तुल्यम् । पुरुषेषूत्तम इति सुबोधम् ॥ ३ ॥

४. उच्चैर्वृषो० । अथ पुनः श्रीवीरं शङ्करं च ऐहिकामुष्मिकविघ्ननाशाय प्रणि-दधति । श्रियं शं च करोतीत्येवंगुणविशिष्टो वीरविभुर्वर्द्धमानस्वामी, विभूत्यै विशिष्टभूत्यै मोक्षलक्ष्म्यै, भवत्विति क्रियापदं कर्त्तुः शक्तिबलाद् गम्यते । पक्षे, विशेषेण ईरयति गजपूषादीन् इति वीरः । एकरूपेण त्रि(त्रै)काल्यव्यापी विभुः । समस्तमूर्त्तसंयोगी वा विभुः । वीरश्चासौ विभुश्च सः । एवंगुणविशिष्टः श्रीशङ्करः श्रीमहेशः विभूत्यै लक्ष्म्यै अणिमाद्य-ष्टविधायै वा भवतु । अन्यद्विशेषणषट्कं पक्षद्वये योज्यम् । उच्चैरुन्नतः वृषो धर्मो महाव्रत-लक्षणो यस्येति स वर्द्धमानः । शङ्करपक्षे, उच्चैर्वृषो [प० ४. १] बलीवर्दो वाहने यस्य सः । दर्पकः कामः तस्य दर्पं मानं हरतीत्येवंश(शी)ल उभयत्र तुल्यम् । शिवैर्मङ्गलैरनुयातोऽनु-गतः । पक्षे, शिवया गौर्या । विलसन्ती विभूतिः श्रीरतिशयप्रातिहार्यादिका यस्मिन्निति । पक्षे, विलसन्ती विभूतिरणिमादिका, भस्म वा यस्मिन् । शुभ्रा निर्मला स्थितिराचारो यस्येति । पक्षे, शुभ्रोज्ज्वला स्थितिः कायसंस्था यस्येति । निर्दलितः क्षपितः स्वकायकान्त्या सूर्याचन्द्र-मसोर्युगपदागमनेन वान्धकारं तमो येन सः । पक्षे, निर्दलितान्धकस्य दैत्यविशेषस्यारो भ्रमणं येनेति ॥ ४ ॥

५. सच्चक्रेति । स इति स्मृतिविषयमुपनीतः । शान्ति[:] षोडशस्तीर्थकृत् । शम्या-न्मरकमित्याशास्यमानः शान्तिः । अघानि पातकानि शमयतु । शाम्यन्त्यघानि तानि शा-म्यन्ति(?) श्रीशान्तिः प्रयुंक्ते । प्रयोक्तृव्यापारे णिग् । 'शमोऽदर्शने' इति हैमसूत्रेण ह्रस्वत्वं सिद्धम् । पक्षे, भास्वान् सूर्यः अघानि शमयतु प्राग्वत् । किंभूतः श्रीशान्तिः ? भास्वान्—देदीप्यमानः भाः विद्यते यस्येति । किंभूतो भास्वान् ? सशान्तिः सह शान्त्या वर्त्तते इति । किं०ष्टः शान्तिः ? सत् शोभनं अमोघं चक्रं सार्वभौमचिह्नं यस्य सः । प्रीतिकरैः एवंभूतैः प्रभाविभिः सातिशयैः प्रभाविशेषैः [प० ४. २] कान्तिविशेषैः, सुभगंभविष्णुः—असुभगः सुभगो भवत्यनेनेति सुभगंभविष्णुः । 'नग्नपलिते'ति सूत्रेण सिद्धम् । सूर्यपक्षे, प्रभाः

चक्रवाकाः पक्षिविशेषाः । 'चक्रवाको रथांगाह्व' – इत्यभिधानचिंतामणिः । पु० किं०ष्टः ? सम्यक्प्रबोधस्य सम्यग्ज्ञानस्य यत् प्रथनं विस्तारः, तत्र प्रभूष्णुः–प्रभवितुं शीलमस्येति प्रभूष्णुः । भूजेः ष्णुरिति सिद्धम् ॥ ५ ॥

६. महेशेति । समुद्रजन्मा नेमीश्वरः । समुद्रात् यदुनृपात् जन्म यस्येति । शशभृत्- श्रिये चन्द्रलक्ष्म्यै अमृतकलायै स्तात् भवतु । श्रिये इति तादर्थ्ये चतुर्थी । पक्षे, शशिभृत् चन्द्रः श्रिये शोभायै स्तात् । किंभूतः ? समुद्रात् सागरात् जन्म आविर्भावो यस्य सः । विशेषणपञ्चकं पक्षद्वये योज्यम् । महान्तश्च ते ईशाश्च महेशाः । वृ(पृ?)षोदरादित्वात् सिद्धम् । महेशानां सुरनरेन्द्राणां चूडामणिभिर्मुकुटरत्नैः चुम्ब्याः चुम्बनार्हाः पादाः क्रमाः यस्य सः । चुम्बन इव परस्पराश्लेषत्वात् उपचारात् लक्षणया चुम्बनशब्दः प्रवृत्तः । पक्षे, महेशस्य शम्भोः चूडामणौ चुम्बनार्हाः पादाः किरणाः यस्य सः । अभ्रान्ता भ्रान्तिरहिता स्थितिर्व्यवस्था यस्य सः । पक्षे, अभ्रस्याकाशस्यान्ते स्थितिरवस्थानं यस्य सः । स्फीतः प्रवृद्धः आमेरोः शुभप्रचारः शुभगमनं यस्य सः । पक्षे, स्फीतः प्रवृद्धः सूर्यात् त्रयोदशगुणः सुतरां भेषु नक्षत्रेषु प्रकृष्टश्चारो यस्येति । महद्गुरु महस्तेजो यस्य सः । उभयत्र योज्यम् । तमः पातकम् । पक्षे, अन्धकारम् । शुभ्रशब्दस्य यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोः शसयोर्न[प० ५.१] भेदः इत्यदोषः । महामहेति 'आकारो महतः कार्ये'ति कुमारसूत्रेण सिद्धम् ॥ ६ ॥

स्वपरमतावपेक्ष्य देवसमुदायं संस्तूयाधुना शब्दाधिदेवतां नदीं च श्लेषेण मङ्गलाया- भिष्टुवन्ति –

७. लसत्केति । सरस्वती शब्दाधिदेवता नदी च । नोऽस्मान् गौणकर्मतापन्नान् प्रसत्तिं प्रसादं नैर्मल्यं च नयतात् प्रापयतु । द्विकर्म्मको धातुः । किं०ष्टा सरस्वती ? लसद्भिर्दीप्यमानैः कविस्तोमैः कविसमूहैः कृता उर्वी गरिष्ठा भक्तिर्यस्याः । नदीपक्षे, कं पानीयं विः पक्षी लसद्भिः कविस्तोमैर्जलपक्षिसमूहैः कृता उर्वी भक्तिर्विच्छित्तिर्यस्याः सेति । पु० किं०ष्टा ? अलीकलीलया मृषालीलया सुभगंभविष्णुः – असुभगा सुभगा भवति अन- येति सुभगंभविष्णुः । एवंभूता न, किं तु सत्येति । नदीपक्षे, नालीकं कमलं तेषां लीलया । 'बिश(बिस)प्रसूनं नालीक'मिति हैमकोशः । पु० किं०ष्टा ? स्वदर्शनेन आत्माविर्भावेन त्रिजगत् विश्वं पुनाना पवित्रयन्ती । पक्षद्वये तुल्यम् । पुनानेति – 'पूङ् यजः शानः' इति हैमसूत्रेण सिद्धः । अत्र वृत्तषट्के श्लेषोऽलंकारः । तल्लक्षणम् – 'अर्थभेदे भिन्नानां शब्दानां भंगाभंगाभ्यां युगपदुक्तिः श्लेषः' – इत्यलंकारचूडामणौ ॥ ७ ॥

८. आदिमंगलमभिधाय ग्रन्थकथासूचकं पद्यमाहुः – **मान्धातृ इति** । नाम इति संभवामि । क्षितौ भूमौ क्षितीन्द्राः नृपाः कति [प० ५.२] नासन् बभूवुः । मान्धाता कृतयुगे । शीताप्रतिः रामः त्रेतायुगे । कंको युधिष्ठिरः द्वापरे । मांधाता च सीतापतिश्च कंकश्च ते एव मुख्याः येषां ते । तेषु नृपेषु सत्त्वगुणेन निर्धारितः एषः समीपवर्त्ती कलि-

युगोत्पन्नः एकः हम्मीरमहीभृत् नृपः परं प्रकृष्टं स्तवार्हः स्तुतियोग्यो वर्तते इति योज्यम् ॥ ८ ॥

९. **सत्त्वैकेति**। किल इति सत्ये। यस्य **हम्मीरदेव**स्य सत्त्वगुणे एका वृत्तिः वर्तनं यस्य सः, तस्य । शकाय **अल्लावदीन**राज्ञे पुत्रीं **देवलदेवीं** शरणागतान् **महिमासाहि**-प्रभृतींश्च अप्रयच्छतः अददानस्य राज्यश्रियो राज्यलक्ष्म्यः विलासा भोगाः जीवितं चापि किं तृणमपि अभूवन् । अपि तु तृणमपि न बभूवुः । 'किं'शब्दो निषेधार्थः । अत्र सत्त्वगुणस्य अतिशयख्यापनात् अतिशयोक्तिरलंकारः । लक्षणं चेदम्—'विशेषविवक्षया भेदाभेदयोगायोगव्यत्ययोऽतिशयोक्तिः' ॥ ९ ॥

१०. **अत इति**। हेतुकथनम्। हेतुश्चात्र सत्त्वगुणव्यावर्णनात् पुण्यार्जनम्। अहं **नयचन्द्राचार्यः** अस्य **हम्मीरदेव**स्य। किंचित् स्तोकम्—किमप्यल्पं चिनोतीति किंचित्। चरितं आचारं राजन्यानां नृपाणां पुपूषया पवितुमिच्छया प्रवक्तुमिच्छामि । पुपूषयेति 'पूंङ्‌ पवने' इति धातोः सन्नन्तेन सिद्धम् । किल इति सत्ये । तदीयाः **हम्मीरदेव**सम्बन्धिनस्ते ते औदार्यादयो ये गुणाः तेषां गौरवं गुरुत्वं तेन । कर्णजाहं कर्णमूलं विगाह्य नुन्नः प्रेरितोऽहम् । कर्णजाहमिति [पा० ६. १] 'कर्णादेर्मूले जाह' इति सिद्धम् ॥ १० ॥

११. अथाचार्यः आत्मानं अल्पं ख्यापयन्नाह—**क्वैतस्येति**। एतस्य राज्ञो **हम्मीर**स्य सुमहत् सुतरां महत् गरिष्टं चरित्रं क्व । पुनश्चार्थे । अणुरेव सूक्ष्मैव एषा मे धिषणा प्रज्ञा क्व । क्व शब्दो महदन्तरे, विषमालंकारज्ञापकः । ततः किं सिद्धम्? अतिमोहात् अतिमौढ्यात् । मुग्धोऽहम् एकया भुजया बाहुना, एवशब्दोऽवधारणे, महासमुद्रं तितीर्षामि तर्तुमिच्छामि । भुजशब्दः पुंस्त्रीलिंगः । विषमोऽत्रालंकारः । लक्षणमिदम्—'क्रियाफलाभावोऽनर्थश्च विषमम्' ॥ ११ ॥

१२. यद्यशक्यानुष्ठानमेतत् तर्हि कथं कर्तुमुद्यत इत्यत्रार्थे हेतुमाह—**गुरुप्रसादादिति** । यदि वा पक्षांतरे। तदीयं—तस्येदम्। तदीयं **हम्मीर**सम्बन्धि यत् वृत्तं शीलं तस्य स्तवनं विधातुं कर्तुं गुरुप्रसादात् शक्तोऽस्मि । अत्र प्रतिवस्तूपमालंकारगर्भितम् । उत्तरार्द्धे प्रतिवचनमाह—सखेलं सलीलं यथा स्यादेवं तथा मृगो हरिणः ख आकाशे किं न खेलति? अपि तु खेलति । मृगस्य आकाशखेलने हेतुमाह—सुधाकरस्य चन्द्रस्य उत्संगे सरङ्गः सस्नेहलो यो योगः सम्बन्धः तस्मादिति। अलंकारः प्रा[ग्] उक्त एव। तल्लक्षणं वाग्भट आह—

अनुपात्ताविवादीनां वस्तुनः प्रतिवस्तुना ।
यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥

१३. **हम्मीर**नराधिपः बभूव यत्, यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात्, तद्धेतोः पुरा प्रथमं तदीयां **हम्मीर**सम्बन्धिनीं उत्पत्तिं प्रादुर्भावं अहं [पा० ६. २] **नयचन्द्राचार्यः** वच्मि ब्रवीमि । किं०ष्टः नराधिपः? श्री**चाहमानान्वयो** चाहमानवंशः तस्य मौलौ मस्तके

मौलिर्मुकुटं यः सः । कीदृशीमुत्पत्तिम् ? उत्पादितहर्षहेलाम् । उत्पादिता हर्षस्य हेला लीला यया सा, ताम् । कुतो वच्मि इत्याह — ऐतह्यतः पुरातनीवार्त्तायाः । 'वार्त्तैतह्यं पुरातनी' इति हैमः कोशः ॥ १३ ॥

१४. ऐतह्यमेवाह — **यज्ञायेति** । किलेत्याप्तप्रवादे । आदाविति युगादौ, कल्पादौ, पूर्वं वा । भ्रमतो विधातुर्ब्रह्मणः पाणिपद्मात् करकमलात् आशु तूर्णं पुष्करं कमलं प्रपेतिवत् पपात । 'तत्र क्वसु कानौ तद्वत्' इति हैमसूत्रेण परोक्षावत् सिद्धम् । विधातुर्भ्रमणे तु मंत(त्र?)गूढं तादर्थ्यमाह — क्वचन कस्मिंश्चित्स्थाने यज्ञाय यज्ञार्थं पुण्यं पवित्रं प्रदेशं क्षेत्रं ईक्षितुम् । उत्प्रेक्षते — पुष्करं अस्य पाणिपद्मस्य भासा कान्त्या पराभूतमिव जितमिव । अन्योऽपि पराभूतः पततीति वस्तुगतिः । उत्प्रेक्षालंकारः । लक्षणं चेदम् — 'असद्धर्म्मसंभावनमिवादिद्योत्योत्प्रेक्षा' इति अलंकारचूडामणौ सूत्रम् ॥ १४ ॥

१५. **तत इति** । ततः आनन्तर्ये । इह पुष्करपातलक्षणं शुभं स्थानं विभाव्य विमृश्य अयं ब्रह्मा स्थानलाता(भा)त् अपास्तदैन्यः गतदैन्यः प्रारब्धयज्ञः आरब्धयागश्च स्मेरस्य दीप्तस्य सहस्ररश्मेः सूर्यस्य सस्मार । सूर्यस्मरणे कारणमाह — किं कृत्वा ? दनुजव्रजेभ्यः दैत्यसमूहेभ्यः भीतिं भयं विशंक्य अनिष्टमुत्प्रेक्ष्य । दनुर्दैत्यमाता तया [प० ७. १] जाता दनुजाः, तेषां व्रजाः समूहाः, तेभ्यः । सहस्ररश्मेरिति स्मृत्यर्थे कर्म्मणि षष्ठी । दनुजव्रजेभ्य इति । पञ्चम्यपादाने इति । अपादानं भयहेतौ संभवति ॥ १५ ॥

१६. **अवातरदिति** । अथ अनन्तरं भासां पत्युः सूर्यस्य मण्डलतो बिंबात् पुमान् पुरुषः अवातरत् अवततार । कीदृशः पुमान् ? उद्यतः उत्पाटितो मंडलाग्रः खड्गो येन सः । तं च पुरुषं आतु(शु) शीघ्रं अदसीयरक्षाविधौ अभिषिच्य उत्तरसाधकीकृत्य एषः ब्रह्मा सुखेन विघ्नराहित्येन मखं यज्ञं व्यधाच्चकार । अमुष्यायं अदसीयः । अदसीयो यो रक्षाविधिः त्राणविधिस्तस्मिन् । 'दोरीयः' इति हैमसूत्रेण अदस्शब्दात् अदसीय इति सिद्धम् ॥ १६ ॥

१७. **पपातेति** । अत्र स्थाने पाणेर्हस्तात् पुष्करं कमलं पपात यत्, ततो हेतोः एतत् प्रसिद्धं समीपवर्त्ति पुष्करं तीर्थं ख्यातम् । च पुनः यद्धेतोः अयं पुमान् पुरुषः लघु शीघ्रं वीक्ष्यमाणः अभिलष्यमाणः अगात् आजगाम । अतः अस्माद्धेतोः स पुमान् **चाहमानः** इति अख्यायि पप्रथे । 'चाहीतउ' इति देशभाषया लोकोक्तिः ॥ १७ ॥

॥ **इति श्लोकचतुष्टये कथाकथनम्** ॥

*

१८. **तत इति** । ततः आनन्तर्ये । स **चाहमानः** क्षत्रियः चतुर्वक्त्रभवात् ब्रह्मोत्पन्नप्रसादात् सम्राजो भावः साम्राज्यं सार्वभौमत्वं आसाद्य प्राप्य गुरून् गरिष्ठानपि भूभृतो नृपान् आशु तूर्णं अर्कवत् सूर्यवत् पादाक्रान्तान् चरणमर्दितान् चक्रे चकार । [प० ७. २] यथा अर्कः सूर्यः भूभृतः पर्वतान् पादाक्रान्तान् किरणाक्रान्तान् करोति । उपमाश्लेषयोः संकरः । हेतोर्गम्यमानत्वात् । यतः अयं सूर्यः अस्य चाहमानस्य वप्ता जनयिता पितेत्यर्थः । पितुर्गुणविशिष्टः पुत्रो भवतीति न्यायः । उपमाश्लेषहेतूनां संकरोऽलंकारः ॥ १८ ॥

१९. **स्वदानेति** । स इति परोक्षकालवर्त्ती बलिर्वैरोचनिः दैत्यराजः यस्य चाह-मानस्य दानं समवेक्ष्य दृष्ट्वा पातालबिलं सिषेवे सेवयामास । पातालसेवाहेतुगर्भितं दानस्य विशेषणमाह—स्वदानेति । स्वदानात् जन्म यस्य तदेवंभूतं उरु गरिष्ठं यत् यशः तेन अर्जिता या श्रीः शोभा तां विलुम्पन्तीत्येवंशीलं यत्, तत् । अतिशयोक्तिः । अत्रार्थे अर्था-न्तरन्यासमाह—त्रपातुराणां लज्जार्त्तानां नीचैरवस्थानात् अपरा अन्या का गतिः? सैव गति-रित्यर्थः । अतिशयोक्ति-अर्थान्तरन्यासयोः संकरः ॥ १९ ॥

२०. **त्वमिति** । येन चाहमानेन रुषा कोपेन शशी चन्द्रः इति रुद्धः सन् दिव्यं प्रदातुमिव आत्मानं सत्यापयितुमिव । रवेर्बिम्बं मासि मासि प्रविश्य निर्गच्छति, अन्योऽपि दिव्य-दाता अग्नौ प्रविश्य निर्गच्छति । इतीति किम्? रे पाप! त्वं मदीयां कीर्त्तिं कामयसे अभिलषसि रमसे वा? अन्योऽपि परस्त्रीरन्ता पापशब्देन व्यपदिश्यते । भर्त्रा रुद्धश्च दिव्यं ददाति । अहं तव कीर्त्तिं न कामये इति दिव्यदाने हेतुः । कीर्त्तेर्हीनतरश्चन्द्रमा इति उपमातिरस्कारः । उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्त्योः संकरः ॥ २० ॥ [पृ० ८. १]

२१. **प्रतापेति** । यस्यायं यदीयः । दोरीय इति । चाहमानसम्बन्धी प्रतापवह्नि-र्ज्वलितः सन् द्विषत्कीर्त्तिवनानि शत्रुकीर्त्तिवनानि तथा अधाक्षीत्, तथा दहति स्म । वह्नेर्वन-दहनस्वभावत्वात् । यथा येन प्रकारेण वियदाकाशं कालिमानं रागद्रव्यसंयोगं अद्यापि न जहाति न त्यजति । कुतः? तदुत्थधूमाश्रयतः । तस्माद् वह्नेः उत्थः उत्पन्नः यो धूमः वह्निचिह्नं तदाश्रयस्तत्सम्बन्धादिति हेतुकथनम् । पूर्वार्द्धे रूपकम्, उत्तरार्द्धे अतिशयोक्तिः ॥ २१ ॥

२२. **निशम्येति** । सुप्रीतमनास्तुष्टमनाः शेषो नागराजा महीतलध्वंसभिया भूतल-विनाशभयेन स्वं शिरः मस्तकं अकंपयन् अधुन्वानः तापं क्लेशं अवाप प्राप । सुप्रीतमनसः प्रीतिलक्षणमप्रकटयतः तापो भवतीति व्यवहारः । प्रीतमनस्त्वस्य यश(शो)गर्भितं हेतुमाह—यदीयां कीर्तिं निशम्य श्रुत्वा । कीदृशीं कीर्तिम्? विचित्रैर्नानाविधैः उरुभिर्गरिष्ठैः चरित्रैः रम्या या सा ताम् । अतिशयोक्तिरलंकारः ॥ २२ ॥

२३. **जयश्रिया इति** । यश्चाहमानः युधि संग्रामे अवाचीपवनायितोऽपि दक्षिण-दिक्वाताय(यि)तोऽपि मलयानिल इव आचरितोऽपि द्विजिह्वान् सर्पान् न सुखाचकार । न सुखाकरोति स्म । आनुकूल्येन सुखिनः करोति सुखाकरोति इति चित्रम् । 'प्रियसुखादानु-कूल्ये' इति हैमसूत्रेण सिद्धम् । अन्योऽपि मलयानिलायितः द्विजिह्वान् सुखाकरोति, अयं तु न तथा इति विरोधः । विरोधपरिहारे द्विजिह्वान् पिशुनान् इति । 'पिशुनस्सूचको नीचो [पृ० ८. २] द्विजिह्वो मत्सरी खलः ।' इति हैमः कोशः । विरोध-श्लेषयोः संकरोऽलंकारः । शतृप्रत्ययेन मलयानिलधर्मं कर्तरिशब्दशक्तिमूलेन ध्वनिना आरोपयति । निकाममत्यन्तं जयश्रिया जयलक्ष्म्या ध्वनिना भार्यारूपया प्राप्तो लब्धः महावियोगः आत्यन्तिकासंयोग-लक्षणः यैस्ते, तान् । एवंभूतान् वैरिगणान् संमूर्च्छयन् मूर्च्छापन्नान् कुर्वन् । मूर्च्छा व्याधि-विशेषः, तदधीनान् कुर्वन् । यः खलु मलयानिलः स स्त्रिया वियुक्तान् मूर्च्छयति ॥ २३ ॥

२४. प्रत्यर्थेति । यश्चाहमानः, किल इति निश्चये, अम्बुराशेः समुद्रस्य, गाम्भीर्य-लक्ष्मीं अमर्षात् इति हरति स्म । राज्ञः लक्ष्मीहरणे हेतुमाह — अस्य समुद्रस्य सूनुः शशी चन्द्रः मद्यशसा प्रस्पर्द्धते साम्यमभिलषति । अन्योऽपि यः राजगुणेन स्पर्द्धते स राज्ञः दण्ड्यो भवति इति न्यायगर्भितं तुर्यपादं अर्थान्तरन्यासमाह । किं न सुतापराध इति सुगमम् । गूढोपमा-अर्थान्तरन्यासयोः संकरः । 'तेन स्पर्द्धते, तेन द्वेष्टि, तत्तुल्यकक्षां विगाहते' इत्यादयः शब्दाः गूढोपमाव्यञ्जकाः ॥ २४ ॥

२५. तदाख्यया इति । तस्य चाहमानस्य आख्यया नाम्ना, चाहमानवंशोऽन्वयः अजायत उत्पेदे । त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी । तया जनिता निष्पादिता प्रशंसा स्तुतिर्यस्येति वंशविशेषणम् । शश्वत् निरन्तरं, सुपर्वाणा देवाः, तेषां आवल्या श्रेण्या सेव्यमानः । नरा एव मौक्तिकानि तेषां उत्पत्तिहेतुः कारणम् । अत्र वंशशब्दः श्लेषेन(ण) वेणुना व्यपदिष्टः । [प० ९. १] वेणौ पर्वाणि ग्रन्थयः भवन्ति, मौक्तिकानामुत्पत्तिकारणं च । यदुक्तं रत्नकोशे — 'जीमूतकरिमत्स्याहिशंखवेणुवराहजाः ।

शुक्त्युद्भवाश्च विज्ञेया अष्टौ मौक्तिकजातयः ॥' श्लेषालंकारः ॥२५॥

२६. तस्मिन्निति । तस्मिन् वंशे चाहमानाख्ये, स्फुरद्विक्रमचक्रवालाः स्फुरत्पराक्रमसमूहाः, कति नृपालाः भूपालाः नो बभूवुः ? अपि तु बहवो बभूवुः । कीदृक्षाः ? त्रिवर्गेति विशेषणम् । त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामलक्षणस्य संसर्गेण, पवित्राणि पूतानि यानि विचित्रचरित्राणि, तैः वित्रासितो ध्वस्तः पापभारो यैस्ते ॥ २६ ॥

२७. पराक्रमेति । क्रमेण चाहमानपरंपरया दीक्षितवासुदेवः नृपः अभवत् आसीत् । शका एव असुराः दैत्याः तान् जेतुं इह धरायां पृथिव्यां स्वयमवतीर्णः वासुदेव इत्युपमा । पराक्रमेति विशेषणं उभयत्र तुल्यम् ॥ २७ ॥

२८. सपत्नेति । यो दीक्षितवासुदेवः, अतिशयेन कुण्ठं कुण्ठतरं, असिं खड्गं निजे स्वकीये प्रतापवह्नौ, अभिताप्य उष्णीकृत्य, काममतिशयेन, तेषां शत्रूणां रमण्यः तासां दृशो नेत्राणि तासामम्बुजलं अर्थादश्रु, तद्रमणीदृगम्बु तत् । अपाययत् । पिबति खड्गः अम्बु तं पिबन्तं नृपः [प्रयुंक्ते] प्रयोक्तृव्यापारे णिगन्तः । यथा कश्चित् शस्त्रमार्जः कुण्ठतरं असिं वह्नौ अभिताप्य अम्बु पाययति — इति ध्वनिगर्भिता गूढोपमा, रूपकं वा । असिकुण्ठतरत्वे हेतुमाह — सपत्नानां शत्रूणां ये संघाताः समूहाः, तेषां ये शिरोधिसन्धयः ग्रीवासन्धयः, तेषां छेदः, सपत्नसंघातशिरोधि[प० ९. २]सन्धिच्छेदः । तस्मात् । अत्र विशेषणे अतिशयोक्तिरलंकारः ॥ २८ ॥

२९. छिन्नेति । यस्य दीक्षितवासुदेवस्य करे हस्ते, रणाजिरे रणांगणे, जयश्रीर्जयलक्ष्मीः, भृशं अत्यर्थम्, व्यक्तानुरागा इव प्रकटरागा इव, विरेजे शुशुभे । केन हेतुना ? छिन्नाः कृत्ताः द्विषन्मण्डलीनां शत्रुसमूहानां ये मौलयो मस्तकाः, तेषां यानि मूलानि आदयः,

तत्र यः असृक्पूरो रुधिरप्रवाहः, तेन दिग्धा असिलता खड्गलता, तस्याः छलेन हेतुना। 'अजिरं प्रांगणं चत्वरांगणे' इति हैमः कोशः। अतिशयोक्तिमूलः उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २९ ॥

३०. **प्रवाद्यमानेति**। यः दीक्षितवासुदेवः सौ(शौ)र्यश्रियं सौ(शौ)र्यलक्ष्मीं, वेल्लदसिच्छलेन कम्पमानखड्गव्याजेन, रणरंगभूमौ संग्रामनृत्तभूमौ, अनर्त्तयत्। नृत्यति सौ(शौ)र्यश्रीः, तां नृत्यन्तीं नृपः प्रयुंक्ते। 'गतिबोधाहारार्थे'ति विकल्पनिषेधः। रणे यद् वाद्यवृन्दं वादित्रसमूहः रणनन्दीलक्षणम्, तस्मिन् प्रवाद्यमाने ताड्यमाने सति। नाटकशास्त्रोक्ता एषा रणनन्दी —

डक्का ढक्का डमरुय काहल भेरी य भाणगं पडहो।
युग संख करड पोग्गय मद्दल कंसाळ रणनंदी ॥

दिवः आकाशात्, सुरेषु संपश्यमानेषु सत्सु। संपश्यमान इति — 'समो गमृच्छिदृशी'ति कर्त्तर्यात्मनेपदम्। यथा कश्चिन्नटः रंगभूमौ नर्त्तकीं नर्त्तयति, तत्र द्रष्टारो वादित्राणि च भवन्ति। गूढोपमालंकारः ॥ ३० ॥

३१. **भास्वानिति**। यन्महसा यत्तेजसा जितो भास्वान् सूर्यः, अद्यापि इयद् यावत्, वारिराशौ समुद्रे, किं झंपां न ददाति? अपि तु दत्ते। अन्यो[प० १०. १]ऽपि केनापि जितः मुमूर्षुः झंपां ददाति। च पुनः अन्वहं अनुदिनं, व्याकुलितः मरणाद् भीतः उन्मज्जति। यः मुमूर्षुः स कथं उन्मज्जतीत्यत्रार्थे अर्थान्तरन्यासमाह — वा पक्षान्तरे, हतजीवितव्यं निन्द्यजीवितव्यम्, सुदुस्त्यजम् — सुतरां दुःखेन त्यज्यते इति सुदुस्त्यजम्। 'लिहादिभ्यो अच्' अनेन सिद्धम्। हत-हतकशब्दाः निन्द्यार्थाः। अहः अहं अनु अन्वहं। 'प्रतिपरोनोरव्ययीभावात्' इति सूत्रेण अदन्तता सिद्धा ॥ ३१ ॥

३२. **तदङ्गजन्मेति**। तस्य दीक्षितवासुदेवस्य अंगात् शरीरात् जन्म यस्य सः। **श्रीनरदेव**भूपः अजनि बभूव। श्रिय उपलक्षितो नरदेवभूपः श्रीनरदेवभूपः। 'दीपजन' इति सूत्रेण अचा सिद्धम्। किं०ष्टः? नाभिजन्मानो ब्रह्मणः अर्हणया पूजया चणो वित्तः विचारितः प्रतीत इति यावत्, नाभि०। 'तेन वित्ते चंचुचणौ' इति सूत्रेण सिद्धम्। तनूदरीणां कृशोदरीणां स्त्रीणां लोचनैर्लोभनीया या तनुश्रीः शरीरशोभा तया तर्जितं तिरस्कृतं कामरूपं कन्दर्प्परूपं येनेति ॥ ३२ ॥

३३. **अशात्रवमिति**। यत्र यस्मिन् क्रुद्धे भूपे, इदं विश्वम्, अशात्रवं शत्रुसमूहवर्जितं, विधातुं कर्तुं परिश्राम्यति सति, अरातयः शत्रवः, राज्यश्रियं पातुं त्रातुं, स्वकोशात् स्वभाण्डागारात्, वसूनि द्रव्याणि आचकृषुः आकर्षन्ति स्म। दण्डं दातुमित्यर्थः। स्वकोशात् स्वप्रत्याकारात्, खड्गान् न आचकृषुः। संग्रामाद्भीता इत्यर्थः। 'भाण्डागारं तु कोशः स्यात्, कोशः खड्गपिधानकम्।' इति हैमः कोशः। शत्रूणां समूहः शात्रवम्। स्वादिभ्योऽञ्। ततो नञ्तत्पुरुषः। [प० १०. २] तुर्यपादे श्लेषोऽलंकारः ॥ ३३ ॥

३४. संख्येष्विति । यस्य यदीयो बाहुः संख्येषु संग्रामेषु, पूर्वाचलशृङ्गशोभां कलयन् धारयन्, अतर्कि विचारितः । जनैरिति शेषः । बाहोः पूर्वाचलधर्ममारोपयति — यस्मिन् बाहौ, वैरिमुखाम्बुजानि वैरिमुखकमलानि, म्लानिं नयन् नवचन्द्रहासः रराज शुशुभे । बाहुपक्षे — चन्द्रहासः खड्गः । पूर्वाचलपक्षे — चन्द्रस्य हसनं प्रकाशकरणं यः हासः । चन्द्रोऽभ्युद्गच्छन् हसन्निवोदीर्यते । नयन्निति द्विकर्मकोऽयं धातुः । उपमा-श्लेषयोः संकरः ॥ ३४ ॥

३५. प्रतापेति । यदीयः प्रतापवह्निर्ज्वलितः सन्, यत् अन्यायवनानि अधाक्षीद् ददाह, इति स्थाने युक्तम् । तदेतज्जगज्जनाश्चर्यकरम् । यद्वैरिणां कम्पभरं ततान । वह्नेर्दाहकत्वं युक्तम् । ज्वलति वह्नौ यः कम्पः तदाश्चर्यम् । अत्र तु भयहेतुकः कम्पः सात्त्विको भावः । रूपक-विरोधयोः संकरोऽलंकारः ॥ ३५ ॥

३६. नखावलीनामिति । पुत्रपौत्रान्वितः सपरिवारः, एषः द्विजानां पतिः चन्द्रः नखावलीनां कपटेन छद्मना, यदीये पदपद्मयुग्मे उपेत्य आगत्य इति लग्नः । इतीति किम् ? एतद्यशसा अहं जितः । अन्योऽपि जितः जेतुश्चरणे लगति । गूढोपमाऽलंकारः ॥ ३६ ॥

३७. श्रीचन्द्रराजेनेति । ततः नरदेवानन्तरं, श्रीचन्द्रराजेन धरित्री पृथ्वी, विभरांबभूवे धारयामासे । किं०ष्टेन ? नयो न्यायः तस्य एकं द्वितीयं धाम इव धाम नयैकधाम, तेन । यः श्रीचन्द्रराजः वक्त्रेण मुखेन कीर्त्या च, निशाकरं चन्द्रं, द्विर्जयन् द्वौ वारौ जयन्, स्वनाम यथार्थं अतत अत[पृ० ११. १]नोत् । द्वौ वारौ द्विः । 'द्वित्रिचतुरः सुच्' इति अनेन द्विः सिद्धम् । चन्द्रश्च राजा च इति द्वौ वारौ चन्द्रनाम इति स्वनाम्नः द्विर्जेतृत्वम् । गूढोपमाऽलंकारः ॥ ३७ ॥

३८. यस्येति । यस्य राज्ञः प्रतापज्वलनस्य प्रतापाग्नेः, वस्तुरूपं पदार्थतत्त्वं किंचिदनिर्वाच्यं अपूर्वं नूतनं, एवावधारणे, अजनि प्रादुर्बभूव । अपूर्वत्वमेव दर्शयति — यद्यतो हेतोः सरसे धनार्गले शत्रौ प्रकाममत्यर्थं जज्वाल ज्वलति स्म । नीरसे निर्द्धने अस्मिन् शत्रौ सद्यस्तत्कालं प्रशशाम । अन्यो वह्निः सरसे आर्द्रे प्रशाम्यति, नीरसे शुष्के ज्वलति । अयं तु न तथेत्यपूर्वम् । विरोधोऽलंकारः ॥ ३८ ॥

३९. चापस्येति । यः श्रीचन्द्रराजः, रणे संग्रामे, शरौघान् बाणसमूहान्, क्षेप्तुं मनो यस्य एवंभूतः, स्वस्यात्मनः, चापस्य धनुषः, जीवाकृष्टिं ज्याकर्षणं चकार । यत् जवेन वेगेन शत्रून् रिपून् यमराजवेश्म अनैषीत् प्रापयति स्म । तदेतन्महच्चित्रम् । एव निश्चये । अन्यत्र यस्य जीवाकृष्टिः क्रियते स एव यमगृहे प्राप्यते; इह तु चापस्य जीवाकृष्टिः, शत्रूणां यमगृहप्राप्तिरिति विरोधः । विरोधपरिहारः — जीवा मौर्वी तस्या आकृष्टिः, न तु जीवस्यात्मनः । कर्तुं मनो यस्येति वाक्ये 'तुमश्च मनः कामे' इति हैमसूत्रेण अनुस्वारलोपः । विरोध-श्लेषयोः संकरोऽलंकारः ॥ ३९ ॥

४०. यस्येति । यस्य क्षितीशस्य राज्ञः, च पुनः, यन्महासेः यन्महाखड्गस्य अन्योऽन्यं परस्परं, सुमहान् अत्यर्थं, विरोधः विरुद्धक्रियाकर्तृत्वं आसीत् । एकः आद्यः

क्षितीशः, परेषां शत्रूणां दारेषु कल[प० ११. २]त्रेषु, विरागः विरक्तः समभूत् । परदारपराङ्मुख इत्यर्थः । च पुनः, अन्यो यत्खड्गः परेषां शत्रूणां, दारेषु विदारणेषु, सरागः रक्तः आसीत् । इति द्वयोर्विरोधः । श्लेष-विरोधयोः संकरोऽलंकारः ॥ ४० ॥

४१. तस्मादिति । तस्मात् चन्द्रराजात्, महिष्ठं महद्धाम तेजो यस्येति; महौजा महेन्द्र इव **अजयपाल**नामा अशोभिष्ट दीप्यते स्म । यः अजयपालः जगति लोके, सिद्धविष इति चक्री सार्वभौम इति प्रसिद्धिं जगाम । जितशत्रुसमूहः इति विशेषणपर्यायः ॥ ४१ ॥

४२. भिन्नेति । यस्य राज्ञः, आहवे संग्रामे, खड्गलता खड्गवल्ली, प्रतापाशुशुक्षणेः प्रतापाग्नेः, अर्चिरिव ज्वालेवोल्ललास उल्लसति स्म । अर्चिषो रक्तत्वं विशेषणेनारोपयति । भिन्ना भेदिता, द्विषतां शत्रूणां, या कुंभिघटा गजघटा, तस्याः कटाहाकारा ये कुम्भाः शिरःपिण्डाः, तेभ्य उच्छलत् यत् शोणितं रक्तं, तेन शोणा रक्ता शोचिः कान्तिर्यस्याः सा । उत्प्रेक्षा-रूपकयोः संकरः ॥ ४२ ॥

४३. अनेकेति । यो नृपः द्यूतकृद्वत् द्यूतकार इव, चतुरंगयुद्धक्रीडासु, परेषां शत्रूणां, अजेयः दुर्जयः समभूत् । चतुरंगयुद्धे गज-रथ-तुरगपदातिलक्षणे या क्रीडा तासु । पक्षे – चतुरंग इति क्रीडाविशेषः । यथा द्यूतकारः कश्चित् चतुरंगे अजेयो भवति । द्यूतकार-नृपयोर्विशेषणद्वारा अर्थद्वयेन श्लेषमाहुः । किंभूतः ? अनेकधा अनेकप्रकाराणि अष्टापदस्य स्वर्णस्य साराणि द्रव्याणि तेषां दाने दक्षः । द्यूतकारपक्षे – अष्टापदः सारिफलकं तत्र ये साराः सारयः अष्टापदसाराः, अनेकधा [प० १२. १] च ताः अष्टापदसाराश्च तासां दाने खेलने दक्षश्चतुरः । पुनः किंभूतः ? वशीभूततरः अत्यर्थवशीभूतः अक्षचारः इन्द्रियप्रचारो यस्य सः । द्यूतकारपक्षे – अत्यर्थवशीभूतः अक्षचारः पाशकप्रचारो यस्य सः । उपमा-श्लेषयोः संकरः ॥ ४३ ॥

४४. विदारेति । यस्य राज्ञः सम्बन्धिनि यदीये करे हस्ते, करवालवल्ली खड्गलता, जयश्रियः जयलक्ष्म्याः, हारलतेव रेजे शुशुभे । हारलताधर्मः केनेति हेतुनाऽऽह – विदारिता द्विःकृता ये अरातिकरीन्द्राणां शत्रुगजानां कुम्भाः, तेभ्यः विलग्नानि यानि मुक्ताफलानि तेषां यत् कैतवं कपटं तेन । उपमालंकारः ॥ ४४ ॥

४५. यत्कीर्त्तिपूरैरिति । यस्य राज्ञः कीर्त्तिपूरैः कीर्त्तिभरैः, परितः समन्तात्, विश्वत्रये त्रिभुवने, परीते व्याप्ते सति, सूरिभिः विद्वद्भिः, इत्यतर्कि इत्यूहामासे । इति किम् ? ध्रुवं निश्चितं, एतदीयैः एतद्राजसंबन्धिभिः प्रतापैस्तेजोभिः, तप्तमुष्णीभूतं, एतद्विश्वत्रयं नवचन्दनेन विलिप्तं किमु ? संशयद्योतकः किमुशब्दो गम्यते, संशयमूलत्वात् तर्कस्य । प्रतापस्य उष्ण-शोणत्ववर्णनम्, कीर्त्ति-यशसोः शीत-शुक्लत्ववर्णनम्, अतीन्द्रियस्वरूपमपि कविमतेनांगीकृतम् । यदाहुः कविशिष्या(क्षा)यां श्रीअमरचन्द्राः –

असतोऽपि निबन्धेन निबन्धेन सतोऽपि च ।
नियमेन च जात्यादेः कवीनां समयस्त्रिधा ॥ १ ॥ अतिशयोक्तिरलंकारः ॥ ४५ ॥

४६. यदीयेति । यदीया चासौ कीर्त्तिश्च यदीयकीर्त्तिः, तया । समन्तात् सर्वतः, अपहृतां निजां श्रियं शोभां, स्वर्गधुनी आकाशगंगा, विभाव्य [प० १२. २] विचार्य, काममत्यर्थं, अद्यापि इयद्यावत्, किं न पूत्करोति ? यस्य श्रीरपह्रियते स पूत्कुरुते इति व्यवहारः । केन ? पतन्, हिमाद्रेरधः पतन् यः प्रवाहः ओघः, तस्य यो ध्वनिः शब्दः, तस्य कैतवं छलं, तेन । अतिशयोक्तिरलंकारः ॥ ४६ ॥

४७. रणे इति । यस्य राज्ञः शिलीमुखाः बाणाः, समन्ततोऽपि सर्वतोऽपि, क्षीवा इव मदमत्ता इव, क्षोणितलं भूतलं यान्ति स्म । क्षीवानां क्षोणिपतनं जातिस्वभावः । किं कृत्वा ? रणे संग्रामे, अरीणां शत्रूणां, वदनाम्बुजेषु वदनकमलेषु, रक्तमधूनि रक्तमद्यानि, कणेहत्य तृप्तिशेषं, निपीय पीत्वा । कणेहत्येति – 'कणेमनस्तृप्ताविति' सूत्रेण सिद्धम् । अन्योऽपि शिलीमुखो भ्रमरः, अम्बुजेषु कमलेषु, मधूनि मकरन्दान्, तृप्तिशेषं निपीय क्षीवो भवति इति श्लेषेण ध्वनिः । उत्प्रेक्षा-श्लेषयोः संकरः ॥ ४७ ॥

४८. यस्येति । यस्य राज्ञः, संगरसंगतानां संगरे संग्रामे मिलितानां, प्रत्यर्थिनां शत्रूणां, खेदः प्रकम्पः बलहानिः, उच्चैरतिशयेन, अभूत् । कीदृशस्य यस्य ? प्रसर्पन्ति विषमानि दुस्सहानि आयुधानि दिव्यास्त्राणि यस्य सः, तस्य । कस्य कासामिव ? वल्लभस्य वधूनामिव । यथा वल्लभस्य भर्त्तुः संगरसं संयोगरसं गतानां प्राप्तानां, वधूनां स्त्रीणां, खेदः प्रकम्पो बलहानिश्च भवति । कीदृशस्य वल्लभस्य ? प्रसर्पन् प्रसरन् विषमायुधः कन्दर्पो यस्मादिति । खेदादयः सात्त्विकाः भावाः । बलहानिः प्रलये अन्तर्भवति । यदुक्तं अलंकारचूडामणौ – 'स्तम्भखेदरोमाञ्चस्वरभेदकम्पवैवर्ण्याश्रुप्रलया अष्टौ [प० १३. १] सात्त्विकाः' इति । पूर्णोपमा-श्लेषयोः संकरः ॥ ४८ ॥

४९. स्फुरद्धृतीति । यो नृपः कीर्तिं स्मरन्, परार्थहृतौ परद्रव्यापहारे, क्वापि कदापि, मतिं बुद्धिं न चकार । किंवत् ? सत्कविवत् । यथा सत्कविः परस्यान्यस्य कवेः, अर्थः अभिधेयो वाच्यमिति यावत्, तस्य हृतिर्हरणं स्वकाव्ये क्षेपस्तस्याम्, कीर्तिं स्मरन् मतिं न करोति । कुकविस्तु परार्थहृतेस्तस्कर इत्यपकीर्तिं लभते । कीदृशो नृपः ? स्फुरन्ती धृतिर्धैर्यं यस्य सः । सत्कविपक्षे–धृतिर्धारणं चतुर्थो बुद्धिगुणः । पुनः कीदृशः ? प्राप्ता लसन्ती प्रतिष्ठा येन सः । कविपक्षेऽपि तुल्यम् । पुनः की० ? विशुद्धैर्वर्णैः ब्राह्मणादिभिः स्पृहणीयं स्पृहार्हं वृत्तमाचारो यस्य सः । कविपक्षे–विशुद्धैर्निर्दोषैर्वर्णैरक्षरैः स्पृहणीयानि वृत्तानि काव्यानि यस्य सः । उपमा-श्लेषयोः संकरोऽलंकारः ॥ ४९ ॥

५०. विरुद्धेति । किल इति सत्यमेतत् । यस्य नृपस्य प्रतापः यत्प्रतापः तस्मात्, बिभ्यन् भयं कुर्वन्, वह्निरग्निः दारूणि काष्ठानि, इति प्रविवेश प्राविशत् । इति किम् ? विरुद्धे शत्रुगृहे वासः निवासः विरुद्धवासस्तस्मात् हेतोः । इह दारुणि मां न कोऽपि वेत्ति जानाति । अमुमर्थं द्रढयितुं हेतुमाहुः–नो चेत् न यद्येवं तर्हि, तद्घर्षणात् दारुघर्षणात्, तत्प्रभवो वह्निप्रादुर्भावः कुतस्तद्वासं विना स्यात् भवेत् । हेतुरलंकारः ॥ ५० ॥

५१. काममिति । काममत्यर्थं, यस्य राज्ञः ओजसस्तेजसः सृट् सर्गः यदोजःसृट् तस्मिन्, यत्तेजःसर्गे, वेधसो ब्रह्मणः स कोऽपि अनिर्वाच्यः, खेदोदयः प्रस्वेदप्रादुर्भावः [प० १३. २] आविरासीत् प्रादुर्बभूव । कार्यं कुर्वतः प्रस्वेदसंभवो युक्तः । येन खेदोदयेन नदीवत् प्रसर्प्पता अम्बुराशेरपि वारि क्षारमकारि । अतिशयोक्तिरलंकारः ॥ ५१ ॥

५२. तद्वास्त्विति । योऽजयपालः **अजयमेरुदुर्गं** अतिष्ठिपत् स्थापयति स्म । कीदृक्षम्? स्वर्गश्रियां स्वर्गलक्ष्मीनां, जित्वरकान्त्या जयनशीलकान्त्या, कान्तः मनोहरः, जित्वरकान्तिकान्तस्तम् । पुनः कीदृक्षम्? तस्य अजमेरुदुर्गस्य वास्तु गृहभूः तानि तानि च घनानि वस्तूनि तेषां सारप्राग्भारः, तद्वास्तुनः तत्तद्घनवस्तुसारप्राग्भारस्य च या वीक्षा दर्शनं तया स्तुतः धातुर्ब्रह्मणः सर्गः सृष्टिर्यत्र सः, तम् ॥ ५२ ॥

५३. अदीपि इति । तस्मात् अजयपालात् अदीपि दीप्यते स्म । दीपि जनीति कर्तरि ञिच् । पूर्वार्द्धं सुबोधम् । यस्य जयराजस्य कीर्त्तय एव चन्द्राः कर्पूराः तैः, दिशः प्राच्याद्याः ता एव कामिन्यः, तासां मुखमण्डलानि मुखसमूहाः, असुरभीणि सुरभीणि बभूवुः । कीर्त्तेः कर्पूरारोपः । दिशां मुखारोपः सुरभित्वारोपश्च । असतोऽपि निबन्धेनेति कविमतम् । कीर्त्ति-यशसोर्भेदस्त्वेवम्, यदुक्तं रत्नकोशे—

> दानपुण्यफला कीर्त्तिः पराक्रमकृतं यशः ।
> एकदिग्गामिनी कीर्त्तिः सर्वदिग्गामुकं यशः ॥ इति । रूपकोऽलंकारः ॥ ५३ ॥

५४. यशोवितानेति । यदीये जयराजसंबन्धिनि यशोविताने यशःसमूहे स्फुरिते सति, यदा शीतरश्मिश्चन्द्रमा व्यक्तः स्फुटं नालक्षि न लक्षते स्म । अहं एवं शंके । तदादि [प० १४. १] तद्दिनमारभ्य विधिना ब्रह्मणा, तदीयबिम्बान्तः तद्बिम्बमध्ये, अयं कलंकोऽभिज्ञानं व्यधायि अकारि । अनलंकारमपि रसबहुलत्वात् सुकाव्यमेतत् ॥ ५४ ॥

५५. यस्मिन्निति । यस्मिन् राजनि महीं शासति पालयति सति, तुङ्गसुरालयेषु उच्चैर्देवगृहेषु, राजमार्गप्रोलंघनं अभात् । न प्रजासु इति गम्यम् । राज्ञः चन्द्रमसो मार्गः ग्रहपन्था, भूमेर्द्विलक्षयोजनता तस्य प्रोल्लंघनम् । देवालयानां औन्नत्यव्यञ्जकं श्लेषवचनम् । प्रजापक्षे—राजमार्गो नृपकृता मर्यादा तस्य प्रोलंघनम् । अस्त्रेषु षट्त्रिंशत्सु निस्त्रिंशता खड्गभावः । न प्रजासु । प्रजापक्षे—निस्त्रिंशता निष्करुणता निर्दयता । द्विपेषु गजेषु मदः अवस्थाविशेषः । न प्रजासु । प्रजापक्षे—मदः उन्मादः सुरामत्तता वा । करग्रहः हस्तग्रहः करपीडनेषु विवाहेषु अभात् । न प्रजासु । प्रजापक्षे—करो दंडः अन्यायिनां दमनं तस्य ग्रहः ग्रहणम् । श्लेषालंकारः ॥ ५५ ॥

५६. जगदिति । जगतो विश्वस्य प्रदीपे दीपके, किमु इति वितर्के, यस्य प्रतापे भास्वान् भानुः पतङ्गपातं निपपात । पतंगवत् कीटवत् आभीक्ष्ण्येन निपतति स्म । पतंगपातं निपपात । 'विशपतपदस्कंदो वीप्साभीक्ष्ण्ये' इति णमा सिद्धम् । प्रतापे इति विषये सप्तमी ।

अन्यथेति—न चैवं चेत्, कवीन्द्राः अमुष्य भास्वतः पतङ्ग इति नाम कथं केन प्रकारेण, एतदामनन्ति अङ्गीकुर्वते । पतङ्गपातं पततीत्याशास्यमानः पतङ्ग इति निरुक्तेः सिद्धम् ॥५६॥

५७. सत्यमिति । सत्यमेतत् किलेत्याप्त..............[प० १४. २]

*

[अत्र मूलादर्शे १५ पत्रादारभ्य २६ पत्रान्तानि पत्राणि विनष्टानि तेषु प्रथमसर्गस्य इत आरम्य अन्तिमपर्यन्तानां पद्यानां तथैव द्वितीयसर्गस्य ४५ पर्यन्तानां आदिमकाव्यानां दीपिका विनष्टा ।]

[द्वितीयसर्गस्य ४६ तमाङ्कपद्यात् प्रारभ्याग्र इयं व्याख्या –]

४६. जेगीय इति । शेषो नागराजा निजकामिनीभिः नागस्त्रीभिः भृशाभीक्ष्ण्येन गीयमानम् । अन्यत्सुगमम् । अतिशयोक्तिरलंकारः ॥ ४६ ॥

४७. स्वकालिमानमिति । वणिक्कलायाः कौशले पाटवे केलिर्यस्य सः । खड्गदर्शनात् शत्रुमुखकार्ष्ण्यं युक्तमेव। लाभार्थी वणिग् एकं दत्त्वा द्वयं गृह्णाति । एवं खड्गोऽपि । प्रथमचकारः पुनरर्थः, अग्रचकारौ जीवयशसोः तुल्यत्वख्यापनार्थम् ॥ ४७ ॥

४८. गिरीशेति । गिरीशश्च कैलाशश्च सुधांशुश्च एतेषां श्रीः तां, समाकृष्य चतुर्णामपि एकत्रीकृत्य, अस्य नृपस्य ब्रह्मा यशश्चकार । किमिति संशये । हेतुना संशयं समर्थयन्ति । यद्धेतोः अस्य यशःपुरः एते गिरीशादयः पृथग्भावेन निःश्रीकतां धारयन्ति स्म । चतुष्टयसमाहृतश्रीकस्य पुरः एको निःश्रीक एव स्यात् । संशयोऽलंकारः ॥ ४८ ॥

४९. प्रोदंच्येति । मेरुच्छलात् हस्तमुत्पाट्य, इयं भूः इदं जगाद इवोत्प्रेक्षते । न सुषुवे न प्रसूतः । षूङ् प्राणिप्रसवे इति सिद्धम् । वा शब्दः चतुर्ष्वपि संबध्यते । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ४९ ॥

५०. त्रस्तेनेति । यद्वैरिनारी पलायितेन भर्त्रा अर्द्धमार्गे मुक्ता स्वदेशे [प० २७. १] स्थिताऽपि, स्वं आत्मानं नवं द्वीपान्तरं प्राप्तं मन्यते स्म । अमुमर्थं हेतुना द्रढयति—चन्द्रस्य तीव्रत्वात् । हेतौ तृतीया-पंचम्यौ स्याताम् । चन्द्रस्य तीव्रानुभवो विरहिणीधर्मः । हेमसूरिमते अनुमानालंकारः, वाग्भटमते हेतुः । उभयत्र न दोषः ॥ ५० ॥

५१. पर्यन्तशैल इति । कासारेषु सरस्सु सारं प्रधानं यत् तत्, तत् तडागमुख्यम् । यः आनलदेवः अचीखनत् खानयति स्म । णिगर्थे ङिप्रत्ययेन सिद्धम् । पुष्करवत् तीर्थविशेषवत् पुण्यं पवित्रं पारं तीरं यस्य तत् । शुचिः पवित्रः वारिणः पानीयस्य वारः समूहो यस्मिन् तत् । तत् पुनः । क्रीडारसेन क्रोडिता एकत्रीकृता दिग्द्विपाः दिग्गजाः येन तत् । दिग्गजानां क्रोडीकरणे हेतुमाह—पर्यन्तशैलानां समीपपर्वतानां प्रतिबिम्बच्छलात् । हेतुरलंकारः ॥ ५१ ॥

५२. **विस्मापक इति** । तस्मादानल्लदेवात् । विस्मापका विस्मयकारिणी श्रीर्लक्ष्मीः शोभा वा यस्य सः । पूर्वार्द्धं सुगमम् । यस्य नृपस्य मानसहितं दानं प्राप्य उर्व्यां भुवि वनीपकाः याचकाः किं न अधनदन्? किं न धनदायंते स्म? पूर्वं उपमार्थः । क्यङ्प्रत्ययः, ततो 'लुप् बहुल'मिति क्यङ्लोपः । क्यङ्लोपे 'शेषात् परस्मै' इति सूत्रे[ण]ह्य-स्तनीबहुवचने परस्मैपदं सिद्धम् । गूढोपमालंकारः ॥ ५२ ॥

५३. **सशोकेति** । यस्य नृपस्य ओजः प्रतापः स एव ज्वलनो वह्निः यत्प्रतापाग्नि-रिति यावत् । सद्यस्तत्कालं घनीभूय निबिडीभूय, यद्वा मेघीभूय, आसां रिपुस्त्रीणां दुर्दिनानि मेघान्धकाराणि, यद्वा दुरवस्था[प० २७. २]दिनानि, किं न तेने । रिपुस्त्रीणां श्वा(श्वा)-सपवनैर्मिलित्वा । कीदृशैः? शोक एव धूमः, अश्रूण्येव जलानि । पश्चाद् द्वंद्वः । सह शोकधूमाश्रुजलानि तैः । यथा ज्वलनः धूमजलसहितैर्वातैर्मिलित्वा मेघो भूत्वा दुर्दिनानि करोति । धूमादिसन्निपातो मेघः इति कालिदासमतम् । लोकव्यवहारः प्रत्यक्षप्रमाणं च । रूपक-श्लेषयोः संकरः ॥ ५३ ॥

५४. **त्यागेति** । त्यागे दानविषये विश्वं जगद् अतिक्रान्तं येन सः । तस्य एवं-भूतस्य राज्ञः, अंगुलीः पाणितलं नखांश्च विधातुमिच्छोर्विधेः ब्रह्मणः, स्वर्गौस्तनाः कामधेनु-स्तनाः, स्वर्द्रुमपल्लवाः, स्वर्म्मणिश्चिन्तामणिः पूर्वोक्तानां त्रयाणां सादृश्यभाजः एते त्रयोऽपि, किलेति संभाव्यते, अभ्यासकृते प्रथमा सृष्टिः । उपमातिरस्कारोऽत्र ॥ ५४ ॥

५५. **गुणानिति** । ब्रह्मा यत्संबन्धिनो गुणान् गणयन् संख्याविषयी कुर्वन् तं खेदं कलयति स्म, यस्य खेदस्य लेशमात्रं अंशमात्रं यल्लेशमात्रं तत् । तत् त्रैलोक्यविधानेऽपि अनुभवात् न विषयी बभूव ॥ ५५ ॥

५६. **ततः इति** । पूर्वार्द्धं सुगमम् । पाथसि पानीये रुहतीति पाथोरुट् कमलम् । यत्पाणिकमले वसुन्धराकर्णिकायाः बीजकोशस्य भावं पुष्णाति स्म । पृथिव्याः पाणिर्बहु-विषयः । ध्वनिनाऽपह्नुता गूढोपमा ॥ ५६ ॥

५७. **विदारितेति** । विदारितः भेदितः अरातीनां शत्रूणां करीन्द्रकुम्भः विदा०, तस्मात्, यानि मौक्तिकानि अत्र युधि संग्रामे पतन्ति स्म । यस्येयं यदीया, कीर्त्तिव्रततिः कीर्तिवल्ली, तस्याः वल्लेः, तान्येव मौक्तिकानि [प० २८. १] फुल्लानि कुसुमानि बभूवुः । प्रतिवस्तूपमा ॥ ५७ ॥

५८. **यदीयेति** । भृशमत्यर्थं, तपन् यः तापनः सूर्यः तस्य यत्तापनं प्रयोक्तृत्वं तेन हेतुना । हिमसंबन्धिनी हैमी । हैमी चासौ शिला च हैम० । द्रवीभवन्ती गलन्ती या हैमशिला तस्याश्छलेन । पूर्वार्द्धं सुगमम् ॥ ५८ ॥

५९. **गुणानिति** । यस्य राज्ञः गुणान्, कर्णेहत्य तृप्तिशेषं, काममत्यर्थं, निपीय कर्णाभ्यां श्रुत्वा, आनन्दितोऽपि देववर्गः स्वचेतसि, एतदेव वक्ष्यमाणं, कष्टं उवाह । यत् एषः अयं नृपः, देवभूयं देवत्वं देवभावं देवसायुज्यमिति यावत् न श्रितवान् । मनुष्यभावं श्रितवान् । 'भूयं भावे क्यप्' इति सूत्रेण दे[व]भूयमिति सिद्धम् ॥ ५९ ॥

६०. तस्मादिति । पूर्वार्द्धं सुगमम् । पदद्वयं प्रथमसर्गे कृतमेव । रिपुस्त्रीणां नेत्रजलैः स्रवद्भिः सद्भिः यदीयः यशोवृक्षः पल्लवितः । अन्यत्रापि जलसेकात् तरवः पल्लविताः भवन्ति । रूपकोऽलंकारः ॥ ६० ॥

६१. वृन्दानीति । यो नृपः बलिष्ठानां शत्रूणां वृन्दानि समरे संग्रामे दृष्ट्वा, च पुनः, कृशोदरीणां वृन्दानि अवरोधे अन्तःपुरे दृष्ट्वा, भृशमत्यर्थम्, कं प्रश्नयोग्यम्, दर्पं अहंकारं न अंगीचकार? अपि तु अंगीचकार । विश्वविख्यातेन त्रिभुवनविख्यातेन यशसा प्रकाशः उज्ज्वलः । श्लेषोऽलंकारः ॥ ६१ ॥

६२. दुग्धोदधीति । नागेन्द्रकन्याः यदीयान् गुणान् जगुः गायन्ति स्म । कीदृशान्? दुग्धोदधेः क्षीरोदस्य स्फीततराः स्थूलतरास्तरन्तः ये तरंगाः तेषां श्रेणिश्रीः श्रेणिकान्तिः, तासां [प० २८.२] वैभवस्य शोभातिशयस्य, जेत्री जयनशीला भाः कान्तिर्येषां ते, तान् । कथम्? रणन्तो ये वेणवो वंशाः तेषां रवैः अभिरामं मनोहरं यत् कर्म्म । इति क्रियाविशेषणम् । समासेन गूढोपमालंकारः ॥ ६२ ॥

६३. गांगेयवदिति । ततः **अजयपालानन्तरं,** वसुधायां सुधांशुश्चन्द्रमाः एवंभूतः **श्रीगंगदेवः** अभात् शुशुभे । गांगेयवत् पाण्डुपुत्रपितामहवत्, गेयाः गानयोग्याः गुणाः यस्य सः । यस्य प्रतापाग्निः रिपुस्त्रीणां प्राणवायुभिः ज्वलति स्म । 'दीपि जनबुधी'ति कर्त्तरि ञिच्, इति सिद्धम् ॥ ६३ ॥

६४. दोषाकर इति । दोषां रात्रिं करोति इति दोषाकरश्चन्द्रमाः । ध्वनिपक्षे— परमहत्त्वदर्शनात् यो मत्सरी स दोषाणां दूषणानां आकरः कथ्यते । ईदृग्विधश्चन्द्रमाः यत्कीर्त्तेर्गौरवं विलोक्य, मत्सरं धारयन्, यत्तमः गुणविशेषं राहुं वा अर्जयामास । मत्सर-तमसोरैक्यं कापिलः आह तत्त्वकौमुद्याम्—'सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः गुरुवरणकमेव तमः ।' इति । तत्तमः कलंकच्छलात्, इयद्यावदसौ चन्द्रमाः नोज्झति । अतिशयोक्ति-श्लेषयोः संकरः ॥ ६४ ॥

६५. पर इति । शतेभ्यः परे परःशतास्तेभ्यः । परः शताद्यास्ते येषाम् । 'परा संख्या शतादिकाः' इति हैमः कोशः । ईदृशेभ्यः शत्रुसमूहेभ्यः बर्ह्णीं देवलोकलक्ष्मीं यच्छन् । अर्थात् शत्रून् स्वर्गं प्रापयन् । एवंभूतः यस्य नृपस्य कृपाण उत्कटसंग्रामं लब्ध्वा मात्राहीनः नैव बभूव । व्यंग्यार्थे, मात्रा कालविशेषः । कृपाणशब्दस्य मात्राहीनत्वे [प० २९.१] कृपण इति भवति । यो बहुभ्यः अतुच्छां लक्ष्मीं दत्ते स कृपणो भवति, अयं च न तथा । श्लेषोऽलंकारः ॥ ६५ ॥

६६. गतेष्विति । शुण्डया मत्तः शौण्डः । दाने शौण्डाः मत्ताः दानशौण्डाः । 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबा' इति हैमः कोशः । एवंभूतेषु कर्णादिषु कर्ण-बलि-जीमूतवाहनादिषु गतेषु सत्सु, अयं वार्त्तमानकालीनो जनः, दौःस्थ्यपात्रं दारिद्रपात्रं मा भवेत् इति ध्यात्वा विधाता अयं गंगदेवं चक्रे । कर्णादिभिः दानसादृश्यवर्णनम् ॥ ६६ ॥

६७. त्रैलोक्येति । तस्मात् गंगदेवात् **सोमेश्वरो** भवति स्म बभूव । कीदृक्षः ? **इलां पृथ्वीं** विलसतीत्येवंशीलः । अनश्वरा अविनाशिनी नीतिरीतिः न्यायाचारो यस्य सः । त्रैलोक्यस्य या लोकावलिः तस्याः कर्णे कर्णपूरीकृता कर्णाभरणीकृता ये अनन्तगुणास्तेषां एकमद्वितीयं धाम गृहं यः सः ॥ ६७ ॥

६८. रणेष्विति । पूर्वार्द्धं सुगमम् । धूमस्य समूहो धूम्या क्रोधाग्नेर्जाता बहिरुल्ल-संती धूम्येव । खड्गस्य काष्ण्यात् धूम्यासादृश्यम् । उपमालंकारः ॥ ६८ ॥

६९. उक्तेनेति । यस्येदं यदीयम्, यदीयं च तन्नाम यन्नाम तेन, गोत्रस्खलनात् नामस्खलनात्, उक्तेन, रमणं भर्त्तारं विलक्षं विधाय, चिरं रतरसप्रसक्तं निजं चेतः का न प्रीणयति स्म ? अपि तु प्रीणयति स्म । शुक्रच्यवनावसरे नृपनामग्रहणात्, भर्त्तुर्विलक्ष-त्वात् शुक्रदार्ढ्यम् । चिरायेति कथनात् चिरप्रसंगात्, चेतसः प्रीतिः । राज्ञः सौभाग्यरू-पातिशयवर्णनम् । शृंगाररसपर्यन्तं वृत्तम् । व्यंगबहुलत्वात् अनलं-[पृ० २९.२] कारमपि सुवृत्तम् ॥ ६९ ॥

७०. वह्नेरिति । शत्रुस्त्रियः यत्प्रतापवह्निं अश्रुभिः इति वर्षति स्म । हेतुकथन-माह—वह्नेः अंबु जलं द्विषन् शत्रुः, विध्यापनार्थमिति भावः, स प्रतापाग्निः काममत्यर्थं हविर्वत् घृताहुतिवत् एभिरस्रैः प्रवृद्धः । अर्थान्तरन्यासः सुगमः ॥ ७० ॥

७१. अनेनेति । शेषः अनेन राज्ञा समं एकत्वं कथमागच्छतु ? अपि तु न कथ-मपि । द्वयोर्भिन्नशक्तित्वं दर्शयति । स शेषः सहस्रेण शिरोभिः, मां पृथ्वीं धारयति स्म । अयं पुनः एकया भुजया । अतिशयोक्तिरलंकारः ॥ ७१ ॥

७२. कर्प्पूरदेवीति । पूर्वार्द्धं सुगमम् । यन्मुखे[न] जितं अप्सुजं कमलं जले लीनं भूत्वा अद्यापि किं न तपस्यति ? यो जितः स तपः कुरुते इति व्यवहारः । अप्सुजमिति अलुक् समासः । उपमालंकारः ॥ ७२ ॥

७३. इहेति । या **कर्पूरदेवी,** इतीवोत्प्रेक्षते—एणीदृशां नारीणामपि हृदये प्रवेष्टुं अवकाशं न अदित न ददौ । किं पुनः परपुरुषाणां इत्यपेरर्थः । इति पातिव्रत्यसूचनम् । हेतुमाह—इह हृदये स्थितोऽसौ रमणो भर्त्ता एताः हृदयस्थिताः स्त्रीः विलोक्य कदाचित् लुब्धो भविता, इति हेतोः । उत्प्रेक्षा-विरोधयोः संकरः ॥ ७३ ॥

७४. पत्या इति । सा **कर्पूरदेवी** भुवः पृथिव्याः वैषयिकं सुखं निर्विशंकं यथा स्यादेवं तथा पत्या सह निर्विशन्ती उपभुञ्जाना सूनुं असूत । का कमिव ? **हरेः आशा** पूर्वा दिक् चन्द्रबिम्बमिव । उपमालंकारः ॥ ७४ ॥

७५–७६. अतुच्छेति । सुगमम् । **तनुत्वयेति ।** सुगमम् ॥ ७५–७६ ॥

७७. शस्त्रेष्विति । योगेन योगमार्गेण मर्त्यानामिदं मार्त्तम् । यल्लोप[पृ० ३०.१] श्चेति सिद्धम् । शेषं सुगमम् ॥ ७७ ॥

७८. पित्रा इति । स भूभृत् पृथ्वीराजः, काले पूर्वकृततपःपरिपाकावसरे । पूर्वार्द्धं सुगमम् । कः केन कस्मिन् किमिव ? यथा उदयाद्रिः उदयाचलः, अहर्मुखे प्रभाते, अहर्पतिना सूर्य्येण प्रदत्तं रोचिः समवाप्य नितरां चकास्ति । किं०ष्टं रोचिः ? तमोव्रातं विनाशितुं शीलमस्येति । पूर्णोपमा ॥ ७८ ॥

७९. गुणाभिघातेति । एषः नृपः गुणो मौर्व्वी तस्याः अभिघातः जीवाटणत्कारः, तं कुर्वन्नपि गुणानां औदार्यादीनां अभिघातः पीडनं न चक्रे। परे शत्रवः, तेषां लोकाः परलोकाः, तेषां बाधा पीडा ताम् । विरोधपरिहारे—परलोकः परभवगमनं तस्य बाधा इहभवे पापाचारः ताम् । विरोधोऽलंकारः ॥ ७९ ॥

८०. निषेवेति । स एषः नृपः, असेर्भावः असिता, तां असितां खड्गभावरूपां वृत्तिं वर्त्तनं निषेवमानः सेवमानोऽपि असितां कृष्णां पापाचाररूपां वृत्तिं नैव उपादित जग्राह । तेन राज्ञा, परलोकपीडा शत्रुपीडा, अतितेने अत्यर्थं चक्रे। विरोधपरिहारे—परभवपीडा । विरोधोऽलंकारः ॥ ८० ॥

८१. द्विडिति । द्विषां ये कुंभिनो गजास्तेषां कुंभतटे दत्तो यः दृढप्रहारः तस्मात्, धाराग्रे खड्गप्रत्यंगे लग्नानि नवमौक्तिकानि तेषां कैतवं छलं, तेन । अनेन प्रकरणभूतेन । यस्य राज्ञः खड्ग एव लता असिवल्ली युधि संग्रामे विकसत् पुष्पश्रेणीव शुशुभे । किं कर्त्तुम् ? क्ष्मामंडलेन फलेन फलितुम् । गजकुंभेषु मौक्तिकसत्ता प्रसिद्धैव । उपमालंकारः । वसंततिलकं छन्दः ॥ ८१ ॥

८२. कीर्तीति । यस्य राज्ञः मृदुरपि [प०३०.२]कोमलापि कीर्त्तिः, सतीव्रता - तीव्रस्य भावस्तीव्रता सह तीव्रतया वर्त्तते इति सतीव्रता । पक्षे, सत्याः पतिव्रतायाः व्रतं यस्याः सा। अहो इति आश्चर्ये । या कीर्त्तिः तं राजानं कल्पान्तं आस्थितं प्राप्तमपि न उज्झति न त्यजति । इति प्रत्ययं ज्ञानं कस्य चित्ते न आधत्त? सर्वेषां चित्ते धारयामास । तु पुनरर्थे । अन्येषां नृपाणां कीर्त्तिः सतीव्रतापि न सती न विद्यमाना पतिव्रता वा, किं तु वेश्येव । तान् कतिचिन्नृपान्, या जीवितावध्येव जीवितमर्यादं न उज्झति । कतिचित्तान् जीवतोऽपि विद्यमानानपि उज्झति चेत् अयं वेश्याधर्म्मः । विरोध-श्लेषयोः संकरः ॥ ८२ ॥

८३. वाग्देवीमिति । द्विषां शत्रूणाम्, दुर्यशः कर्तृ, भुवने भ्राम्यत् सत्, अस्य राज्ञः यशोभ्रमेण सरस्वतीं चिकुरे केशेषु जग्राह । बहुत्वमस्य वैकल्पिकम् । चिकुराणां कार्ष्ण्यात् दुर्यशोग्रहणं संभाव्यते । एवं चन्द्रमुदरे, महेशं गले, तद्वृषं नंदिनं नासाग्रे, बलं बलभद्रं वस्त्रे, नीलत्वात् वस्त्राणाम्, स्वःकुम्भिनं ऐरावतं कुम्भयोः, एतेषां सर्वशुक्लानां कथितस्थाने कार्ष्ण्यात् । अमुमर्थं दृढयन् अर्थान्तरन्यासमाह—अहो इति आश्चर्ये, वैरस्य दुरन्ततां दुक्खा (दुःखा) न्ततां धिग् । या दुरन्तता तत्सन्ततौ तत्सन्तानेऽपि स्फुरति । वाग्देव्यादयः यशःसन्तानमिति कृत्वा । दीपक-भ्रान्तिमतोः संकरः ॥ ८३ ॥

८४. **भेजेति** । यस्य राज्ञः शयपयोजन्मनि करकमले, असौ इंदिरा लक्ष्मीः, शयालुतां निद्रालुतां भेजे। लक्ष्म्याः कमले शयनस्य न्यायात् । नारायणः खड्गच्छलमंगीकृत्य लक्ष्म्याः [पृ०३१.१] स्नेहेन स्वयं समैदाजगाम। अयमर्थश्चेत् एवं न स्यात्, तदा अस्य खड्गस्य बलिनो ये वैरिणः शत्रवस्तेषां विक्रमभरस्य यो ध्वंसः तस्मिन् संयति संग्रामे, कुतः कुतः आगता कौतस्कुती, एवंभूता शक्तिः नितमामत्यर्थं संबभूव, कथं संभवति स्म? । श्रीपतिपक्षे, बलिर्दैत्यविशेषः स एव वैरी । कीदृशस्य? उल्लासिनी नीला द्युतिर्यस्य सः, तस्य । खड्ग,- विष्णु-पक्षे तुल्यम् । कौतस्कुतीति 'भ्रातुष्पुत्रकस्कादयः' इति सिद्धम् । श्लेषोऽलंकारः ॥ ८४ ॥

८५. **दिगिति** । दिशां शैलाः कुलाचलाः, दिशां द्विपाः दिग्गजाः । दिक्शब्दः उभयत्र संबध्यते । कूर्म्मः कृष्णावतारः, भोगिविभुः सर्प्पराजः, पश्चाद् द्वंद्वः । एते धरित्रीं उद्धृत्य भवन्, तस्याः पृथिव्याः, भूयः पुनरपि, यो भरो भारस्तेन भंगुराः भंगशीलाः, कंप-च्छलात् मोक्तुमिच्छन्तोऽपि, अहं कविः एवं शंके— लज्जाकीलककीलिता इव तां धरित्रीं ते दिक्शैलादयः न त्यजंति स्म । लज्जाकीलकस्य हेतुं क्तान्तेनाह—यं पृथ्वीराजं प्रतिपन्नसूरं दृष्ट्वा, परं दृढव्रतं दृष्ट्वा, लज्जिताः । गुणिनः स्वयं प्रतिपन्ननाशं न कुर्वते इति लोकव्यव-हारः । व्यंग्यगर्भितः उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ८५ ॥

८६. **औन्नत्येनेति** । अस्य नृपस्य औन्नत्येन उच्चभावेन यशोभरेण च हिमवान् परां प्रकृष्टां पराभूतिं लंभितः सन्, उच्चैरतिशयेन अस्य नृपस्य पराभवपदं लंभयितुं प्रापयितुं, स्वयं आत्मनः, तौ औन्नत्य - यशोभरौ पुनर्वाञ्छन् पुत्रीप्रदानादिभिः व्यर्थं ईशाराधनमकरोत् । मूढो जडः हिमवान् तयोः [पृ०३१.२] औन्नत्य - यशोभरयोर्मध्ये एककेन यशसा जितं तं ईशं किं न वेद किं न जानीत? मूढत्वादेवेत्यर्थः । गूढोपमालंकारः । पंच वृत्तानि शार्दूलविक्रीडितानि ॥ ८६ ॥

८७. **चिन्तारत्नेति** । अस्य नृपस्य दानं देव्यः जेगीयन्ते स्म । भृशा [मी]-क्ष्ण्येन गायन्ति स्म । किं कुर्वन्त्यो देव्यः? सिद्धाः देवविशेषाः पुण्योदयकाले दृश्याः मनो-भिलषितदातारस्तेषां आपगा नदी अर्थात् स्वर्गगंगा तस्यास्तटे कामधेनुसमूहान् चारयन्त्यः। किं०ष्टाः देव्यः? श्रमविनाशार्थं चिन्तामणिबद्धे निरन्तरपीयूषसिक्तकल्पद्रुच्छायाछादिते एवंभूते चत्वरे चत्वरे निषिणाः (षण्णाः) । चिन्तामणि - कल्पद्रु - कामधेनु - सिद्धकामधेनु - गोपालि-काम्यः एतस्य दानमधिकं इति ध(ध्व)न्यते । वीरमूलः अद्भुतप्रान्तो रसः । अतिशयोक्ति-रलंकारः । स्रग्धराछन्दः ॥ ८७ ॥

८८. **शश्वेति** । येन क्ष्माभृता राज्ञा भूतलं निरन्तरं निरीतितां ईतिराहित्यं गम-यिता प्रापयिता, अतिवृष्टयोऽपि समुद्रस्य परं पारं प्रयातुं आदिष्टाः । षडपि ईतयः पूर्वं निर्वा-सिता इत्यपेरर्थः । यत्तत्-शब्दौ अव्ययौ हेतुवाचकौ । उच्चैरतिशयेन शत्रुस्त्रीभिः निजेषु नेत्रेषु प्रक्षिप्य, अतिवृष्टयः रक्षिरे पालिता यत्, तद्धेतोः, मारितभर्त्रा तेन राज्ञा साकं सह, रिपुस्त्रीभिः किं वैरिभावः न पुपुषे? अपि तु पुपुषे । शत्रोर्वैरिणो रक्षणमेव परं वैराचारः । शत्रुस्त्रीनेत्रेषु सदा अश्रुवर्षणं अतिवृष्टेर्ध्वनिः । अद्भुतो रसः । अतिशयोक्तिरलंकारः । शार्दूल-विक्रीडितं छन्दः ॥ ८८ ॥

८९. **यत्खङ्गेति** । यस्य [पृ० ३२.१] राज्ञः खड्गो यत्खड्गः, तेन, क्षुण्णाः खण्डिताः ये भूमिपतयो नृपास्तेषां या विततिः श्रेणी, तस्याः शिरसः संचरन्त्यः याः रक्तधारास्तासां वारांराशिः समुद्रः प्रसरन् सन् समस्तं भूतलं रक्तमेव अकरिष्यत् व्यधास्यत् । यदि एषा समीपवर्तिनी, प्रोद्गच्छन् उदयं प्राप्नुवन्, अच्छः पूर्णिमासंबन्धी यः अमृतकरश्चंद्रस्तस्य किरणैः, क्षुब्धो यो दुग्धाब्धिः क्षीरोदः तद्वन्मुग्धा मनोहरा एवंभूता, यस्य राज्ञः कीर्त्तिः यत्कीर्त्तिः, विस्फुरन्ती प्रसरन्ती, तस्य समुद्रस्य श्वेततां तत्श्वेततां, सपदि शीघ्रं प्रापयिष्यत् । क्रियातिपत्तिः । स्रग्धराछन्दः ॥ ८९ ॥

९०. **वीरे इति** । यत्र यस्मिन् वीरे, दानयुद्धलक्षणे रणे संग्रामे वितरणे दाने, संलब्धं लक्षं वेध्यं यैस्ते, तान् । पक्षे संलब्धं लक्षं शतसहस्रं स्वर्णानां यैस्ते, तान् । एवंभूतान्, सन्मार्गणानां प्रधानबाणानाम्, पक्षे याचकानां च गणान्, तन्वाने विस्तारयति सति, कश्चिदन्यो नृपः, दानपरताम्, नो वा अथवा, अभटं आत्मानं भटं मन्यते इति भटं मन्यस्तस्य भावस्तत्ता, ताम् । चिरं संभ्रान्तचित्तः सन् श्रयति स्म । संभ्रान्तचित्तत्वे हेतुमाह—पूर्वोपार्जिता संग्रामाद् दानाद्वा या कीर्त्तिस्तस्याः कर्त्तनमीः, तया । हेतौ तृतीया, श्लेषोऽलंकारः, शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ ९० ॥

हम्मीरमहाकाव्यदीपिकायां सप्तदशराजवर्णनो
नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

[अथ तृतीयः सर्गः ।]

१–३. **अथेति** । अथानन्तरं **सहावदीनेन तुरुष्केण** अलमुपद्रुतास्सन्तः पश्चिमभूमिपालाः **सिन्धुसौवीर** [पृ० ३२.२] देशीयाः, श्री**चन्द्रराजं** अग्रेकृत्य, भुजोर्जा भुजबलेन विजिताः अरयः शत्रवो येन सः, एवंभूतः **पृथ्वीराज**स्तस्य आलयद्वारः गृहद्वारः स, तम्, भेजुः सेवन्ते स्म । कीदृशेन शकेन ? तरसा बलेन, प्रथीयः प्रथिष्ठं अति पृथुरसायाः पृथिव्यास्तलम्, स्वशये स्वहस्ते शयालुं निद्राशीलं वितन्वता । कीदृक्षं चन्द्रराजम् ? **गोपाचल**वासिनम् । समस्तपृथिव्याः आनन्दनेन हेतुना निजं नाम सत्यार्थतां नयन्तम् । यतश्चन्द्रवद् राजते इति कृत्वा । कीदृशं आलयद्वारम् ? उपायनेन ढौकनिकया आनीता ये महेभाः महागजास्तेषां कुम्भेभ्यो गलन् यो मदस्तेन आर्द्रीकृतः भूमिभागो यस्य स, तम् । ऊर्ज्जण बल-प्राणनयोः । क्विप्प्रत्ययेन व्यञ्जनान्तं पदं सिद्धम् । **सहावदीन**शब्दस्य नाम कोशादौ अविद्यमानत्वाद् दिलीपशब्दवन्न दोषः । यः खलु द्रव्यशब्दो यादृच्छिकः डित्थादिः, स स्वसमयसंकेतितः सकलजगदन्यापोहरूपस्तद्द्रव्याविर्भावात् पूर्वं नासीत् । संकेतादेव, न वाच्यवाचकसंबन्धात् । यथा दिलीपः पित्रा संकेतितः स च विभक्तिपरिणामेन परणि(रिण)तः । एवमत्रापि सहावदीनेनेति सिद्धो विभक्तिनिक्षेपः । त्रयाणां वृत्तानामेकक्रियासंबन्धो विशेषकमिति । उपजातिश्छन्दः । कथाकथनमेतत् ॥ १–३ ॥

४. **प्रवेशितेति** । अथ आनन्तर्ये, ते धरणेः पृथिव्याः कान्ताः भर्तारः, वेत्रकरेण नरेण दौवारिकेण स्वामिवाण्या प्रवेशितास्सन्तः यथास्थानं उपाविशन् । शेषं सुगम[प॰१३.१]मम् ॥ ४ ॥

५. **पूर्वार्द्धं सुगमम्** । एते भूपाः पाश्चात्त्याः श्रियं किं न धारयन्तीति प्रश्नः । ग्रीष्मकाले सरांसीव यथा श्रियं न धारयन्तीत्युपमालंकारः ॥ ५ ॥

६. **तमिति** । अथ **चन्द्रराजः गोपाचलीयः**, तं **पृथ्वीराजम्**, चन्द्रश्रियश्चन्द्रलक्ष्म्याः गर्वस्य सर्वंकषा समूलोच्छेदिनी या दन्तदीप्तिः दन्तकान्तिः, तया उपलक्षितः जगाद । चन्द्रराजः किं कुर्वन्निव ? हृदि हृदये उल्लसन् यो वाङ्मयदुग्धसिन्धुः शास्त्रदुग्धाब्धिः, तस्य तारतरान् अत्यर्थोज्ज्वलान् ऊर्मीन् तरंगान् विस्तारयन्निव । ऊर्मीशम्याविति पुंस्त्रीलिङ्गता । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ६ ॥

७. **तपः इति** । तपःप्रभावेण अर्जितं वर्य्यं प्रधानं वीर्यं येन सः । **शकमेदिन्याः तुरुष्कभूमेः** इनः स्वामी । यद्वा शकानां तुरुष्काणां मेदिनीनः भूपतिः । ईदृशः **सहावदीनः** बाहुजमण्डलानां क्षत्रियमण्डलानां अवनौ पृथिव्यां उपप्लवाय उपद्रवाय धूमकेतुरिव अजनि । उपमालंकारः ॥ ७ ॥

८. **देशानिति** । यः सहावदीनः, बाहुजराजराजेः क्षत्रनृपश्रेणेः कुलानि विगृह्य, विपदाकुलानि आपत्पूरितानि चक्रे । भृशाभीक्ष्ण्येन चकारेत्यर्थः । कथं चकार ? इत्याह—अशेषान् देशान् जहि जघान । नागराणां पौराणां एणनेत्राः स्त्रीः हर जहार । मन्दिराणि गृहाणि दह ददाह । पञ्चमीमध्यमपुरुषस्थाने परोक्षाप्रथमपुरुषपर्यायः । अत्र च हैमसूत्रम्—भृशाभीक्ष्ण्ये हि स्वौ यथाविधि तद्ध्मौ चेति सिद्धम् ॥ ८ ॥

९. **अशेषेति** । अशेषानां भूपालानां विशेषकवत् [प॰१३.२] तिलकवत् आभा कान्तिर्यस्य सः । तस्यामन्त्रणं विधीयते भोः !, नाम इति संभावनायाम्, पृथ्वीराज ! ते क्षोणिभुजो नृपाः भूमौ के ? अपि तु न केऽपि । येषां वृन्दैः स शकः दरीर्गुहाः न पूरितवान् । तस्मात् त्रस्ताः सर्वे गुहासु प्रविष्टाः इत्यर्थः । कीदृशानां येषाम् ? स्वौजसा स्वप्रतापेन त्रासिताः ये बाहुजास्ते, तेषाम् ॥ ९ ॥

१०. **यः इति** । भो समस्तनृपतिलकतुल्य ! यः शकः आकुलैर्वीरकुलैः इति व्यतर्कि इत्यूह्यते स्म । इति किम् ? अयं भार्गवः परशुरामः पुनरेव जातः किम् ? । शतृप्रत्ययेन परशुरामतुल्यतामाचष्टे । संगरे संग्रामे क्षणात् क्षात्रं क्षत्रकुलं यमस्य वेश्म गृहं नयन् प्रापयन् । संशयोऽलंकारः ॥ १० ॥

११. **अयमिति** । आः संभ्रमे, अयं समागात् अयं समागात् इति वीप्सा । भृशाभीक्ष्ण्याविच्छेदे, द्विः प्रोक्तमवादे इति हैमसूत्रेण वीप्सा सिद्धा । जनाः लोकाः यतः यस्माद् भयेन दशापि दिशः ईक्षमाणाः विस्तारितनेत्रकमलं यथा स्यादेवं तथा निर्निमेषा आसन् । निमेषराहित्येन अतिभयसूचा । वीप्सायां तु लोकानां वचनानुकरणम् ॥ ११ ॥

१२. **उद्वास्येति** । यः शकः भूपतीनां पुराणि सत्याम्यपि उद्वास्य, द्विट्कुले शूलमिव एवंभूतं यत् **मूलस्थानं** तस्मिन् निजराजधानीं स्थापयति स्म । कः कानीव ? शम्भुर्जैपुराणीव ॥ १२ ॥

१३. **निःकारणमिति** । भो नृप ! निःकारणं निर्निमित्तं तीव्रवैरि(र)भूता तेन शकेन पराभूतास्ततः अमी भूभुजः नृपास्त्वां शरणे साधुं समैयरुः समाजग्मुः । ऋ गताविलत्यस्य [प०३४.१] धातोः ह्यस्तन्यां अन उस्रूपम् । भो नृप ! अतः अनन्तरं परं प्रकृष्टं प्रमाणं भवानेव त्वमेव । प्रमाणशब्दस्य आविष्टलिंगत्वात् नित्यनपुंसकता ॥ १३ ॥

१४-१५. **इतदीति । मयूरमिति** । वाचंयमानामपि मुनीनामपि कोपोत्पादयित्रीं एतदीयां **चन्द्रराज**संबन्धिनीं वाचं इति निशम्य श्रुत्वा । पुनः किं कृत्वा ? तरवारेः खड्गस्य मुष्टेः पटिष्ठतां पटुतां भजतीति तच्च तत्करवारिजं करकमलं च, तेन कूर्चं दंष्ट्रिकां आकृष्य नरेशः **पृथ्वीराजः** इत्युच्यमानां प्रतिज्ञामकरोत् । प्रतिज्ञामेवाह—एनं **सहावदीनं** मयूरबन्धेन निबध्य यदि वा युष्माकं पदारविन्दे न क्षिपामि तर्हि तदा **चाहमाने** अन्वये वंशे न जात इति । वृत्तद्वये एकस्संबन्धः ॥ १४–१५ ॥

१६. **तत इति** । ततः आनन्तर्ये, तता विस्तीर्णा श्रीर्यस्य स अव्याकुलमनोव्यापारः पृथ्वीराजः चञ्चन् दीप्यमानः चचाल । प्रतिपन्थिनां शत्रूणां माथः उच्छेदः तस्य चिकीर्षा कर्तुमिच्छा तया । शेषं सुगमम् ॥ १६ ॥

१७. **पौरेणेति** । एणपोताभा हरिणबालकतुल्या दृशो यासां ताः, यद्वा एणपोताभदृश इव हरिणबालकतुल्यनेत्राणीव दृशो यासाम् । पश्चात् षष्ठीतत्पुरुषः । नागरिकबालस्त्रियः, प्रयान्तं गच्छन्तं नृपं प्रति यान् कटाक्षाम् प्रचिक्षिपुः, त एव कटाक्षास्तस्य नृपस्य माङ्गल्यहेतोः भवन्ति स्म । माङ्गल्यहेतौ कटाक्षविशेषणरूपं निमित्तमाह—यतः दूर्वावत् अक्षतवत् कान्ति भजन्तीति । कृष्णसारकान्तयः इत्यर्थः । वर्ण्यते कटाक्षाणां त्रयीगतिः [प०३४.२] सिता, असिता, सितासिता च । रूपकोऽलंकारः ॥ १७ ॥

१८. **निरमिति** । प्रकाममत्यर्थम्, करे स्फुरन् कम्पमानः स्फारतरः असिदण्डः खड्गदण्डः स्फाराखेटकश्च येषां ते, ईदृशाः वराः प्रधानाः वीरवाराः भटसमूहाः प्रचेलुश्चलन्ति स्म । प्रयोजनगर्भिता तादर्थ्यचतुर्थीमाह—निरन्तरं प्राप्तो लब्धः स्वामिसकाशात् गुरुर्गरिष्ठः प्रसादः हिरण्यवस्त्रादिदानं तस्य विशुद्धिः अनृणता, निरं० तस्यै । यतस्ते भटाः शुद्धधियः स्वामिभक्ताः । जात्यलंकारः ॥ १८ ॥

१९. **धावेति** । प्रोत्तुङ्गाः उच्चैस्तराः रङ्गन्तः सलीलगामिनः ये गजास्तेषां गर्जितानि शब्दितानि, कर्तॄणि, द्वयानां द्विभेदानामपि धरणीधराणां नृपाणां पर्वतानां च, सत्त्वानि गुणाविशेषान्, पक्षे जीवान् वा, विधृता अधृतिः अधैर्यं यैस्तानि, ईदृशानि चक्रुः । कीदृंशि गर्जितानि ? आकाश-भूम्योः उदरंभरीणि । कुक्ष्यात्मोदरात् भृगः खिरिति सिद्धम् । श्लेषोऽलंकारः ॥ १९ ॥

२०. प्रतापेति । अमुष्यायं अदसीयः दोरीयः इति सिद्धम् । एतत्संबन्धिनि प्रतापसूर्ये अभ्युद्यते उद्गते सति । एतेन स्वाभाविकेन सूर्येण उद्यतेन किम्? इतीवोत्प्रेक्षते—उद्यत-श्रीश्वासौ सैन्योत्थरेणुश्च ईदृशः, तीव्रं द्युतिं सूर्यं आच्छादयां बभूव । उत्प्रेक्षालंकारः ॥२०॥

२१. रजो इति । वाजिखुराणां अभिघातादुत्थैरुच्छलितैः धूलिपटलैः करणभूतैः, जानुदघ्नत्वं जानुप्रमाणत्वमपि प्रयाताः सरितो नद्यः, सैन्यगजानां मदजलैः वंशप्रमाणा बभूवुः ॥ २१ ॥

२२. इतीति । इति [पृ० ३५.१] पूर्वोक्तप्रकारेण कृताः वैरिवाराणां वैरिसमूहानां प्राणप्रयाणाः जीवनाशाः यैस्ते । एवंभूतैः प्रयाणैश्चलनैर्नृपतिः **पृथ्वीराजस्तं** देशं अभ्यवेष्टयत्॥२२॥

२३. आजेति । अथानन्तरं, **सहावदीनो**ऽपि तं **पृथ्वीराजं** स्वदेशं उप समीपे आजग्मिवांसं आगच्छन्तं चरैराकर्ण्य अभ्यमित्रत्वं भेजे । अरिसन्मुखं व्रजन् अभ्यमित्रस्तस्य भावस्तत्त्वम् । 'अभ्यमित्रोऽभ्यमित्रीयोऽभ्यमित्रीणोऽभ्यरिव्रजन्' इति हैमः कोशः । शेषं सुगमम् ॥ २३ ॥

२४. कोदंडेति । यवनस्य तुरुष्कस्य प्रकृष्टा वीराः सुभटाः, पृष्ठे **सहावदीन**स्येति योज्यं, निर्ययुः । कीदृशाः? चापदण्डानां श्रुत्या कान्त्या मण्डितानि अङ्गानि येषाम्, ते । पुनः कटीतटेषु आसक्ता बद्धा बृहन्तो निषङ्गास्तूणीरा यैस्ते । पुनः सूक्ष्मैः अक्षिभिर्नेत्रैर्लक्षीकृता वेध्यीकृता वैरिवाराः शत्रुभटा यैस्ते । सूक्ष्माक्षित्वेन मुद्गलदेशीयत्वं शू(सू)च्यते । जात्यलंकारः ॥ २४ ॥

२५. प्राकूरेण्विति । तदानीं संग्रामावसरे सैन्यद्वयस्यापि प्राक् रेणुजालानि अमिलन् । इति सर्वत्र क्रियादीपकम् । ततः अनन्तरं, करेणुकुम्भेभ्यः भ्रमतो ये षट्पदा भ्रमरास्तेषां झंकृतानि शब्दितानि । दीपकोऽलंकारः ॥ २५ ॥

२६. परस्परेति । परस्परस्यान्योऽन्यस्य आलोकात्, नितान्तं जातः प्रसृत्वरः प्रसरणशालीयः, आयल्लकः उत्कण्ठामूलो अरतिपर्यन्तो व्यभ(भि)चारीभावस्तेन वेल्लन्ति कम्पमानानि अङ्गानि येषां, ते । नानाविधाः स्फुरन्त्यः या हेतयः [पृ० ३५.२] शस्त्राणि ता बिभ्रति ये ईदृशाः प्रवीराः, युद्धरङ्गलीलां विस्तारयामासुः । प्रतेन(नि)वानिति क्वसुप्रत्ययेन सिद्धम्॥२६॥

२७. मणीवकानीति । सर्वेषु रसेषु भावेषु च उत्कर्षापकर्षहेतुर्वायुरेव । अतोऽस्यावश्यंतया वर्णनम् । शीघ्रप्रणयानां अर्थात् भटानां यशांसि क्षिपन्, भटराजानां या राजिः श्रेणी तस्याः कराम्बुजेभ्यः करकमलेभ्यः, त्यक्ता निर्गता ये पृषत्का बाणास्तेभ्यो जन्म यस्य स, एवंभूतो मरुत्वान् ववौ वाति स्म । केषां कानीव? वृक्षाणां मणीवकानि पुष्पाणीव । पूर्णोपमालंकारः ॥ २७ ॥

२८. मिथ इति । एकदेशे जातः एकदेशीयः, घटस्य एकदेशीयः घटैकदेशीयः, कर्परः लोकोक्तौ पर्परः, **मुद्गलानां** लोकाः **षप्पर** इति व्यपदिशन्ति । घटैकदेशे भवा घटैकदेशीयास्ते च ते भटा अर्थात् मुद्गलभटाः । च पुनः इभानां घटाः, तदानीं संग्रामावसरे हठात् प्रसह्य अयुध्यन्त संप्रहरन्ति स्म । उत्प्रेक्षते—मिथः परस्परं समाननेत्रनिरीक्षणेन उत्पन्नगूढकोपा इव । मुद्गलानां गजानां च नेत्रयोः सादृश्यम् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २८ ॥

२९. दन्तावलस्येति । तस्य गजस्य आघातकला मारणकला तस्यां विपश्चित् विद्वान् कश्चित् भटः, दन्तावलस्य गजस्य प्रष(ख)रं शरीरत्राणं प्रविश्य, तं गजं क्षुर्या उदरं विदार्य भूमौ विलोठयामास ॥ २९ ॥

३०. उत्प्लुत्येति । काकूत्स्थलीलां आचरितः खड्गदण्डो यस्य एवंभूतः कश्चिद्भटः, रसायाः पृथिव्या [प० ३१. १] उत्प्लुत्य, उच्चैर्गजं कुम्भं आरूढवान् सन् एणारिः सिंहस्तस्य लीलां कलयति स्म ॥ ३० ॥

३१. कश्चिदिति । कश्चित् करी गजः, स्यदात् वेगात् स्यदनं रथं आपतन्तं आयान्तम्, सुखेन काकमुखे धृत्वा, आकाशे भ्रमिं अवाप्य, संग्रामभूरेव शिला तस्यां आस्फालयति स्म ॥ ३१ ॥

३२. प्रक्षिप्येति । उग्रवेगात् करं शुण्डां प्रक्षिप्य, उत्पाटितरथकपटेन पश्चात् पट्टिशं आदधान इतर इभः करी पद्गैः पदातिभिः अमा इव सार्द्धमिव शुशुभे ॥ ३२ ॥

३३. चीत्कारमिति । मतंगजानां हस्तिनां चीत्कारमाकर्ण्य वित्रस्यतस्तुरङ्गस्य कर्णौ, मौलिवेष्टनषं(खं)डेन पिधाय स्थगयित्वा, कोऽपि सुभटस्तैर्गजैः सह आहवेच्छां संग्रामेच्छां पूरयति स्म ॥ ३३ ॥

३४. हन्तुमिति । प्रत्यर्थिना शत्रुणा लूनभुजद्वयः अन्यः सुभटः, युधि संग्रामे, अरुंतुदाग्रैर्मर्मभेदकाग्रैर्दद्भिर्दन्तैः, कोपेन हन्तुं आगच्छन्तं दन्तिनम्, दद्भिरेव दन्तैरेव दशन्, नवयुद्धलीलां प्रतेने विस्तारयामास । अरुंतुदानि मर्म्मस्पृशि अग्राणि येषाम् । विध्वरुस्तिलातुदेति सिद्धम् । दद्भिरिति दन्तपादनाशकेति सिद्धम् ॥ ३४ ॥

३५. सन्नाहेति । सन्नाहसन्धौ वर्म्मसन्धिविषये अभीष्टगात्रभेदने मर्म्माङ्गच्छेदने भटानां किमाश्चर्यम् ? अपि तु न किमपि । यद्धेतोः करलाघवेन लघुहस्ततया तैर्भटैस्तेषां प्रतिभटानां परमाणुरूपं मनोऽपि अभेदि । मनोऽणु परमाणु इति नैयायिकमतापेक्षा ॥३५॥

३६. तदेति । पितरो वप्तारः सुतानां विपत्तौ मरणे यं प्रमोदपूरं लेभिरे । पूर्वार्द्धगतो [प० ३६. २] हि यत्-शब्दस्तत्-शब्दमपेक्षते । स प्रमोदपूरः अपुत्रिणामपि पितॄणां तेषां पुत्राणां जन्मकाले, एतस्य प्रमोदपूरस्य शतांशः एतच्छतांशो नाजनिष्ट । अधृतिभावमूलं आनन्दपर्यंतं भावद्वयसांकर्यरूपं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

३७. अथेति । अथानन्तरम्, तुरुष्का उद्भटैश्चारभटैः सूरैः पृथ्वीराजसंबन्धिभिश्चण्डखड्गदण्डैः करणभूतैः अभिताड्यमानाः सन्तः, समन्तात् नेशुः अदर्शनं प्रापुः । एकविलोचनानां काकानामिति दृष्टान्तोपन्यासः सुगमः । दृष्टान्तोऽलंकारः ॥ ३७ ॥

३८. स्यात् पेषेति । पेषयन्त्रान्तरे घरट्टयन्त्रान्तरे संस्थिताः, पे०, एवंभूतानां हरिमन्थकानां चणकानां यादृशी अवस्था स्यात्, अर्थात् चूर्णन-भर्जनरूपा, भूपतिर्बाहमानः पृथ्वीराजस्तस्य रणे आश्रयो येषाम्, ते, एवंभूतानां यवनेश्वराणां तुरुष्काणां तादृशी अवस्था अभूत् । प्रतिवस्तूपमालंकारः ॥ ३८ ॥

३९. दृष्ट्वेति । शकेशः सहावदीनः आशु शीघ्रं क्रोधादधाविष्ट । शेषं सुगमम् । उपमालंकारः ॥ ३९ ॥

४०. तमापतन्तमिति । पूर्वार्द्धं सुगमम् । कीदृशः पृथ्वीराजः? अन्तर्हृदये स्फुरन् यः क्रोधकृशानुः क्रोधाग्निस्तस्य या कीला, तदनुकारी यो रागः रक्तता तेन अरुणे रक्ते दारुणे रौद्रे अक्षिणी यस्य सः । राजादित्वाददन्तः ॥ ४० ॥

४१–४२. करोदरेति । प्रपूरयन्ताविति । तौ पृथ्वीराज-सहावदीनौ क्रुधा कोपेन चिराय युद्धं आतनुताम् । द्वयोर्वृत्तयोरेकस्संबन्धः । अभ्युद्यतौ एतौ वन्यगजौ किं इति वीरवारैस्तर्क्यमाणौ [पृ० ३७.१] ऊह्यमानौ । कीदृशौ? करोदरे हस्तमध्ये उल्लासी यो महासिदण्डः महाखड्गदण्डस्तस्य छलेन छद्मना उल्लसत् यत् पुष्करं सुण्डाग्रं तेन दुर्निरीक्ष्यौ दुर्दर्शौ द्रष्टुमशक्यावित्यर्थः । युग्मम् । प्रथमश्लोके संशयोऽलंकारः ॥ ४१–४२ ॥

४३. एवमिति । अमुना प्रकारेण पृथ्वीराजः संग्रामे युध्यमानः सन्, हठात् किञ्चित् छद्म विचार्य, सहावदीनं निश्चयेन बद्ध्वा आत्मीयां विधिवत् प्रतिज्ञां पूरयति स्म । पाश्चात्यभूपालानां चरणे क्षिप्त इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

४४. मही इति । ततः पश्चात्, शरणागतांस्तान् पाश्चात्यान् नृपान्, स्वे स्वे विषये देशे, न्यायेन अधिकारिणः कृत्वा, विमानीकृताः अपमानिताः शत्रुजाताः शत्रुसमूहा येन, एवंभूतः स मानी पृथ्वीराजः निजराजधानीं ढिल्लीपुरीं आपत् प्राप ॥ ४४ ॥

४५. वासांसीति । सुरलोके लोभि लोभनीयं महस्तेजो येषाम्, एवंभूतानि वासांसि वस्त्राणि तस्मै शकनृपाय दत्त्वा, राट् राजा पृथ्वीराज इति हेतोः मुमोच, यथागतं प्रेषयति स्म । हेतुमेवाह – अत्र अस्मिन् हते सति मया सह अन्यः को नाम नृपः संगरं विधित्सुः विधातुमित्सुः? ॥ ४५ ॥

४६. पृथगिति । असौ यवनावनीशः तुरुष्केशः, इत्थं अमुना प्रकारेण, पृथक् पृथक् संग्रामरङ्गविच्छित्त्या, सप्तकृत्वः सप्तवेलं विनिर्जितः सन्, म्लायति स्म म्लानो भवति स्म । च पुनः, ग्लायति स्म क्षीणहर्षो भवति स्म । यतो नृशंसः मनुष्य(ष्य)मारकः ॥४६॥

४७. अथेति । अथानन्तरम्, शकेशः सहावदीनः स्वस्य [पृ० ३७.२] आत्मनो बल-च्छले ताभ्याम्, तं पृथ्वीराजं जेतुमसहः असमर्थः सन्, घ(ख)र्परेशं प्रति बला-[भिला]षी चचाल । कीदृशं तम्? शकचक्रकेतुं शकचक्रे केतुरिव तम् । कः कमिव? चन्द्रो ग्रहेशं सूर्यमिव । यथा चन्द्रः क्षतक्षीणः बलाभिलाषी सूर्यं प्रति चलति । कुहूकाले क्षीणश्चन्द्रः सूर्यमभ्यर्थ्य सुषुम्णाभिधाममृतनाडीमादाय सितपक्षे वर्द्धत इति श्रुतिः ॥ ४७ ॥

४८–४९. अथेति । अथानन्तरम्, घटैकदेशीयनृपः मुद्गलाधिपः, उक्तात्मवार्त्ताय कथितनिजवृत्तान्ताय तस्मै नृपाय सहावदीनाय स्राक् तूर्णं बलं सैन्यं ददे दत्तवान् । कीदृशं बलम्? सौ(शौ)र्येण वीरचरितेन कलं मनोहरम् । पुनः कीदृशम्? संपादिता अरातीनां शत्रूणां आपत् यैस्ते, एवंभूता ये पत्तयः सुभटास्तेषां कोट्या आकुलम् । पुनः कीदृशं बलम्?

कांबोजादयो देशाः, पूर्वद्वन्द्वसमासः, **कांबोज - लंगाहथ - मीम - भिल्ल - बंगादिदेशानां** अधिपैः पेशला श्रीर्यस्य तत्। शिष्टाः प्रधानाः अष्टलक्षप्रमिताः, अमितस्य अह्निकांतस्य वायोः या त्वरा वेगवत्ता तस्याः जित्वरा जयनशीलाः, पश्चात्कर्मधारयः, एवंभूता ये वाजिनस्तुरंगास्तेषां राजिः श्रेणी यस्मिन् तत्। युग्मम् ॥ ४८–४९ ॥

५०. तत इति। ततोऽनन्तरम्, सद्यस्तत्कालं असौ **सहावदीनः**, मुद्गलाधिपतेरिति योज्यम्, प्रसरत्प्रसादात् साम्राज्यं लब्ध्वा, पूर्वंज्ञातो ज्ञातचरः न केनचित् पूर्वंज्ञातः आगत्य, अतिविग्रहेण सुरंगापातादिना **ढिल्लीं** जग्राह। तदा ढिल्ली थाणास्थानीया आसीत्। **पृथ्वीराजस्तु** [पृ० ३८.१] **अजयमेरुदुर्गे** संभाव्यते ॥ ५० ॥

५१–५२. तत इति। रणेति। हतां हता! हा! मारिता मारिता हा! इति कृतशब्दानां जनानां मुखतः शत्रुपतेः सहावदीनस्य समागमं श्रुत्वा, नृपः पृथ्वीराजः स्वल्पपरिवारोऽपि इत्यहंकारं वहन् प्रचेलिवान् चचाल। हेतुकथनं पूर्वार्द्धे सुबोधम्॥ युग्मम्॥ ॥ ५१–५२ ॥

५३. प्रागिति। प्राक् पूर्वं लग्ना ये तद्धस्ताः पृथ्वीराजहस्तास्तेभ्यो भृशमनुभूता भीर्येन स, एवंभूतः शकस्तं पृथ्वीराजं समीक्ष्य इति चिन्तितवान्। हेतुकथनं उत्तरार्द्धे सुगमम्॥ ५३ ॥

५४. तत इति। ततोऽनन्तरम्, निव(बि)डान्धकारे निशीथे अर्द्धरात्रौ प्रत्ययितैः आप्तैः, संप्रेषितैः पुरुषैरिति योज्यम्, शकेशः सहावदीनः, बहुसुवर्णदानैस्तस्य पृथ्वीराजस्य अश्वपालं तौर्यिकैर्वादित्रवादकैः सह अबीभिदत् भेदयति स्म ॥ ५४ ॥

५५–५६. दिष्ट्येति। आकाशशेषेति। उभयेषामपि सैनिकानां वचनयुक्तिं कविराह – अस्माकमिति योज्यम्, अस्माकं द्(दि)ष्ट्या समागता भवन्तः ध्रुवं निश्चितं निजानि वेश्मानि अस्मदुक्ता यास्यन्ति। हन्मो मारयामो वयम्। अथ स्वराज्यं दृढं वितन्मः कुर्म्मो वयम्। मिथोऽपि परस्परमपि इत्युक्तियुक्तिविस्तारकाः, इति सैन्यद्वयानां वचनम्। कविः शकानां सौप्तिकमाह – शकास्तुरुष्का निभृतं निश्चलमवाचालम्, समन्तात् चतसृष्वपि दिक्षु समेत्य, पृथ्वीपतीये पृथ्वीराजसंबन्धिनि शिबिरे सेनानिवेशे निपेतुः पतितवन्तः। क्व प्रस्तावे? आकाशमेव शेषं यस्य एवं[पृ० ३८.२]भूते चन्द्रबिम्बे सति। अर्थात् आकाशशेषं प्राप्ते सति। च पुनः हिमद्युतौ चन्द्रे प्रकाशकल्पे सति, अर्थात् ईषत् प्रकाशरूपे सति, सौप्तिकं चक्रुरिति भावः॥ ५५–५६ ॥

५७–५८. गृहाणेति। प्रवर्त्तमानयेति। नाटारम्भाभिधस्तुरंगमः नृपाय पृथ्वीराजाय अश्वयते – प्रकृष्टोऽश्वः अश्वतरः अश्वतर इव आचरति अश्वयते। 'खेताश्वाश्वतरगाल्लोडिताह्वरकस्याश्वतरे तकलुक्' इति हैमसूत्रेण सिद्धम्। यद्वा, अश्वतरो वेसरः। किं विशिष्टोऽश्वः? शकेशतुन्नेन सहावदीनप्रेरितेन अश्वपेन अश्वपालकेन, तदा संग्रामप्रस्तावे, नृपाय ददानः दत्त इति यावत्। क्व सति संग्रामे? सर्वतः प्रवर्त्तमाने सति। कीदृशे समरे?

इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण भटानां प्रोद्भटैर्वाक्यैश्चित्रं विविधं तस्मिन् । इत्थमिति कथम्? भट-वाक्यकल्पना सुगमा । सुगमम् ।। ५७–५८ ।।

५९. तमिति । अथानन्तरम्, अश्वं नाटारम्भाभिधं आरूढं अमुं पृथ्वीराजं विभाव्य ज्ञात्वा, सहावदीनगृहीतचित्तास्ते पूर्वमेदितास्तौर्यिकास्तूरवादका मृदङ्गादीन् अवीवदन् वाद-यन्ति स्म । णिगर्थेन ङिप्रत्ययेन सिद्धम् ।। ५९ ।।

६० अभ्युन्नतामिति । स चासौ तूर्यरवश्च तत्तूर्यरवः, अभ्युन्नतो अंभोधरो मेघ-स्तस्य धीरां गर्जि वितर्जयतीत्येवंशील:, अभ्यु०वितर्जी चासौ तत्तूर्यरवश्च अ०, तं निशम्य श्रुत्वा, तार्क्ष्ये तुरंगे मयूरवत् नर्त्तितुं प्रवृत्ते सति, भूपः पृथ्वीराजः क्षणं विलक्षः आस बभूव ।। ६० ।।

६१. भजेति । यवनास्तुरुष्कास्तथास्थं [प० ३१.१] विषादापन्नं अमुं पृथ्वीराजं वेगेन द्राक् तूर्णं, चटकाः सर्प्पमिव अवेष्टयेन् वेष्टयामासुः । कीदृशा यवनाः? इति पूर्वोक्तां उक्तिं वाणीं भजन्ते इति । इति कथम्? भज व्रजेति सुगमम् ।। ६१ ।।

६२. भुवमिति । नृपः सत्येस्तुरंगमात् उत्प्लुत्य भूमौ निषसाद निषण्णः । किं कुर्वन्? दक्ष(क्षि)णपादस्य जानुरंगुष्ठश्च दक्ष(क्षि)णपादजान्वंगुष्ठम्, तेन भुवं स्पृशन् । पुनः किं०, कृपाणं खड्गं वरुणं खेटकं हस्ते वहन् ।। ६२ ।।

६३. भंग्येति । भटचक्रे शक्र इव भ०, एवंभूतः पृथ्वीराजः, चिराय चित्रवि-धायि आश्चर्यकारि युद्धं चक्रे। कांश्चित् उग्रासेः उग्रखड्गस्य वेल्लनैः कंपनैर्वित्रासयन्, कांश्चन सिंहनादैर्वित्रासयन्, कांश्चन भुवो भंग्या वित्रासयन् । शतृप्रत्ययस्य दीपकोऽलंकारः ।।६३।।

६४. पृष्ठेति । यावद् युध्यति तावत् कश्चित् शकः पृष्ठे उपेत्य आततज्यं विस्ता-रितजीवं धनुः कण्ठे प्रक्षिप्य भूपतिं पृथ्वीराजं अपीपतत् पातयति स्म । पश्चात् सर्वे शका एकत्रीभूत्वा बलेन बबन्धुः बध्नन्ति स्म ।। ६५ ।।

६५. अथेति । अथानन्तरम्, स पृथ्वीराजः, द्विरपि द्विप्रकारमपि भोजने च पुनः जीवने, रतिं अहासीत् अत्याक्षीत् त्यजति स्मेति यावत् । कीदृशः पृथ्वीराजः? सहाव-दीनात् दैवविलासयोगात् प्राप्तबन्धनः, पुनः सद्गुणालीनां निशान्तो गृहं यः सः, प्रतिहत-शत्रुसमूहः । शेषं सुबोधम् । द्विरिति 'द्वित्रिभ्यां स्वि'रिति सिद्धम । मालिनी छंदः ।।६५।।

६६. यवनाधिपेति । अंगीकृतभयः शकराट् उदयराजभटं [प० ३१.२] समु-पेतमवेक्ष्य, तदा तस्मिन् प्रस्तावे, पुरीं ढिल्लीं प्राविशत् । कीदृशं भटम्? पुरा पूर्वं विभुनैव पृथ्वीराजेनैव सहावदीनदेशं अनुप्रेषितम् । त्रोटकं छन्दः ।। ६६ ।।

६७. कष्टमिति । अथानन्तरम्, उदयराज ईश(शि)तुः पृथ्वीराजस्य कष्टं प्राप्तं निशम्य श्रुत्वा, तथा अहं न अभूवम्, इति हेतोः मुहुर्मुहुर्वारंवारम्, उच्चैरतिशयेन, मूर्द्धानं मस्तकं अधुनात् । स्वतो हृदः स्वहृदयात्, तत्शल्यं स्वामिबन्धनलक्षणम्, उद्धर्तुमिव उत्खा-तुमिवोत्प्रेक्षते । इन्द्रवंशा छन्दः ।। ६७ ।।

६८. संख्येनमिति । असौ उदयराजः इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण ध्यात्वा' ढिल्लीं सर्वतः परिवेष्ट्य अनुदिनं पक्षद्वयं युद्ध्यमानः सन् तस्थौ । इत्थमिति कथम्? पूर्वार्द्धोक्तम्, सुगमम् । मंदाक्रान्ता छन्दः ॥ ६८ ॥

६९. म्लेच्छेति । अन्यदा अन्यस्मिन् प्रस्तावे, सविषादचित्तः कश्चित्पुरुषः म्लेच्छपृथ्वीपतिं एवं वक्ष्य[माण]प्रकारेण जगाद । एवमिति कथम्? एषकः पृथ्वीराजः संग्रामे त्वां अनेकशः सप्तवारान् अमुचत् मुमोच । हा इति खे(खे)दे, अमुं पृथ्वीराजं त्वं एकवेलमपि न जहासि न त्यजसि? । ललिता छन्दः ॥ ६९ ॥

७०. धर्मोचितामिति । स नृशंसधीः मनुष्यमारकबुद्धिः, तदा धर्मोचितामपि इति पूर्वोक्तलक्षणां तकि(द्गि)रं श्रुत्वा भृशं कुपितः सन्, तं प्रति, इति वक्ष्यमाणप्रकारेण अवक् उवाच । इति कथम्? एते हिंदुका इत एव शत्रुं बद्ध्वा मुञ्चन्ति, यतः विद्रवन्ती प्रणश्यन्ती राजन्यकानां नृपसमूहानां उपनिषद् रहस्यं येभ्यस्ते, प्रणष्टराजरहस्या इत्यर्थः । 'हिंदुका गुमरा' इति तौरुष्की [प० ४०.१] भाषा । छन्दो ललितैव ॥ ७० ॥

७१. वीरेन्द्रेष्विति । अथान[न्त]रम्, उग्रतरा तीव्रतरा रुट् कोपो यस्य एवंभूतः एषः सहावदीनः, तं नृपं पृथ्वीराजं आनाय्य, दुर्गान्तरे प्राकारमध्ये अचीचयत् । चिञ् चयने इत्यस्य धातोः णिगर्थेन डिप्रत्ययेन सिद्धम् । चिन्वन्ति नृपं सेवकास्तान् चिन्वतः सहावदीनः प्रायुंक्त । अर्थान्तरन्यासः सुगमः । केषु सत्सु? ह्रिया लज्जया वीरेन्द्रेषु धरापीठे दत्तदृष्टिषु सत्सु । पुनः केषु सत्सु? श्राक् शीघ्रं सतां साधूनां वृन्देषु सान्द्राणि यानि अश्रूणि तेषां श्रु(स्रु)त्या सिक्तायाः शोकलतिकायाः शोकबालवल्ल्याः कन्दो यैस्ते०दाः, तेषु एवंभूतेषु सत्सु । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥ ७१ ॥

७२. शैवा इति । अद्भुतज्ञानमयं तद् ब्रह्म परमात्मरूपम्, तत्र स्थितः कोष्टमध्य-स्थितोऽसौ पृथ्वीराजनृपः स्मरन्, शिवं कल्याणलक्षणं परभवं शाश्वतं बहुकालस्थायि लेभे प्राप्तवान्, नृपाणां आलिः श्रेणी तस्यां तिलकः नृ० । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तद्वयम् ॥ ७२ ॥

७३. पृथ्वीपतेरिति । गौडकुलमेव पंकजं तद्विकासकत्वात् बालसूर्य इव स उदयराजः, निजं तत्स्थानं निजं तद्बलं उपगम्य, तरसा बलेन युद्ध्वा, तुरुष्कैरिति योज्यम्, दिवस्पतिपदं इन्द्रपदं प्राप, स्वर्गं जगामेत्यर्थः । अन्यत् सुगमम् । वसन्ततिलकं छन्दः ॥ ७३ ॥

७४. अधिगत्येति । तस्मात् पृथ्वीराजादनु तदनु, हरिराजनृपः, अखिलां इमां पृथ्वीं स्वकरे चकार । शेषं सुगमम् । प्रमिताक्षराछन्दः ॥ ७४ ॥

७५. यन्नामेति । अहो इति [प० ४०.२] आश्चर्ये, ते च ते कवयश्च तत्कवय-स्तेषाम् । तच्छब्दस्य परोक्षार्थव्यंजकत्वात् । अर्थात् परोक्षकवितुल्यानां कवीनामपि वाणीनां पथि, यस्य राज्ञ इमे यदीया औदार्यप्रमुखा गुणाः पथिकीभावं अध्वगभावं नाभजन्त । अत्र किमद्भुतम्? अवाग्गोचरा गुणाः इत्यर्थः । कीदृशे पथि? यन्नाम्नः प्रतिवर्णं प्रत्यक्षरं संभृतो मिलितो यत्सुधापूरः सुधाप्रवाहस्तस्मिन्, आपतन् क्षरन् यद्यशःकर्पूरस्य उरुर्गरिष्ठो यो

रजोभर॰ रेणुसमूहस्तेन, प्रसृमरं प्रसरणशीलं आविर्भावि प्रकटीभवद् यत् पंकं, तेन आकुलः कर्दमिलस्तस्मिन् । लोकेऽपि पंकाकुले पथि पथिका न [ग]च्छन्तीति व्यवहारः । अतिशयोक्ति-रूपकयोः संकरः ॥ ७५ ॥

७६. **यत्पाणिमिति** । यत्पाणिं यद्धस्तं सरसीरुहं कमलं इति कृत्वा, रमा लक्ष्मीर्भेजे । च पुनः, असिदम्भात् खड्गदम्भात् हरिर्नारायणः, रागात् स्नेहात् तां लक्ष्मीं स्वयं अन्वगमत् अनुगच्छति स्म । तयोर्लक्ष्मी - नारायणयोः प्रतापः सूनुः अभूत् । यः प्रतापः अग्रजवैरिणं ज्येष्ठभ्रातृवैरिणं अर्थात् ज्येष्ठभ्राता कन्दर्पस्तद्वैरिणं स्मररिपुं महेशं, कोपात् तथा तापयति स्म, यथा स महेशः स्वस्मात् गंगां दूरयितुं क्षणमपि नालमभूत्, न समर्थो बभूव । त्रिभुवनजयिनोऽपि महेशस्य तापको यत्प्रताप इति भावः ॥ ७६ ॥

७७. **भूचक्रे इति** । यः **हरिराजः**, किमिति वितर्के, देवानामपि कुम्भजन्ममुनये अगस्त्याय अर्घं दातुं, नित्योल्लासिनः विकासिनश्च ये कासास्तैः [प॰ ४१.१] सुभगंभूष्णुः श्रीर्यस्याः सा ताम्, एवंभूतां दिवं व्यधात् चक्रे । कैः करणभूतैः ? अंशुभिः किरणैः । कीदृशैः अंशुभिः ? स्वयशःपर्वततुङ्गशिखरात् अभ्युद्गतैः । पुनः की॰ ? ब्रह्माण्डस्य आहत्या भग्नो यो वेगस्तेन विधुरैः, अतएव पश्चान्निवृत्तैः । यशःकिरणांकुराणां कासतुल्यता ध्वन्यते । सुभगंभवितुं शीलमस्येति सुभगंभूष्णुः । अतिशयोक्तिगर्भितो गूढोपमालंकारः । सार्दूलविक्रीडितं वृत्तत्रयम् ॥ ७७ ॥

७८. **विष्वगिति** । विष्वक् समन्तादञ्चतीति विष्वगद्र्यङ्, तस्मिन् । विष्वग्द्रीचि सर्वव्यापके यत्कीर्तिपूरे सति विधुश्चन्द्रः, अतिविधुरा अतिपीडिता श्रीर्यस्येति एवंभूतः, समजनि । गङ्गा तरङ्गवर्जिता अजनि, कीर्त्याऽऽवृतत्वात् । मेरुः अगौरः अजनि, तस्मात् कीर्तेरगौरत्वात् । स शर्वो महेशस्त्यक्तगर्वः अजनि । कुमुदं अमदं गर्वरहितं अजनि । इन्द्रस्यायं ऐन्द्रः सिन्धुरो गजः उद्धुरौजा नाजनि । उद्धुरं उत्कटं ओजस्तेजो यस्य सः । उपमातिरस्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ ७८ ॥

७९. **यान् यानिति** । यस्य क्षोणिपतेः **हरिराज**स्य सेना कापि अनिर्वचनीया नवा नूतना अनीदृशी संचारिणी चलन्ती दीपिका व्यराजततमां अत्यर्थं राजते स्म । दीपिका तु यान् व्यतिक्रामति तत्रान्धकारः, यान् प्रति चलति तत्रोद्द्योतः । इयं तु व्यतिरेकिणी इति नवा । नवीनत्वमेवाह—यान् यान् कृतनतीन् नृपान् व्यत्यगमत् व्यतिचक्राम, ते ते प्रकाशं ययुः । यान् यान् प्रति अचलत् चचाल ते ते म्लानतां [प्र॰ ४१.२] कार्ष्ण्यं भेजुः भजन्ति स्म । रूपकोऽलंकारः ॥ ७९ ॥

८०. **कर्तुमिति** । यस्य नृपस्य दिग्जयं कर्तुं उद्यतस्य निखिलं क्षोणीतलं क्रामतां अश्वानां असौ वारांराशिः अन्तरायः अजायततमां अत्यर्थमभूत् । वारांराशिः किं कुर्वन् ? वेगोत्तरं वेगोत्कृष्टं यथा स्यादेवम्, तथा धावतां अश्वानां गतिभंगतां उपनयन् प्रापयन् । अश्वानां केषामिव ? कवेर्वाचामिव । यथा कवेर्वाचां शठानां गोष्ठी अंतरायो भवति । कीदृशानां वाचाम् ? वाच्यविचारे अर्थविचारे भास्वरा रुग् यासां तास्तासाम् । उपमालंकारः ॥ ८० ॥

८१. हत्वेति। अनेन राज्ञा विपक्षभूमिपतयः शत्रुनृपाः हत्वा व्यापाद्य स्वर्वैभवं स्वर्गराज्यं लंभिताः प्रापिताः, तेऽपि शत्रुनृपाः, अस्य नृपस्य, इमां उपकारिणो भावः उपकारिता ताम्, स्वहृदये संभाव्य, गजाश्च वाजिराजिश्च वसुधा च कोशादयश्च तेषां दानं तैः सचक्रुः सत्कारं कुर्वंति स्म। एतदर्थसमर्थनार्थं अर्थान्तरन्यासो यथा – सा० सारपरोपकारोत्पादितं पुण्यं शत्रौ अपि न वन्ध्यं न निष्फलम्। अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥ ८१ ॥

८२. हुत्वेति। यः हरिराजनृपः निजक्रोधाग्निमुखे द्विड्वीरहव्यं शत्रुसुभटहोतव्यद्रव्यं हुत्वा, शुचा शोकेन, क्रन्दन्त्यः रुदन्त्यः यास्तद्रमण्यः शत्रुस्त्रियस्तासां यानि विलोचनानि तेभ्यः गलन्ति स्रवन्ति यानि बाष्पाम्बूनि अश्रुजलानि तानि, तैर्भूरिभिर्बहुभिः, अत्र भूचक्रे, तथा अतिवृष्टिं निरंतरं प्रोल्लासयति स्म यथा अन्यायबीजांकुरः [प० ४२.१] अचिरात् तूर्णं विनाशं आशिश्राय। अतिवृष्टौ बीजानि विनश्यन्तीति न्यायः। रूपकोऽलंकारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तचतुष्टयम् ॥ ८२ ॥

॥ इति श्रीहम्मीरकाव्यदीपिकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः सर्गः ।

१. कुर्वन्निति। स हरिराजः असन्तापकरैः क्षन्तुं शक्यैः करैः, राजदेयद्रव्यैः, कुः पृथ्वी, तस्याः वलयस्य भूवलयस्य, उल्लासं कुर्वन्, प्रजाः लोकान् अभिवर्द्धयति स्म। कः का इव? तुषारांशुर्वेला इव। यथा चन्द्रः, असन्तापकरैः शीतलैः किरणैः, कुवलयानां कुमुदानां उल्लासं कुर्वन्, वेलाः समुद्रजलवृद्धीः अभिवर्द्धयति। उपमा-श्लेषयोः संकरोऽलंकारः। अनुष्टुप् छंदः ॥ १ ॥

२–३. राज्यमिति। विस्फुरदिति। अन्येद्युः अन्यस्मिन् दिने, श्रीगूर्ज्जरो नृपः राज्यमुपभुञ्जानाय हरिराजनृपाय, नर्त्तकीः प्रेषयामास। महीभुजे इति तादर्थ्यचतुर्थी। नर्त्तकीः का इव?। वर्षा इव। वर्षाशब्दस्य नित्यबहुत्वात्, नर्त्तकीनां वर्षाणां च श्लेषेण साधर्म्यमाह–विस्फुरन् दीप्यमानः शुक्रस्य सप्तमधातोः; वर्षापक्षे शुक्रः षष्ठो ग्रहः। पयोधरौ स्तनौ, पक्षे पयोधराः मेघाः। उल्लसन् हर्षो याम्यः। उभयत्र तुल्यम्। उपमा-श्लेषयोः संकरोऽलंकारः। युग्मम् ॥ २–३ ॥

४–१०. लसेति (१०)। ताः नर्तक्यः प्रनर्त्तितुं प्रावर्तन्त प्रवृत्ताः। उत्प्रेक्षते मूर्त्ताः कन्दर्प्पाहंकाराः। कीदृग्विधाः? लसन्तीभिर्लावण्यलीलाभिः, लोकलोचनानां लोभनाः लोभनहेतवः (१०); किं कुर्वन्त्यः नर्तक्यः? [प० ४२.२] कदाचिदिति। श्लोकः सुगमः (९); पुनः किं कुर्वन्त्यः नर्तक्यः? वात्याव्यतिकरेण उद्धूतं यत्कदलीदलं तद्वत्तनुं शरीरं कम्पयन्त्यः। च पुनः, कुम्भकारचक्रवत् तनुं भ्रमन्त्यः (८); नर्तक्यः का इव? उपमीयते – सुसेव्योः कन्दर्प्पस्य वाप्य इव। दीर्घिकाधर्म्ममारोपयति–पीनौ उल्लसन्तौ स्तनावेव कोकौ चक्रवाकौ यासु, ताः। विस्मेराणि वदनान्येव अम्बुजानि यासु, ताः।

चलन्त्यो दश एव पृथुलोमानो मत्स्याः यासु, ताः (७); दृढं यद्यौवनं तदेव सोपानं यासु, ताः। शृङ्गारः स एव वारिजलं यासु, ताः। विस्फुरन्तो ये वालाश्चिकुरास्त एव सेवालं यासु, ताः (६); क सति? अन्यस्मिन् प्रस्तावे, नृपे हरिराजे, च पुनः नृपलोके निषेदुषि सति। अन्यत् विशेषणद्वयं सुगमम् (४); केषु सत्सु? तालस्य हिल्लपटादेर्यो मेलः संबन्धस्तेन मनोहरं यत्कर्म तत् ता० यथा स्यादेवं तथा वाद्येषु मृदंगादिषु वाद्यमानेषु सत्सु। पुनः केषु सत्सु? कोकिलालापकोमलं यथा स्यादेवं तथा गायमानेषु गायत्सु सत्सु (५); सप्तभिः कुलकम् ॥ ४—१० ॥

११. तस्येति। यस्य पुरुषस्य आसां नर्त्तकीनां लावण्यसमुद्रे दुग्मनसे नेत्रचित्ते मग्ने ब्रुडते सती निर्यातुं निर्गन्तुं शक्ततां गते समर्थतां प्राप्ते, तस्य पुरुषस्य अजन्मेवाभूत्। दुग्मनसे इति राजादित्वाददन्तः ॥ ११ ॥

१२. इतीति। इत्यमुना प्रकारेण तासां नर्त्तकीनां नाट्यं पश्यन् अयं नृपः क्षणमात्रमपि त्यक्तुं मोक्तुं अलंभूष्णुः समर्थः नाभूत्। अलं भवितुं शीलमस्येति। 'भूजेष्णुक्' इति सूत्रेण सिद्धम् ॥ १२ ॥

१३. तत इति। गीतनृत्यादौ [पृ० ४३.१] दक्षाः संगीतवेदिनस्तेषां दाने परायणस्तत्परः असौ नृपः सेविनां भृत्यानां जीविकार्प्पणे सेवाद्रव्यदाने मितंपचत्वं कृपणत्वं आश्रयति स्म। सेवकानां न दत्ते इत्यर्थः। 'कृपणस्तु मितंपचः' इति हैमः कोशः ॥१३॥

१४. वार्त्तेति। ते सेवकाः वार्त्तां आजीवनं अलभमानाः अप्राप्नुवन्तस्तस्य राज्ञः सेनां अहासिषुः तत्यजुः। ओहाक् त्यागे इति धातोः अद्यतन्यां प्रयोगः। उत्तरार्द्धे अर्थान्तरन्यासः सुगमः। 'आजीवो जीवनं वार्त्ता' इति हैमः कोशः ॥ १४ ॥

१५. राज्यस्थितिमिति। प्रजाः लोकाः तथाभूतां तादृशीं राज्यस्थितिं दर्शं दर्शं दृष्ट्वा दृष्ट्वा, तस्मात् नृपात् श्राक् तूर्णं विरज्यन्ते स्म विरक्ता भवन्ति स्म। प्रजाः का इव? स्त्रितमा इव। प्रकृष्टाः स्त्रियः स्त्रितमाः। यथा प्रधानस्त्रियः दुर्भगात् विरज्यन्ते। 'खणम् चाभीक्ष्ण्ये' इति सूत्रेण दर्शं दर्शमिति सिद्धम्। पूर्वं सेवकाः विरक्ताः पश्चात् प्रजा इत्यपेरर्थः ॥ १५ ॥

१६. एतदिति। आनशे इति व्याप्नोति स्म। शेषं सुगमम् ॥ १६ ॥

१७—१९. काकनाशमिति। ततोऽनन्तरम्, भीत्या भयेन काकनाशं प्रणष्टजनताननात् शत्रुभूपतेस्तुरुष्कस्य सौख्यसर्वंकषं सौख्यसमूलोन्मूलकं आगमनं श्रुत्वा, ततोऽनन्तरम्, असौ हरिराजः इति हेतोः जलने प्राविशत्। हेतुकथनमाह—पृथ्वीराजमरणदिनमारभ्य अकृत्यं अकार्यमिति कृत्वा संत्यक्ततुरुष्कमुखदर्शनः। शेषं सुगमम्। पृथ्वीराजेन्द्रस्य या नाकलोकाप्तिः स्वर्गगमनं तस्य यो वासरः पृ०, तम्। काकैरिव [पृ० ४३.२] नश्यते, तद्वत् प्रणष्टा या जनता काकनाशं प्रणष्टजनता। 'करणेभ्यः' इति खणम् प्रत्ययेन सिद्धम्। सर्वं कषितुं शीलमस्येति सर्वंकषम्, सर्वान् सहत्वेति सिद्धम्। त्रिभिर्विशेषकम् ॥ १७—१९ ॥

२०. **नाकलोकमिति** । तस्मिन् हरिराजे ना[क]लोकं स्वर्गलोकं प्रीणातीति, कर्तुः क्वशिति सिद्धम्, तस्मिन् । अर्थात् स्वर्गं गते मृते इति यावत् । तत्परिच्छदस्तत्परिवारः अम्लासीत्, मम्लौ, म्लायतिस्मेति यावत् । जगद्दीपे सूर्ये अस्तंगते सति कमलाकरः पद्मसरः किं स्मेरः ? किं विकसितः ? अपि तु न । दृष्टान्तोऽलंकारः ॥ २० ॥

२१. **अपुत्रेति** । चिन्तया चान्तं हृत् येषां ते, एवंभूताः मन्त्रिणः, बाढमत्यर्थं मन्त्रयन्ति स्म । शेषं सुबोधम् । मन्त्रं कुर्वन्ति मन्त्रयन्ति, मन्त्रशब्दस्य णिज् बहुलमिति नामधातोः सिद्धम् । यद्वा मन्त्रिण् गुप्तभाषणे, चौरादिके धातौ, मन्त्रयन्ते इत्यात्मनेपदं सिद्धम् ॥ २१ ॥

२२. **अपत्यमिति** । न पतन्ति यस्मिन् जाते पितरो दुर्गताविल्यपत्यं पुत्रलक्षणः संतानः । अन्यत् सुगमम् ॥ २२ ॥

२३. **तदिति** । तद्धेतोः । नीवृतं **शाकंभरीदेशं** त्यक्त्वा **रणस्तंभपुरं** प्रति वयं मन्त्रिणो यामः । अर्थान्तरन्यासे सूरशब्दः श्लेषितः । सूरः सूर्यः, पक्षे सूरः विक्रान्तः ॥ २३ ॥

२४. **तत्रेति** । तत्र तस्मिन् **रणस्तंभ**देशे, अतः अस्मात् **अजयमेरु**दुर्गात्, पित्रा प्राक् निरासितः अस्तीति । अन्यत् सुगमम् ॥ २४ ॥

२५. **स्वस्वामीति** । तं भूपं आश्रिताः वयं मन्त्रिणः, न विद्यते भयं कुतोऽपि येषां ते अकुतोभयाः [पा० ४४.१] संतः कीर्त्तिपात्रीभवन्तः, अवतिष्ठेमहि अवस्थानं कुर्वीमहि । कीदृशं तम् ? स्वस्वामिनो वंश एव कासारस्तडागस्तत्र हंसस्तम् । स्था धातोः संविप्रावादिति कर्त्तर्यात्मनेपदम् ॥ २५ ॥

२६. **मन्त्रयित्वेतीति** । भूपस्येदं भूपीयं भूपसंबन्धि कोशबलादिकं भाण्डागारकटकादि । अन्यत् सुगमम् ॥ २६ ॥

२७. **दावेति** । उद्वसं देशं ज्वालयन् पश्चाच्छकः **अजयमेरुपुरं** लाति स्म । किंवत् ज्वालयन् ? दावकपावकवत् दावाग्निवत् । यथा दावाग्निः वार्क्षं अरण्यं ज्वालयन् पश्चादुपागच्छति । वृक्षाणां समूहो वार्क्षम् । समूहार्थेन अण् प्रत्ययेन सिद्धम् ॥ २७ ॥

२८. **अथेति** । अथानन्तरं ते सर्वे मन्त्रिणः **गोविन्द**भूपतेः पुरं प्राप्य समगंसत, संगच्छन्ति स्म, अमिलन्नित्यर्थः । वृत्तान्तं च निगदन्ति स्म ॥ २८ ॥

२९. **पितृव्येति** । पितुर्भ्राता पितृव्यः । अन्यत् सुगमम् ॥ २९ ॥

३०. **स्मृतीति** । स्मृतौ स्मरणज्ञाने, पूर्वं स्मृतः पश्चात्परित्यक्तः शोको येन सः । अन्यत् सुगमम् । 'अमात्यः सचिवो मन्त्री धीसखः ।' इति हैमः कोशः ॥ ३० ॥

३१. **पराभवन्निति** । स गोविन्दराजः प्रजाः लोकान् अन्वशात् अनुशिष्यति स्म । स्फीतं गरिष्ठं शांतं सौख्यं अनुभवन्, शत्रुसमूहं पीडयन्, न्यायवृद्धये समर्थो भवन् ॥ ३१ ॥

३२. **गोविन्द इति** । दिविषदां देवानां वृन्दं देवसमूहस्तस्मिन् विषये गोविन्दे चातुरीं संचारयति सति, अर्थात् स्वर्गगते सति, **वाल्हणः**, शत्रूणां समूहः शात्रवम्, तन्नो-र्मावस्तानवं तनुतां निन्ये ॥ ३२ ॥

३३. **घनवदिति** । यत्र **वाल्हणे** समरे [पृ० ४४.२] संग्रामे घनवत् मेघवत् शरासारं बाणवेगवृष्टिं विस्तारयति सति, नाशेन पलायनेनैव शत्रूणां राजहंसता मरालता व्यक्ता अभवत् । एवशब्दो अन्ययोगव्यवच्छेदार्थः । आसारे वर्षति राजहंसाः नश्यन्ति । निर्लोभनृपतित्वगुणेन राजहंसता नाऽभूत् । 'निर्लोभनृपतौ हंसः' इत्यनेकार्थः । श्लेषोऽलंकारः ॥ ३३ ॥

३४. **वर्षत्यपीति** । यस्य धनुरेव घनो मेघस्तस्मिन्, बाणधाराभिर्वर्षति सति, शत्रुभूभृतः अरिनृपाः विच्छायतां भेजिरे । एवं चित्रम् । अन्यत्र घने वर्षति भूभृतः पर्वताः सच्छायाः स्युः । अत्र तु न तथा । श्लेषोऽलंकारः ॥ ३४ ॥

३५. **सत्वरमिति** । शत्रुसमूहाः यं नृपं संग्रामे शीघ्रं जयनशीलं वीक्ष्य, नाश-हेतवे पलायनाय, नवरं केवलम्, सपक्षत्वं पक्षसहिततां अभिलेषुः ववाञ्छुः । न तु युद्धहेतवे सपक्षत्वं अपरनृपसाहाय्यं अभिलेषुः । श्लेषोऽलंकारः ॥ ३५ ॥

३६. **नाम्नीति** । यो **वाल्हणः**, विरोधिनां शत्रूणां अवनीपालतां भूमिपालतां हित्वा, द्राक् शीघ्रं, वनीपालतां वनरक्षकतां ददौ । किं कर्तुमिच्छुः ? विरोधिनां नाम्नि, च पुनः विरोधिनां धाम्नि तेजसि, संक्षेपं विधित्सुः । यमकोऽलंकारः ॥ ३६ ॥

३७. **सदेति** । तत्पुत्रौ **वाल्हण**पुत्रौ उभौ अभूताम् । काविव ? सूर्याचंद्रमसाविव । कीदृशौ पुत्रौ ? सह दान-भोगाभ्यां वर्त्तत इति । सूर्य-चन्द्रपक्षे सदा निरंतरं नभोगौ आकाशगामिनौ । गोचक्रं भूमिचक्रम् । पक्षे गावः किरणास्तेषां चक्रम् । पापानां अन्या-यिनां खंडनौ । पक्षे पापं दुःकृतम् । श्लेषोऽलंकारः ॥ ३७ ॥

३८. **गुणश्रेष्ठ** [पृ० ४५.१] **इति** । द्वितीय एव द्वैतीयीकः । स्वार्थ इकण्प्रत्ययेन सिद्धः । प्रतिपत् प्रज्ञा तस्याः घटः । अन्यत् सुगमम् ॥ ३८ ॥

३९. **सममिति** । सममेकत्र तुल्यकालं वा क्रीडां विस्तारयतोः, कलाः लिखि-तादिकाः पठतोस्तयोः । शेषं सुगमम् ॥ ३९ ॥

४०. **वीक्ष्येति** । अन्यदा नृपो **वाल्हणः**, मूर्ध्नि मस्तके, अपलितः पलितः क्रियते अनया, ईदृशीं जरां वीक्ष्य, भोगेभ्यः शपति स्म, कोशति स्म, निन्दतीति यावत् । योगेभ्यः मोक्षोपायेभ्यः श्लाघते स्म, स्तौति स्म । श्लाघह्नुस्था शपेति चतुर्थी ॥ ४० ॥

४१. **तत इति** । ततोऽनन्तरम्, भूपः **वाल्हणः**, द्वावपि पुत्रौ विधिना अनुशास्य शिक्षयित्वा, **प्रह्लादनं** राज्ये न्यधात् । **वाग्भटं** प्रधानत्वे स्थापयति स्म ॥ ४१ ॥

४२. **स्वयमिति** । राजा दिव(वि)षत्पदं देवस्थानं बभूवे । तयोः पुत्रयोः प्रीतिं द्रष्टुमिव कियत्कालं स्थित्वा । भूधातोः क्रियाव्यतिहारे गतिहिंसेति कर्तर्यात्मनेपदम् ॥ ४२ ॥

४३. कृत्वेति । सूनुः पितुः देहादूर्ध्वं कर्म और्ध्वदेहिकम्, मरणदिने काष्ठादिदानम् । 'तद्देहदानं तदर्थमूर्ध्वदेहिकम्' इति हैमः कोशः । यथेत्युदाहरणोपन्यासे । माठ्यस्य उपनिषदं रहस्यं जानातीति । अन्यत् सुगमम् ॥ ४३ ॥

४४. भास्वतीति । न असत्यस्य जनिं करोतीत्येवंशीलो यः स तस्मिन्, एवंभूते यस्मिन् राजनि भास्वति दीप्यमाने उदिते पट्टाभिषिक्ते सति, सपक्षैः सदृशैः अर्थात् कुटुंबक्षत्रियैः, विपक्षैः शत्रुभिश्च, कौशिकायितं कौशिकवत् इंद्रवत् घूकवद्वा आचीर्णम् । कुटुंबिभिः इंद्रायितम्, शत्रुभिः घूकायितम् । गुहानिवासित्वात् । चित्रं तु [प० ४५. २] नासत्ययोः अश्विनीकुमारयोः जनिं करोतीत्येवं शीलो यः स, तस्मिन् । एवंभूते भास्वति सूर्ये उदिते सति सपक्षैः पक्षसहितैः वृकैः कौशिकाय्यते । विपक्षैः पक्षरहितैः न कौशिकाय्यते । अत्र तु द्वाभ्यामपि कौशिकायितं इति चित्रम् । श्लेषोऽलंकारः ॥ ४४ ॥

४५. विशामिति । यत्र यस्मिन् विशां वैश्यानां ईशे स्वामिनि अर्थाद् राजनि, दशापि दिशः जेतुं कृतोद्यमे सति, वैरिणः प्राणान् रक्षितुम्, द्विप्रकारेणापि प्रधनं संग्रामम्, द्वितीयभेदे प्रकृष्टं धनं तत्यजुः । श्लेषोऽलंकारः ॥ ४५ ॥

४६. बलीति । विष्वक् सर्वव्यापिनी सेना यस्य । एवंभूतोऽपि यो नृपः दानवारितां दैत्यशत्रुतां न भेजे । अन्यत्र तु यः विष्वक्सेनः विष्णुः, स दानवारितां भजते इति विरोधः । विरोधपरिहारे, दानं वारयतीत्येवंशीलः दानवारी, दानवारिणो भावः, दा० । ताम् । किं०ष्टः नृपः ? बलिनां बलिष्ठानाम् । विष्णुपक्षे बलेर्वैरोचनेर्ध्वंसे । आशये चित्ते शायिनो नित्यं वसन्तः । सुष्ठु शोभनानि दर्शनानि जैनादीनि यस्य, सः । विष्णुपक्षे शये हस्ते शायी वर्त्तमानः सुदर्शनश्चक्रं यस्य । शब्दविरोध-श्लेषयोः संकरः ॥ ४६ ॥

४७. मुदेति । स नृपः निरगात् निर्ययौ । दावाग्निवत् प्रतापो यस्य । चापविदां धनुर्वेदिनां गुरुः । अन्यत् सुगमम् ॥ ४७ ॥

४८. उत्सलदिति । तुरगाः बभुर्भान्ति स्म । उत्सलन्त्या धूल्या विज्ञाताः खुराग्रैः क्षुण्णं भूतलं यैस्ते । पश्चात्कर्मधारयः । त्वरया वेगेन समीरस्य वायोः स्फूर्त्तिं शीघ्रगमनलक्षणां जयन्तीति । जात्यलंकारः ॥ ४८ ॥

४९. आजान्वीति । [प० ४६. १] जानोः आमर्यादीकृत्य लम्बीनि लम्बमानानि सुस्थूलानि यानि नीलीचीवराणि रागद्रव्यचिह्नितवस्त्राणि, तानि धारयन्तीत्येवंशीला ये ते । एवंभूताः पदातयः पद्गाः चेलुः । मूर्त्ताः सशरीराः । उत्प्रेक्षते, भयानकरसाः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ४९ ॥

५०. स्तब्धेति । स्तब्धाः अनम्राः कर्णाः येषां ते । स्वर्णस्य अग्रकण्ठिका कण्ठाभरणं येषाम् । चक्षुषाः चक्षुर्ग्राह्या मातरिश्वानो वाता इव । अभूतोपमालंकारः ॥५०॥

५१–५२. वाहिनीति । विस्मेरेति । नृपः नारीरिव स्त्रीरिव वनीर्वनस्थलीर्वीक्ष्य रन्तुं उत्सुकचेताः अभूत् । अन्योऽपि नारीर्दृष्ट्वा रन्तुमुत्सुको भवति । किं० ष्टा वनीः ?

विस्मेरसुमनसः विकसितपुष्पाः ये वाणाः वृक्षविशेषाः करवीरा हयमाराश्चरोः, तैर्मनोहराः यास्तास्ताः। नारीपक्षे विस्मेराः फुल्लाः सुमनस एव पुष्पाण्येव करे यस्य एवंभूतो वीरः कन्दर्पस्तेन मनोहराः। उपमा-श्लेषयोः संकरोऽलंकारः। किं कुर्वन्नृपः? प्रचलद्भिर्बलैः कटकैः इलां पृथ्वीं विह्वलयन्। ह्वल्धातोः णिगंतेन प्रयोगः, चलयन्नित्यर्थः। कीदृशैर्बलैः। वाहिनीशतानां सेनाशतानां संश्लेषेण संबन्धेन बहुलानि यानि तैः। समुद्रपक्षे वाहिनीशतानां नदीशतानाम्। उत्प्रेक्षा-श्लेषयोः संकरः॥ ५१-५२ ॥ युग्मम्॥

५३-५४. बलभद्रा इति। केचिदिति। वनस्यान्तः अन्तर्वणं वनमध्ये, भटाः प्राविशन्। केऽपि भटाः बलेन भद्राः बलभद्रास्ततो हेतोः, हरिमार्गं सिंहमार्गं अनुसरन्तीत्येवंशीलाः। श्लेषपक्षे ये बलभद्रा [पृ० ४६.२] रौहिणेयास्ते कृष्णमार्गानुसारिण इति युक्तम्। केचिद्भटाः शशान् लोमकर्णान् धारयन्तीति ये ते। यतः दृष्टः सिंहिकासुतस्य केसरिणः विक्रमो यैस्ते, ततः शशधराः। श्लेषपक्षे ये शशधराश्चन्द्रास्ते। दृष्टः सिंहिकासुतस्य राहोः विक्रमो यैस्ते। केचित् रौद्रा रौद्ररसात्मकाः। ततः शिवां शृगालजायां अनुगच्छन्तीति। ततः वृषस्य पुण्यस्य उलंघने जांघिकाः जंघालाः। श्लेषपक्षे ये रौद्रा रुद्रपक्षीयास्ते शिवां पार्वतीं अनुगच्छन्ति। वृषस्य बलीवर्दस्य उलंघने जंघालाः। श्लोकद्वये श्लेषोऽलंकारः। अन्तर्वणमिति निःप्राप्रोऽन्तःखदिरेति णत्वम्। जंघाबलं येषु ते जांघिकाः॥५३-५४॥ युग्मम्।

५५. द्विधेति। कोऽपि भटः सिंहयोः द्वयोः अन्तर्मध्ये स्थितः द्विप्रकारेणापि पृष्ठदानेन सत्रपः सलज्जः। यश एव अमृतं पिबन् क्रोडं सूकरं व्यडम्बयत् अनुचकार। सूकरोऽपि सिंहद्वयमध्ये अमृतं जलं पिबतीति लोकोक्तिः। गूढोपमालंकारः॥ ५५॥

५६. मत्स्वामीति। कोऽपि भट इति हेतोः मध्यतः कटीदेशात् वराहं अच्छिनत् छिनत्ति स्म। हेतुकथनमाह—मत्स्वामिनो वल्लभां प्रियां वसुधां पृथ्वीं अयं सूकरः, निरन्तरं भृशाभीक्ष्ण्येन खनति चंखनीति॥ ५६॥

५७. त्वन्नेत्रेति। कश्चिद्भट इति हेतोः भार्याप्रीतये हरिणं बध्वा, सह सार्द्धं गृह्णाति स्म। हेतुकथनमाह—अयं मृगः त्वन्नेत्रकान्तितस्करः। अस्य मृगस्य, रुचेरनतिक्रमेण विधीयताम्। चौरस्य बन्धनं युक्तम्। गूढोपमालंकारः॥ ५७॥

५८. निघ्नन्निति। कस्यचिद्भटस्य करः, काकस्याक्ष्णो गोलः [पृ० ४७.१] काकाक्षगोलस्तस्य, उपमानं लभते स्म। काकस्य नेत्रद्वयं गोलश्चैकः जातिस्वाभाव्यात् नेत्रद्वयेऽपि भ्रमतीति लोकोक्तिः। किं कुर्वन्? परं अन्यं पृष्ठागतं सिंहं हत्वा पुरःस्थितं सिंहं निघ्नन्। एक एव बाहुः द्वयोः सिंहयोः प्रहारे कृतार्थत्वात्। काकाक्षगोलकोपमानम्। उपमालंकारः॥ ५८॥

५९. तत्कटीति। कश्चन भटः सिंहेन हातुं न त्यक्तुं, न प्रहर्तुं न मारयितुं, क्षणं क्षणमात्रं, क्षमः समर्थः नासीत् न बभूव। किं कृत्वा? तत्कटीदर्शनात् सिंहकटीदर्शनात्, आशु शीघ्रं प्रियां संस्मृत्य स्मरणविषयीकृत्य॥ ५९॥

६०. **व्यात्तवक्रेति** । कोऽपि भटः केसरिणः सिंहस्य छिन्नं शिरो बाहुत्राणवत् बाहुल्लवत् अदीदृशत्, दर्शयति स्म । णिजर्थेन अङा सिद्धम् । किं कृत्वा ? प्रसारितमुखे करं क्षिप्त्वा । कीदृशः ? उत्पाटितबाहुः ॥ ६० ॥

६१. **निजघांसुमिति** । मृगो हरिणः मृगी निहन्तुमिच्छुं कंचिद्भटं दृष्ट्वा आत्मना मध्यवर्त्ती आस बभूव । अत्रार्थे अर्थान्तरन्यासमाह – स्नेहकटाक्षितम् । कटा – आश्चर्यवाचकः, कटा इति अव्ययशब्दः । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥ ६१ ॥

६२. **वञ्चयित्वेति** । कोऽपि भटः सिंहस्य यानं वाहनं लीलया आचरितं लीलायितम्, पश्चात् तत्पुरुषः । तत्, तत् धारयति स्म । किं कुर्वन् ? अतिदाक्ष्येणातिचातुर्येण हरेः सिंहस्य नेत्रविषयं वञ्चयित्वा, पृष्ठिं आरूढवान् ॥ ६२ ॥

६३. **कृत्वेति** । सिंहातिक्रान्तं अतिसिंहं स्थाम बलं पूर्वं कृत्वा, पश्चात् शस्त्रेण कुन्तादिना पातितः सन् अर्द्धमारितः [पृ० ४७.२] सन्, वराहः भृशाभीक्ष्ण्येन रटति । अत्रार्थे अर्थान्तरन्यासमाह – खलु निश्चितं स्वभावो दुस्त्यजः । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥६३॥

६४–६५. **नृप इति । क्वचिदिति** । नृपोऽपि **प्रह्लादनो**ऽपि, क्वचिद्गिरिणदीतीरे स्फुरच्छरवणान्तरे, एकं सिंहमद्राक्षीत् ददर्श । किं०ष्टम् ? निद्रा० शयानम् । गिरिनद्यादीनामिति णत्वम् । वनस्य वेति च णत्वम् । नृपः किं कुर्वन् ? हर्षेण स्वेच्छया भ्रमन् । पुनः किं० ? श्वापदान् हिंस्रमृगान् आपदाक्रान्तान् कुर्वन् । पुनः किं० ? अरुंतुदैर्मर्माविद्भिः शरासारैः शरवेगवर्षैर्वर्षन् । विध्वरुस्तिलेति अरुंतुदेति सिद्धम् । 'स्यान्मर्मस्पृगरुंतुद' इति हैमः कोशः ॥ ६४–६५ ॥

६६. **उत्साह्येति** । नृपः **प्रह्लादनः**, तं विनिद्रितं सिंहं उत्साह्य आहूय दक्षिणेर्म्माणं दक्षिणशरीरभागच्छेदितं निर्ममे निर्म्माति स्म । कीदृशः ? अविज्ञा० अविज्ञातं शरस्य बाणस्य संधानं मोक्षणं च यस्य, सः । 'दक्षिणेर्म्मातु स मृगो यो व्याधैर्दक्षिणे क्षतः' इति हैमः कोशः ॥ ६६ ॥

६७–६८. **तेनेति । जग्राहेति** । तेनैव प्रथमं सिंहं प्रति प्रोक्तेनैव, उत्साहनादेन आह्वानशब्देन, कुतोऽपि अलक्षितप्रदेशात्, अन्यत अन्यस्मात् स्थानात्, परः कुपितः सिंहः, तावत्प्रथमतः भूपतेः प्रांशुं दीर्घं अंशं स्कन्धं तीव्राग्रदंष्ट्रया जग्राह । असौ सिंहः राज्ञा क्षुर्या छुरिकया उरोविदारं यथा स्यादेवं तथा प्रतिचस्करे अवधीत् । उरसो विदारणं पूर्वं उरोविदारम् । प्रतेश्च वधे इति सूत्रेण कृग्धातुना परोक्षया प्रतिचस्करे इति सिद्धम् । उरोविदारमिति णम् प्रत्ययेन [पृ० ४८.१] सिद्धम् । कीदृशः ? स्फुरन्ती फाला विक्रमो यस्य, सः । मिलितपराक्रमः ॥ ६७–६८ ॥ युग्मम् ॥

६९. **दंष्ट्राघातेति** । दंष्ट्राघातेन स्रवद् यद्रक्तं तस्य याः धारास्ताभिः, अभितः समंतात्, चितो व्याप्तो नृपः, क्षणं क्षणमात्रं धातूनां गैरिकादीनां द्रवेण धातुस्रवणेन श्लिष्टो यः शैलस्तस्य लीला, ताम्, दधौ धारयति स्म । उपमालंकारः ॥ ६९ ॥

७०. तत इति । तत आनन्तर्ये, दंष्ट्राविषेण उत्सर्पिणी या मूर्च्छा, तया विह्वलीकृतः स नृपः, यती मुनिः ऋद्धिमिव, पापर्द्धिं मृगयां त्यक्त्वा स्वगृहमाजगाम । उपमालंकारः ॥ ७० ॥

७१. मन्त्रेति । भूपः **प्रह्लादनः,** स्वरूपभाक् स्वस्वभावभाक् नाभूत् न बभूव । नृपः किं क्रियमाणः ? शतात् संख्यायाः परे परःशतास्तैः, वैद्यसमूहैः मन्त्रवादिसमूहैश्च भृशमत्यर्थं चिकित्स्यमानः । रोगप्रतिकारविषयीक्रियमाणः । 'परःशताद्यास्ते येषां परा संख्या शतादिका' इति हैमः कोशः ॥ ७१ ॥

७२. दुश्चिकीति । अथानन्तर्ये, भूपः **प्रह्लादनः** दुश्चिकित्सिततरं चिकित्सा रोगापनयनम्, दुःखेन चिकित्सा यस्य स दुश्चिकित्सः । अतिशयेन दुः० तरः, तम् । ईदृशं आत्मानं ज्ञात्वा **वीरनारायणं** पुत्रं निजे स्वकीये पदे राज्ये सर्वथा सर्वप्रकारेण अभ्यषिंचत् अभिषिक्तवान् ॥ ७२ ॥

७३. पतिष्यदिति । पतिष्यन्ती भविष्यत्काले पतनशीला या **वाहमानीया** राज्यश्रीवल्लिस्तस्याः पादप इव, तं एवंभूतं सोदरं भ्रातरं **वाग्भटं** समाहूय, नृपः इति अमि वक्ष्यमाणप्रकारेण जगिवान् [प० ४८. २] उक्तवानित्यर्थः ॥ ७३ ॥

७४. शौर्यमिति । शौर्यं बुद्धिरविश्वास एतत्त्रयं राज्यश्रीकारणम् । स्थाविरे वार्द्धके तत्त्रयं पूर्वोक्तं स्वापं सुलभम् । पुनः पुनरपि तत्त्रयं शैशवे बाल्ये दुरापं दुर्लभम् । 'वार्द्धकं स्थाविरं ज्यायान्' इति हैमः कोशः ॥ ७४ ॥

७५. तदेति । स्वापं सुलभं चापल्यं चपलता यस्मिन्, तत्तस्मिन् । एवंभूते बाल्ये वयसि असौ **वीरनारायणः** स्थितोऽस्ति । तद्धेतोस्तथाकारं त्वया अनुशास्यः शिष्यणीयः, यथा कचिदहितं न स्यात् । तथाकारमिति 'अन्यथैवंकथमित्थमः कृगोऽनर्थकात् ।' 'यथा तथा दीर्घोत्तरे' इति सूत्रद्वयेन सिद्धम् ॥ ७५ ॥

७६. दौःशल्येनेति । अथ आनन्तर्ये, **वाग्भटः प्रह्लादननृपभ्राता,** अस्य सुतस्य **वीरनारायणस्य,** दौःशल्येन दुश्चरितभावेन, मन्युना कोपविशेषेण, गद्गदा गीर्यामी या सा तया, एवंभूतया गिरा वाण्या सशल्य इव, मन्दं मन्दं यथा स्यादेवं तथा, आचख्यौ व्याचष्टे ॥ ७६ ॥

७७. भवितव्यमिति । वाग्भटवचनमेतत् । भो स्वामिन् प्रह्लादन ! भवितव्यं भाव्यं निरोद्धुं कोऽपि न सासहिः, न भृशाभीक्ष्ण्येन शक्नोति स्म । सासहीति औ सासहि वावहि चाचलि पापतीति सिद्धम् । भो स्वामिन् ! एनं वीरनारायणं पुरा पश्चात्, परं विशेषेण, सदा त्वामिव उपासे सेविष्ये । उपासे इति भविष्यन्त्या अर्थे वर्तमाना । 'पुरायावतोर्वर्त्तमाना' इति सूत्रेण सिद्धम् ॥ ७७ ॥

७८. **उक्त्वेति**। इति पूर्वोक्तप्रकारेण उक्त्वा, वाग्भटे तूष्णीं तस्थुषि सति, क्षितिपाग्रणीः प्रह्लादनः, आत्मनो हितं आत्मनीनं तस्य चिकीर्षया कर्तुमिच्छया [प० ४९.१] परमात्मनः परमब्रह्मणः सस्मार। स्मृत्यर्थे षष्ठी॥ ७८॥

७९. **राज्ञेति**। अथ आनन्तर्ये, तस्मिन् राज्ञि **प्रह्लादने** अस्तमिते सति, **वीरनारायणो** नृपः लोकानां भास्वानिव सूर्य इव आसीत् बभूव। यो भास्वान् सूर्यः कमलानां पुष्पविशेषाणां उल्लासहेतुर्भवति। अयं तु कमलायाः लक्ष्म्याः इति। उपमाश्लेषयोः संकरः॥ ७९॥

८०. **स्वं तेजसेति**। यस्य **वीरनारायणस्य** असिः खड्गः, किमित्युत्प्रेक्षते—इति हेतोः श्यामतां कृष्णतां अधात्। किं कुर्वतः? अस्य आत्मतेजसैव द्विषतः शत्रून् आशु तूर्णं पिबतः सतश्चूर्णयतः, सतो विद्यमानस्य। हेतुकथनमाह—मत्प्रतिकर्म्म मत्प्रसाधनं वृथा इति। 'प्रसाधनं प्रतिकर्म्मे'ति हैमः कोशः। उत्प्रेक्षालंकारः॥ ८०॥

८१. **विस्फूर्जेति**। यस्य नृपस्य खड्गलता खड्गवल्ली नागदमनौषधिवत् बभौ शुशुभे। केषाम्? विस्फू०! विस्फूर्जद् विजृम्भत् यद्भुजशौण्डीर्यं बाहुपराक्रमः स एव फणभृत् सर्प्पः तेन दष्टा ये वैरिणः विस्फू० णः, तेषाम्। उत्प्रेक्षालंकारः॥ ८१॥

८२. **सोऽन्यदेति**। स नृपः अन्यदा अन्यस्मिन्प्रस्तावे प्रमदानेत्राणां पावनं पवित्रीकरणं प्र०, एवंभूतं यौवनं आश्रितं सन्, **कत्सवाहस्य** पुत्रीं परिणेतुं **आम्रपुरीं** नगरीं अगात् समाजगाम॥ ८२॥

८३. **तत्राभिषेति**। तत्र **आम्रपुर्यां जल्लालदीन**तुरुष्कराज्ञा **वीरनारायण** अभिषेणितः। सेनया अभियातः अभिषेणितः। उत्तरार्द्धं सुगमम्॥ ८३॥

८४. **तत्रेति**। तत्र **रणस्तंभे** तेन **वीरनारायणेन** सार्द्धं **जल्लालदीनः** [प्र० ४९.२] चिरं युद्ध्वा, तं वीरनारायणं छलग्राह्यं ज्ञात्वा, निजां पुरीं **ढिल्लीं** निवृत्य अगात्॥ ८४॥

८५. **कियतीति**। अथ आनन्तर्ये, यतश्छलग्राह्यस्ततो हेतोः, स शकभूपतिः **अमुं वीरनारायणं** छलेन विजिगीषुः, इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण, दूतेन अचीकथत् कथयति स्म। णिगर्थो ड् प्रत्ययः॥ ८५॥

८६. **ज्योतिष्वेति**। ज्योतिषां ग्रहनक्षत्रताराणां चक्रेषु यथा सूर्याचंद्रमसौ तथा निखिलेष्वपि आवां सार्वभौमावः। सार्वभौमौ इव आचरतः सार्वभौमावः। आधाराच्चोपमानादाचारे क्यङ्प्रत्ययलोपात् सिद्धम्। 'शेषात्परस्मैपदम्' इति परस्मैपदं सिद्धम्। सूर्यश्च चन्द्रमा च सूर्याचन्द्रमसौ। 'आ द्वंद्वे' इति आत्वं सिद्धम्। दूतकथनमेतत्॥ ८६॥

८७. **तज्ञौ युक्तेति**। दूतः पूर्वकथितां वार्त्तां निगमयति। तत्तस्माद्धेतोर्नौ आवयोः मिथ एकान्ते प्रीतिर्युक्ता। कीदृशी प्रीतिः? पचे० पचेलिमः परिपाकोन्मुखः फलोदयो यस्याः सा। कलङ्कविस्फूर्त्तिः ननु। भिदेलिमतमा अत्यर्थं भेदयोग्या आयतिः उत्तरकालो यस्याः सा॥ ८७॥

८८. **सहायमिति।** भो **वीरनारायण!** त्वादृशं सहायं लब्ध्वा दृढानपि वैरि-वंशान् शत्रुकुलानि अहं दंदह्येय, भृशामीक्ष्ण्येन दहेयम्। इति चेतसः संभावना। यथा पावको वह्निः समीरं वायुं सहायं लब्ध्वा वैरिरूपान् वंशान् तृणध्वजान् दहति। मैत्र्याः फलकथनमेतत्। उपमा-श्लेषयोः संकरः॥ ८८॥

८९. **प्रीतोऽस्मीति।** पूर्वार्द्धं सुगमम्। यद्यहं तुभ्यं द्रुह्यामि द्रोहं करोमि, तदा कर्त्रे शपे। कर्तुः शपथोऽस्तु इत्यर्थः। [पा० ५०.१] 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' इति तुभ्यमिति चतुर्थी। 'श्लाघह्नुङ्स्थाशपामिति' कर्त्रे इति चतुर्थी॥ ८९॥

९०. **एकवेलमिति।** त्वदीयो य आदेशस्तत्र वशंवदः त्वदा०। त्वदादेशेन वशीभूतः। अन्यत् सर्वं सुगमम्॥ ९०॥

९१–९२. **वक्षःस्थलेति। नाभि इति।** अथ आनन्तर्ये, **चाहमानस्य** हृदयं ताभिर्दूतोक्तिभङ्गीभिश्चुम्बितं सत् तमां अत्यर्थं विश्वसीत्। काभिः किमिव? भ्रमरीभिः कमलमिव। कीदृशस्य चाहमानस्य? सिसाधयिषतः साधयितुमिष्टस्य। पुनः कीदृशस्य? सुतरां विगृहीतस्य। शेषं सुगमम्॥ ९१–९२॥

९३. **तत इति।** संवदति। राजा तं संवदन्तं **वाग्भटः** प्रयोजयामासेति। फलवत् कर्तृत्वात् परस्मैपदम्। अन्यत् सुगमम्॥ ९३॥

९४. **नयेति।** पारं पश्यतीत्येवंशीलमस्येति पारदृश्वा। क्वनिप् कृता सिद्धम्। शेषं सुगमम्॥ ९४॥

९५. **शत्रुर्नेति।** स्नेहस्तैलम्। ध्वन्यर्थेन स्नेहो रागः। शीतात्मत्वं शीतस्वरूप-त्वम्। इयर्ति गच्छति। ऋगतावित्यस्य प्रयोग इति सिद्धम्॥ ९५॥

९६. **प्रचिकीति।** राज्यं चेत् कर्तुमिच्छसि चिरं चेज्जीवितुमिच्छसि। पदद्वयेऽपि सन्नन्तद्वयम्। मदुक्तिरेव मद्वचनमेव भंगी। उत्तरार्द्धे रूपकोऽलंकारः॥ ९६॥

९७. **गुरव इति। वाग्भटः** शिष्या(क्षा)माह–भो नृपगुरवः पूज्याः!, यदि वा पक्षान्तरे, सन्तः पण्डिता उत्तमा वा हितवाक्योपदेशिनः तस्य भवन्ति। कीदृक्षस्य तस्य? अभव्य-भव्यौ अशुभ-शुभकर्तव्यौ कर्मतापन्नौ, हेयोपादेयतां परिहार्य-ग्राह्यतां कर्मताप-न्नाम्। यथाक्रमं [पा० ५०.२] चिकीर्षतः कर्तुमिष्टस्य, अशुभस्य हेयताम्, शुभस्य उपा-देयताम्, इति यथाक्रमः। यथासंख्योऽलंकारः॥ ९७॥

९८. **इत्युक्त्वेति।** तत्र तस्मिन् **वाग्भटे** इत्युक्त्वा तूष्णीके मौनावलम्बिनि सति, पार्थिवो **वीरनारायण** इति जगिवान् उक्तवान्। किं कुर्वन्? भीमां भृकुटीं घटयन्। कीदृशः? सर्वांगीणा सर्वांगव्यापिनी या क्रुत् तया अन्धलो गताक्षः॥ ९८॥

९९. **अकार्यमिति।** करणानर्हं अकार्यम्, कर्तुमुचितं कार्यम्, मे मह्यं यत्तमां रोचिष्यते स्वदिष्यते। रुचिक्लृप्यर्थधारिभिरिति चतुर्थी। तत्कर्म स्वैरं स्वाभिलाषेण अहं विधास्ये। तत्र चिन्तया अत्र कृतं पूर्यताम्॥ ९९॥

१००. वाग्भटेति । **वाग्भट**स्तद्राज्यं त्यक्त्वा **मालवं** ययौ । उत्प्रेक्षते–प्रासेन कुन्तेन हृदि हत इव ॥ १०० ॥

१०१. परमेति । उर्वीशः **वीरनारायणः**, पौराणां नागरिकाणां जल्पितं उपेक्ष्य अनंगीकृत्य, **योगिनीपुरं** ययिवानिति । क्वसुप्रयोगेन सिद्धम् ॥ १०१ ॥

१०२. अन्तर्दुष्ट इति । महेन उच्छवेन, पुरीः अन्तः–अन्तःपुरि इति अव्ययीभावः ॥ १०२ ॥

१०३. प्रियालेति । शकेन्द्रः प्रियं यत् आलपनं संभाषणं तेन सारः प्रि०, तस्य भावस्तत्त्वम् । अस्य **वीरनारायण**स्य वनवद् दर्शयन्, अस्य मनः आश्चर्यचुम्बितं चकार । वनपक्षे–प्रियाला राजादनद्रुमाः, पनसाराः सर्वफलेग्रहिणो द्रुमाः । तयोर्भावस्तत्त्वम । पुनः वनपक्षे– चित्राश्चित्रकाः द्वीपिन इति यावत्, तेषां प्रचयेन समूहेन चुम्बितम्, चि० ॥ १०३ ॥

१०४. अन्येद्यु इति । अन्यस्मिन् दिने विषयोगेन हेतुना, शको **जल्लालदीनः**, भूपं **वीरनारायणं** अमीमरत्, [प० ५१.१] मारयति स्म । णिगर्थेन अङ्प्रत्ययेन **सिद्धम् ।** उत्तरार्द्धे अर्थान्तरन्यासमाह–अकार्यं प्रकुर्वन्तः पापा दुष्टाचाराः, हन्त इति खेदे, किं मुह्यन्ति मूढतां गच्छन्ति ? अपि तु न । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥ १०४ ॥

१०५. हतेऽत्रान्येति । अत्र अस्मिन् **वीरनारायण**हते सति, शको **जल्लालदीन** आशु शीघ्रं अन्यद्राजकं अन्यद्राजसमूहं हतमेव अबोधि जानीते स्म। हेतुकथनमाह– यत उच्चैस्तरोरपि मूले छिन्ने सति फलादि स्वापं सुप्रापम् ॥ १०५ ॥

१०६. तत इति । ततोऽनन्तरं **वाग्भटः** पितृव्यः, भूपालो **वीरनारायणः**, तावेव सूर्येन्दू सूर्याचन्द्रमसौ ताभ्यां परिवर्जितं परित्यक्तं वा० । ईदृशं **रणस्तंभपुरा**काशं तुरुष्कतारकैः व्यानशे । रूपकोऽलंकारः ॥ १०६ ॥

१०७. शकेति । अत्रापि **मालवे**, शकप्रेरणया **जल्लालदीन**प्रेरणया, जिघांसुं मिमारयिषुं मालवेश्वरं विज्ञाय ज्ञात्वा, **वाग्भटः** मालवेश्वरं हत्वा, तद्राज्यं मालवराज्यं ऊर्जितं ऊर्जस्वलं ललौ ॥ १०७ ॥

१०८. शकातंकेति । तद्राज्यं **वाग्भट**राज्यं दिने दिने वर्द्धते स्म । कैः ? **जल्लालदीन**परित्रस्तैः शरणागतैः क्षत्रियैः करणभूतैः ॥ १०८ ॥

१०९. शकेति । सेनया अभियातुमिष्टे अभिषेणिते, **षर्प्परैर्मुद्गलैः**, **रणस्तंभस्य** उद्धर्तुमिच्छा उद्दिधीर्षा, तया, अमीमिलत् मेलयति स्म । णिगर्थेन अङ्प्रत्ययेन सिद्धम् । शेषं सुगमम् ॥ १०९ ॥

११०. पुन्नागेति । पुन्नागा वृक्षविशेषा इति पर्वतपक्षः । गजपक्षे—पुरुषेषु नागाः प्रशस्याः पुन्नागास्तेषां संगे सुभगाः ।

सिंहशार्दूलनागाद्यास्तल्लजाश्च मतल्लिका ।

मचर्चिका प्रकाण्डाद्याः प्रशस्या[प० ५१.२]र्थप्रकाशकाः ॥'

इति हैमः कोशः । प्रक्षरन्तो मदा एव निर्झरा यत्र द्विपेषु, ते । एवंभूताः द्विपाः जंगमाश्चलन्तोऽवनिभृतः पर्वतास्तेषां लीला, तां कलयामासुः धारयन्ति स्म । श्लेषोपमारूपकाणां संकरः ॥ ११० ॥

१११. खुरोत्खातेति । खुरै उत्खाता ये रजःपुञ्जा रजःसमूहास्ते, तैर्हेतुभिः, विश्वं त्रिभुवनमपि एकरूपतां नयन्तः प्रापयन्तः, वाजिनां तुरगाणां व्यूहा रचनाविशेषाः, अद्वैतवादिवत् वेदान्तवादिवत्, रेजिरे शुशुभिरे । अद्वैतवादिनः विश्वं एकरूपतामाचक्षते, इति तार्किकप्रवादः । उपमा-श्लेषयोः संकरः ॥ १११ ॥

११२. संचरेति । अखिलाऽपि सकलाऽपि अब्धिमेखला वसुधा, द्वयोर्भावो द्विता, द्वितायाः प्राधान्यं द्वैतमयी । ततो बुञ् । शब्देन अद्वैतमयी शब्दाद्वैतमयी । आसीदिवोत्प्रेक्षते । कैर्हेतुभिः ? संचरन्ति यानि रथचक्राणि तेषां दिशां कूलं कषन्तीति कूलंकषा एवंभूता ये स्वनाः शब्दास्तैर्हेतुभिः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ११२ ॥

११३. धृतेति । धृतानां हेतिततीनां शस्त्रश्रेणीनां स्फीतद्युतिभिः प्रसूतकान्तिभिः द्योतितानि दिग्मुखानि यैस्ते । द्वेधापि द्विप्रकारेणापि प्राणेन बलश्वासलक्षणेन, शत्रुप्राणापहारिणः पदातयः शुशुभिरे । श्लेषोऽलंकारः ॥ ११३ ॥

११४. चलद्दलेति । स वाग्भट रणस्तंभस्याध अधोरणस्तंभम्, इति अव्ययीभावः । शिबिरं कटकस्थानं न्यवेशयत् स्थापयति स्म । किं कुर्वन् ? चलत्कटकसमूहैः भोगिविभुना शेषनागेन दुर्द्धरां धर्तुमशक्यां पृथ्वीं सृजन् ॥ ११४ ॥

११५. दृष्ट्वाऽनेकेति । अनेके च ते रणोच्छेका [प० ५२.१] रणोत्कटाः क्रीडन्तो ये वीरास्तेषां कुलानि यत्र तत्, तत् । ईदृशं कटकं दृष्ट्वा दरोद्रेकं भयविह्वलतां दधिवांसः धारयामासुः । क्वसु प्रयोगः ॥ ११५ ॥

११६. लोका इति । पूर्वार्द्धं सुगमम् । न्यायमाह—परचक्रे प्राप्तवति सति, सौख्यनाडीं धमन्तीति । 'नाडी घटी खरी'ति कृता सिद्धम् । सौख्यपूर्णाः के ? अपि तु न केऽपि ॥ ११६ ॥

११७. नृपादेशादिति । ततोऽनन्तरम्, वाग्भटनृपादेशात् स्फूर्जत् यत् शौर्यं वीरता तस्य आवेशो येषां, ते, एवंभूताः सुभटसमूहाः । अन्यत् सुगमम् ॥ ११७ ॥

११८. गोलैरिति । गोलैर्यन्त्रमुक्तैष्टकैः पाषाणदारकैः, कुशीभिः सुरंगाकारणैः, अन्यैरपि प्रकारैः, मनागपि स्तोकमपि अलंभूष्णवः समर्थाः । शेषं सुगमम् ॥ ११८ ॥

११९. भटानामिति । दृष्ट्वा दृष्ट्वा, 'णमुल् चाभीक्ष्ण्ये' कृतप्रत्ययेन सिद्धम् । विषादश्च आश्चर्यं च विषादाश्चर्ये ताभ्यां चुम्बितः वि० । शेषं सुगमम् ॥ ११९ ॥

१२०. मत्वेति । बलेन न ग्रहीतुं शक्यते इति बलाग्राह्यः, तम् । शेषं सुगमम् ॥ १२० ॥

१२१. निर्यातुमिति । लेगिवांस इति क्वसुप्रयोगेन सिद्धम् । लग्ना इत्यर्थः । अन्यत् सुगमम् ॥ १२१ ॥

१२२. वारीण्येति । दुर्गान्तरे प्राप्तेरभावात् जलानि अदुग्धायन्त, दुग्ध इव आचरन् । तृणानि ऐक्षुयष्टीयन्त, इक्षुयष्टिरिव आचरन् । काष्ठानि अचन्दनायन्त, चन्दनमिव आचरन् । गूढोपमालंकारः ॥ १२२ ॥

१२३. त्रिमास्यामिति । जीवं लात्वा जीवग्राहम् । 'कृग् ग्रहोऽकृत जीवात्' इति कृत्सूत्रेण सिद्धम् । पलायिषत प्रणष्टाः । अन्यत् सुगमम् ॥ १२३ ॥

१२४. भक्ति० [प० ५२. २] **इति** । मह्या ईशो महीशस्तस्य महीशस्य **वाग्भटस्य**, पौराः संजग्मिरे संगच्छन्ति स्म, मिलिता इत्यर्थः । पुरे वसन्तीति पौराः । कीदृशाः पौराः ? उपदापात्रपाणयः—उपदा ढौकनिका तस्याः पात्राणि पाणिषु येषां ते । की० नृपस्य ? जयेन जयवादेन शस्यतमा प्रशस्या द्युतिः कान्तिर्यस्य स, तस्य ॥ १२४ ॥

१२५. नृप इति । नृपोऽपि पुरान्तरं प्रविवेश । किं०ष्टं पुरान्तरम् ? सकैः—उत्सवैरुल्लसन्ती छाया शोभा यस्य स, तम् । पूर्वार्द्धं सुगमम् ॥ १२५ ॥

१२६. सैंहिकेति । अथानन्तरम्, किं कुर्वन् ? सैंहिकेयो राहुः, तस्य मुखनिर्मुक्तो यश्चन्द्रः, तद्बिम्बं विडम्बते अनुकुरुते इति । एवंभूताम्, अरिनिर्मुक्तं यद् **रणस्तंभपुरं** तस्य श्रीः, ताम् । उपमालंकार ॥ १२६ ॥

१२७. गजाश्वेति । स **वाग्भटः** धरायां सारं प्रधानं मन्दिरं अर्थाद् राजभुवनम् । यद्वा, धरायां सारः प्रधानो नृपस्तस्य मन्दिरम् । माद्यन्ती उन्मत्ता इन्दिरा लक्ष्मीर्यत्र तत् । तत् ईदृशं चकारः । कैर्हेतुभिः ? गजाः० । अन्यत् सुगमम् ॥ १२७ ॥

१२८. क्रमागेति । स **वाग्भटः**, कान् कान् इति कांस्कान्, भूमीभृतो नृपान्, पक्षे—पर्वतान्, पादाक्रान्तान् चरणाक्रान्तान्, पक्षे—पादाः किरणाः, अरीरचत् । पुनःपौनःपुन्येन रचयति स्म । कीदृशः ? भास्वान् देदीप्यमानः, पक्षे—सूर्यः । पुनः कीदृशः ? क्रमागतं परंपरागतं यदुदयस्थानं तत्, लब्धा प्राप्ता । श्लेषपक्षे उपमा—यथा भास्वान् भूभृतः पर्वतान् । शेषं सुगमम् । लब्धा इति तृच्प्रत्ययेण सिद्धम् । कांस्कानिति । 'कातुः पुत्र [प्र० ५३. १] कस्कादयः' इति सिद्धम् ॥ १२८ ॥

१२९. निवेश्येति । तेनिवान् ततान इत्यर्थः । क्वसुप्रयोगेन सिद्धम् । अन्यत् सुगमम् ॥ १२९ ॥

१३०–१३१. तस्मिन्निति । **तन्नन्दनेति** । तन्नन्दनो **वाग्भटनन्दनः श्रीजैत्रसिंह** अभूत् । कीदृशः ? चन्दनवृक्षवत् जगतां विशेषां नेत्रानन्दनः । क सति ? तस्मिन् वाग्भटे स्वर्लोके याः लोलाक्ष्य अप्सरसः तासां या कटाक्षविशिखावलिः कटाक्षबाणश्रेणी,

तस्याः वेध्यतां लक्ष्यतां उपगत्वरे प्राप्तवति सति । अर्थात् स्वर्गलोकं प्राप्ते सति । किं०ष्टां वेध्यताम्? वीरयोगव्रतेन या अवाप्यते लब्धुं शक्यते इति वीरयोगव्रतवाप्या, ताम् ॥ १३०-१३१ ॥ युग्मम् ॥

१३२. **समूलेति** । समूलकाषं कषितः निर्मूलोन्मूलितः, अन्यायसंतमसस्य अन्यायान्धकारस्य उदयो येन स, एवंभूतो यस्तिग्मांशुरिव सूर्य इव प्रजानां प्रियंभावुकः । प्रियं भवितुं शीलमस्येति बभूव । 'तमसं समवांधतः' इति हैमः कोशः । उपमालंकारः ॥१३२॥

१३३. **सद्वंशस्येति** । सद्वंशस्यापि प्रधानवेणोरपि यच्चापदण्डस्य यद्धनुषः, अहो इति आश्चर्ये, अनौचिती अयोग्यता, पक्षे–वंशोऽन्वयः । अनौचितीमेवाह–द्विषां शत्रूणां समाजे समूहे संगते मिलिते सति, अस्य नृपस्य दोषं दूषणम्, पक्षे–भुजम्, अभजत् भजति स्म । विरोध-श्लेषयोः संकरोऽलंकारः ॥ १३३ ॥

१३४. **बिभ्रदिति** । यो नृपः भूमिष्ठोऽपि शचीवरयितुरिन्द्रस्य लीलां अचूचुरत्, चोरयति स्म । किं कुर्वन्? सदा निरन्तरं नभसि गच्छतीति नभोगस्तस्य भाव-[पृ० ५३.२] स्तत्वम् । पक्षे–सह दान-भोगाभ्यां वर्त्तते इति । सुमनसो विद्वांसः । पक्षे–सुमनसो देवाः । भूमिष्ठेति । गोबाम्बसव्यापद्वित्रिभूम्यग्नीति स्थाधातोः षत्वम् । उपमा-विरोध-श्लेषाणां संकरः ॥ १३४ ॥

१३५. **कर्णजाहमिति** । यद्भुजदण्डयोः पराक्रमे कर्णजाहं कर्णमूलं जगाहाने गाहमाने सति, भूभृतां नृपाणां शिरांसि चकम्पिरे । 'कर्णादेर्मूले जाह' कर्णजाहमिति सिद्धम् । जगाहानेति क्स्-कानाविति सिद्धम् ॥ १३५ ॥

१३६. **यदातंकेति** । शत्रूणां यत्सौ(शौ)र्यं वीरता तदेव नभोमणिः सूर्यः, तस्मिन् । यस्य राज्ञः आतंक एव तमो राहुः तेन ग्रस्तो यः स । तस्मिन्नेवंभूते सति, शत्रुस्त्रीणां कचच्छलात् मुक्तकेशकपटेन शोकान्धकारं व्यक्तं दीप्यते स्म । रूपकोऽलंकारः ॥ १३६ ॥

१३७. **सद्वंशस्येति** । शोभनवेणोर्यश्चापस्य, च पुनः शोभनान्वयस्य यस्य राज्ञ ऐकमत्यं एकबुद्धिता न । अमुमर्थं हेतुनाऽऽह–यद्धेतोः प्राच्यश्चापः परेषां शत्रूणां युधि संग्रामे पृष्टिं दर्शयति स्म । राजा युधि संग्रामे पृष्टिं न अदात् । श्लेष-व्यतिरेकयोः संकरः ॥१३७॥

१३८. **अगण्येति** । अगण्यं गणितुमशक्यं पुण्यं पवित्रं यल्लावण्यं तदेव रसस्तस्य यः प्रसरस्तस्य सारणिः कुल्या या, सा । शेषं सुगमम् ॥ १३८ ॥

१३९. **सौन्दर्येणेति** । यस्याः हीरदेव्याः सौन्दर्येण जिता रतिः कामपत्नी तामेव हीरदेवीमेव मेजुषी सेवते स्म । पक्षे–रतिश्चित्तस्वास्थ्यम् । अत्र न्यायमाह–वह्निदग्धस्य वह्निरेव शरणं जगदे अवादि । श्लेष-दृष्टान्तयोः [पृ० ५४.१] संकरः ॥ १३९ ॥

१४०. **भुंजानेति** सुगमम् ॥ १४१. **स्वकरामिति** । स्वकरकमलेन कीनाशदासीकृता यमकिंकरीकृताः शकास्तुरुष्कास्तेषां असृक् रुधिरं तेन । सा **हीरदेवी** गर्भशक्तेः अर्थात् दोहदात् स्नातुमिच्छति स्म । दोहदकथन...... ॥ १४१ ॥

१४२. प्रहर्षुलेति । प्रहर्षुल्मनसा हर्षितचेतसा प्रेयसा भर्त्रा प्रेरितं उद्दामं उत्कटं दौहृदं यस्याः ....देवी समये प्रस्तावे सूनुं पुत्रं सुषुवे प्रासूत । सा का इव ? श्रीरिव । यथा श्रीः सुमायुधं कन्दर्प्पं सूते । उपमालंकारः ॥ १४२ ॥

१४३. असाविति । तदा पुत्रजन्मावसरे इति व्योम्नि आकाशे गीर्वाणी आसीद् बभूव । इति किम् ? असौ बालकः शकासृजस्तुरुष्करुधिरस्य ये बाष्पूरा जलप्रवाहास्तैः, इमां धरणीं संप्लाप्य, तन्मस्तककमलैरिष्टा पूजयिता ॥ १४३ ॥

१४४. बालाङ्गेति । बालाङ्गसंगीनि बालशरीरसंसक्तानि यानि रोचींषि ज्योतींषि तैः । शेषं सुगमम् । उपमालंकारः ॥ १४४ ॥

१४५. दिश इति । आसेदुः प्रापुः । दिद्युते दिदीपे । सेवायोग्यः सेव्यः, सुखं सेव्यः । ववौ वाति स्म । अन्यत् सुगमम् ॥ १४५ ॥

१४६. विशादमिति । तस्य बालकस्य जनने जन्मनि तज्जनने, संमदं हर्षम् । शेषं सुगमम् ॥ १४६ ॥

१४७. तज्जनाविति । तज्जन्मनि अर्थिनां याचकानां रोर एव दारिद्र्यमेव यवासक औषधविशेषः । वर्षत्यपि मेघे यवासकः शुष्यतीति लोकोक्तिः । रूपकोऽलंकारः ॥ १४७ ॥

१४८. कृत्वेति । पिता अमुष्मै बालकाय **हम्मीरदेव**नाम इति ददौ । दशदिन-[प० ५४. २] महोत्सवं कृत्वा । विश्वस्य सकलस्य, विश्वस्य जगतः सुखावहम् । शेषं सुगमम् ॥ १४८ ॥

१४९. मातेति । स्वकीयं यद्दर्शनं स एव सुधारसः अमृतरसः स, तैः । शेषं सुगमम् । उपमालंकारः ॥ १४९ ॥

१५०. दिनैरिति । अकृच्छ्रं अकष्टमिति क्रियाविशेषणम् । शस्त्राणि धनुः-खड्गादीनि, शास्त्राणि व्याकरणादीनि । शेषं सुगमम् ॥ १५० ॥

१५१. न तदिति । शयाम्बुजे करकमले भ्रमर इव आचरति स्म । अभ्रमरायत । 'पंचशाष(ख)शयः समे' इति हैमः कोशः । गूढोपमालंकारः ॥ १५१ ॥

१५२. अथेति । भंगशीलो भंगुरः । अभंगुरस्य शृंगारस्य आद्यरसस्य जीवनमुत्पादकम् । दृक् च मनश्च दृग्मनसे । अत् प्रत्ययेन सिद्धम् ॥ १५२ ॥

१५३. दृग्द्वंद्वेति । दृशोर्द्वन्द्वं युग्मं दृग्द्वन्द्वम्, दृग्द्वन्द्वेन पेयं पानार्हं यत्सौन्दर्यं सुन्दरता तस्य श्रियः, दृग्द्वन्द्व० तासाम् । अपतिं पतिं कर्त्तुं पतीकर्त्तुम् । काः कामिन्यः मानसे चित्ते नावाञ्छन् न अभिलेषुः ? ॥ १५३ ॥

१५४. अकृत्रिमेति । तस्य **हम्मीरकुमारस्य** उत्थिते स्मश्रुलते स्मश्रुवल्ल्यौ अभातां शुशुभाते । कीदृशे ? आननस्य अकृत्रिममंडनमिल्याविष्टलिंगता । आधिक्यतः अधिकीभावात् घ्राणयुगस्य योऽध्वा मार्गस्तस्मिन्निर्यान्त्यौ निर्गच्छन्त्यौ शृङ्गारस्य धारे, घ्रा० ।

इवोत्प्रेक्षते । श्रृङ्गारः कृष्णो वर्ण्यते, इति भरतमतम् । छन्दश्चात्र इन्द्रोपेन्द्रवज्रयोरुपजातिः ॥ १५४ ॥

१५५. **केशा इति** । केकिनो मयूरस्य कलापकान्तिं पिच्छकान्तिं जयन्तीत्येवंशीलाः, ईदृशाः[प० ५५.१] केशाः । शशिनश्चन्द्रस्य प्रीतिं बिभर्तीति, ईदृग्मुखम् । कंबोः शंखस्य रिपुः स्पर्द्धी, ईदृशः कण्ठः । कपाटपटुतां विक्षिपतीत्येवं शीलं यत्तत्, ईदृग्वक्षः । परिघस्य अर्गलायाः अपघातः अकालमृत्युस्तत्र निबिडौ, ईदृशौ दोर्दण्डौ । कृता अब्जानां आपत् याभ्यां तौ, ईदृशौ पादौ । शेषं स्पष्टम् । पदे पदे समासोपमालंकारः ॥ १५५ ॥

१५६. **नारीभिरिति** । स्त्रीभिः कन्दर्प इति, प्रार्थिभिर्याचकैरमरभुवि स्वर्गभूमौ जन्म यस्य अर्थात् कल्पवृक्ष इति, सत्यप्रतिज्ञापरायणैर्गंगाभूर्गांगेय इति, तत्त्वज्ञानिभिर्ब्रह्मा इति, योधृभिः सुभटैः स्वर्भुज इन्द्रात् भू जन्म यस्य अर्थात् जयन्त इति, शत्रुनृपैर्यम इति, यूनो भावः युवता युवतामध्यं आश्रितः, यु०, एवंभूतः एष कुमारः, कैः कैः नारीप्रभृतिभिः, कथं कथं सुमचापादिप्रकारेण न तर्कितः न विकल्पितः ? । उपमासंशययोः संकरोऽलंकारः ॥ १५६ ॥

१५७. **विन्ध्येति** । तस्मिन् कुमारे स्त्रीणां मनो वाग्विषयां प्रीतिं सृजति स्म । किं वत् ? विन्ध्ये गजवत् । इत्यादि सुगमम् । उपमालंकारः । शार्दूलविक्रीडितवृत्तत्रयम् ॥ १५७ ॥

१५८. **सौन्दर्येति** । अस्तव्रीडमिति क्रियाविशेषणम् । दुःखेन च्यवते इति दुश्च्यवन इन्द्रः शचीभिरैंद्राणीभिः सह यथा क्रीडते । शेषं सुबोधम् । उपमालंकारः । इन्द्रवज्राछन्दः ॥ १५८ ॥

१५९. **हम्मीरादिति** । जैत्रस्य नृपतेर्**हम्मीरा**दितरावपि अङ्गरुहौ पुत्रौ जज्ञाते अभूताम् । कीदृशौ अङ्गरुहौ ? पित्र्यानुजौ ज्येष्ठभ्राता पित्र्यः, लघुभ्राता [प० ५५.२] अनुजः । हम्मीरस्येति योज्यम् । गुहौ इव कार्त्तिकेयौ इव । जगतो विश्वस्य जैत्रो जयनशीलः प्रतापोदयो ययोस्तौ । आद्यः पूर्वजः **सुरत्राणो**ऽभात्, अन्योऽनुजः **वीरमः** । नयोदय एव न्यायोदय एव दलन्ती फुल्ला या वल्ली तस्या वसंतः, न्यायविकाशक इत्यर्थः । परवीरदारणे शत्रुदारणे यो रणारम्भः संग्रामारम्भस्तत्र प्रभा यस्य, स । उपमायथासंख्ययोः संकरः ॥ १५९ ॥

१६०. **पूर्द्वारेति** । श्रीजैत्रनृपः अभ्यस्तन्यायैस्त्रिभिः पुत्रैः संसेव्यमानो वीरजनकमुकुटभावं आटीकते स्म आस्तिघ्नुते स्म । पूर्द्वारार्गलवत् दीर्घौ पीनौ च यौ भुजौ ताभ्यां भूरुत्पन्नो यः प्रौढप्रताप एव ज्वलत्ज्वालाजिह्वो ज्वलदग्निस्तस्य शिखावल्याः कवलिता ग्रस्ताः प्रत्यर्थिपृथ्वीधवाः शत्रुनृपा यैस्ते । रूपकोऽलंकारः । शार्दूलविक्रीडितद्वयम् ॥ १६० ॥

॥ इति श्रीहम्मीरकाव्यदीपिकायां चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

[अथ पंचमः सर्गः ।]

१. **अथेति** । अथानन्तर्ये, त्रिभुवनजेतुः कंदर्प्पस्य प्रियमित्रं सुरभिर्वसन्त उद-जृम्भत उज्जृम्भते स्म । क सति ? जैत्रसिंहनृपतौ श्रितहरेः आश्रितेन्द्रायाः दिवः स्वर्गस्य धरणिं समानां धरणिं पृथ्वीं सृजति सति । उपमालंकारः प्रमिताक्षराछन्दः । लक्षणं चैतत्—'स्जौसौप्रमिताक्षरा' ॥ १ ॥

२. **पुपुषेति** । एष मलयाचलोत्पन्नः अनिलो वायुः, ध्रुवं निश्चितम्, सर्प्पश्वासैः पुपुषे पुष्टीभूतः । अमुमर्थं द्रढयितुं हेतुमाह—अन्यथा एवं चेन्न, अस्य वायोर्वियोगिनो विरहिलोकान् झगिति शीघ्रं मूर्छयितुं कथं सहसा क्षमता [प० ५६. १] समर्थता इति यावत् भवति स्म । हेतुरलंकारः ॥ २ ॥

३. **ऋतुराजेति** । ऋतुराजस्य वसन्तस्य वीक्षणं तस्य रसः अद्भुतनामा तस्मा-द्धेतोः, ध्रुवं निश्चितम्, अरुणेन सूर्यसारथिना रथो नाषे(खे)टि न चालितः । रथी विलोकन-रसाद् रथं न षे(खे)टयतीति लोकव्यवहारः । अमुमर्थं हेतुना नियमयन्ति—अन्यथा एवं चेन्न भवति, अमी दिवसा वासन्तिकाश्चक्रवाकैकहितां गुरुतां गरिमाणं कथं दधुः धारयन्ति स्म ? ॥ ३ ॥

४. **अतिदुःसहेति** । स्त्रीजनैः स एष शीतकालसंबन्धी चतुस्त्रिंशत्घटील-क्षणो नोऽस्माकं महिमा महाप्रमाणत्वं कथमिव सहिष्यते ?, अपि तु न कथमिव । इतीवोत्प्रे-क्षते—कृपया मधुरीभूता निशा रात्रयः कृशतां अधुर्धारयन्ति स्म । कीदृशैः ?, अतिदुःसहः प्रियसुहृदां विरहो येषां ते, तैः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ४ ॥

५. **समुदेति** । वा इवार्थे, नवरं विशेषः । इतीवोत्प्रेक्षते—वसन्तसमयो यतीनां मुनीनां वल्लभतरो न बभूव । इह वसन्ते मलिना मधुपा भ्रमराः । पक्षे—मद्यपायिनः, सह-र्षेण चरन्ति । चः पुनरर्थे । इह वसन्ते निर्मला जातिर्मालती, पक्षे—जातिर्मातृपक्षः । उत्प्रेक्षा-श्लेषयोः संकरः ॥ ५ ॥

६. **मलयेति** । सुरभौ वसन्ते मलयजैश्चन्दनैः सह, मलयानिलो मलयपवनः, स्त्रीणां कुचयुगले विलसन्, मलयपर्वतमहाशृङ्गाधिरोहणं पुनः समुपागतं मन्यते स्म । स्तनानां पर्वतशृङ्गसाम्यं ध्वन्यते । अनलंकारमपि इदं वृत्तं रसभावबहुलत्वात् सत्काव्यम् ॥ ६ ॥

७. **अमुनेति** । अमुना हिमेन विवर्णितदलां दग्ध[प० ५६. २]पत्रां पद्मिनीं विलोक्य, नलिनीदयितः सूर्यः, उत्प्रेक्षते—हिमं हन्तुमिव हिमवतः पर्वतस्य ककुभं उत्तरां रविरगात् । वसन्ते कालस्वाभाव्यात् उत्तरायणसूचा । अन्योऽपि भर्ता भार्याया उपमर्दकारकं हन्तुमुपक्रमते इति भावः । उत्प्रेक्षालंकारः । क्रोधाभासो भावः ॥ ७ ॥

८. **स्खलतामिति** । इवोत्प्रेक्षते । तत्तस्माद्धेतोः, पवनेरिता पवनप्रेरिता या पुष्प-राजी पुष्पश्रेणी तस्याः, यानि रजांसि किंजल्कानि, तेषां पटलैः समूहैः हेतुभिः, गगने

स्खलतां प्रयाति सति अर्कतुरग......शनकैर्मन्दं अचलन् । उत्प्रेक्षातिशयोक्तिहेतूनां संकरोऽलंकारः ॥ ८ ॥

९. मधुरेति । मधुराणि मिष्टानि यानि प्रसूनानि कुसुमानि तेषां यन्मकरन्दपानं तद्वशात् अतिमात्रमत्यर्थं मत्ता या मधुकृद्युवती भ्रमरी तस्याः झंकृतं शब्दितं विनिशम्य, कतरे जनाश्चेतसि विकारभरं कामपराधी[नत्वं] न धारयामासुः । वसन्तस्य स्वभावाख्यानमेतत् ॥ ९ ॥

१०. सहकारेति । सहकारस्य सारतरा या हृद्या मञ्जरी मञ्जरिका तस्या प्रसङ्गेन उल्लसन् यो मधुरिमा कण्ठे पंचमस्वरपाटवस्तेन अञ्चिता पूरिता या, सा, तया । एवं भूतया परपुष्टया कोकिलया अखिलमेव जगत् कंदर्पहस्ते लीलया नतूद्यमेन अकारि । कंदर्पहस्तवशीकृतमित्यर्थः ॥ १० ॥

११. इयमागतेति । इति पिककूजितेषु अध्वगवधूः पथिकस्त्रीः का न मुमुदे का न तुतोष ? । असकृत् पौनःपुन्येन का न विषसाद का न शुशोच ? । इति किम् ? शशिनाशिनी चासौ कुहूश्च श० । अमा[प० ५७.१]वाश्या इयमागतैव । कोकिलाशब्दस्य अव्यक्तानुकरणमेतत् । अथ च पक्षान्तरे, अन्यभृता कोकिला आव्यलपत् आभाषते स्म । इति पक्षद्वयम् । कुहूशब्दश्रवणात् विरहिणीनां प्रमोदः । कोकिलाभाषणात् विरहिणीनां विषादः । एका क्रिया द्वि[र]र्थकरी ॥ ११ ॥

१२. शुकेति । शुकचञ्चुसदृशानि पलासस्य त्रिपत्रकस्य दलन्ति विकसन्ति यानि कुसुमानि, अनुवनं अभितः सर्वतो रेजुः शुशुभिरे । सुमेषुविभोः कन्दर्पभूपतेः, शमदन्तिनं उपशमगजं भृशमत्यर्थं इह वसन्ते वशं कुर्वतः अंकुशो इव । उपमालंकारः ॥ १२ ॥

१३. यदीति । अभिनवा चासौ जातिलता च अभिनवजातिलता, सुरभौ वसन्ते, इदं उच्यमानं विचिन्त्य, कृपया करुणया न विचकास किम् ? । किमिति संशये वितर्के प्रश्ने वा । इह वसन्ते यद्यहं जातिः पुष्पिता, तत्तदा इतराः लतिकाः कमलिन्यादयः कियतीं श्रियं उद्वहन्तु ? अपि तु न कियतीम् । संशयोऽलंकारः ॥ १३ ॥

१४. विकसदिति । तरुषु वृक्षेषु, काननं काननं प्रति प्रतिकाननम्, शुचय उज्ज्वला विकसत्पुष्पसमूहाः शुशुभिरे । महद्वनं वनी वन्येव युवतिर्वनीयुवतिस्तस्याः, निजभर्तारं ऋतुराजं वसन्तं अनुलक्षीकृत्य प्रथिता विस्तृता हसा हासा इव । उपमालंकारः ॥ १४ ॥

१५. जलदागेति । असौ मालती जलदागमे वर्षाकाले स्वमहिमाप्राग्भारैः पथिकस्त्रीः अवधीत् ममार । इति हेतोः, वसन्ते पंक्तिबाह्यविहिता इव सुमनस्सु पुष्पेषु न प्राविशत्, अपांक्तेयत्वात् । मालतीकुसुमदर्शनात् वर्षासु विरहि[प०५७.२]णीनां मरणवर्णनं युक्तम् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १५ ॥

१६. मदनोऽधुनेति । अधुना वसन्ते परदेशजुषां पथिकानां अर्थाद् विरहिणां हृदि नष्टशल्यमभिहन्तुं अभिघातुमिव मदनः कन्दर्प्पः कुसुमानि वृन्तमुखि(षि)राणि विरचय्य सुशामल्यर्थं काण्डफलतां बाणलोहाग्रतां अनयत् अनैषीत् । उपमालंकारः ॥ १६ ॥

१७. ममेति । नाम इति संभावनायाम् । यद् यदा इमा जातिलता कलिका मम नालिकशराः, तत् तदा इमाः कलिकाः स्पृशतीः कतरः सहेत ? अपि तु न कतरः । इति हेतोः, इह मधौ वसन्ते मधुसखः कन्दर्प्पः स्फुटतीः फुल्ला जातिलता कलिकाः किमिति वितर्के नाद्रियत ? । संशयोऽलंकारः ॥ १७ ॥

१८. विकसदिति । सुदृशां नारीणां दृशो नेत्राणि मृगीनयनैः सह सदृशतां सादृश्यं, न जहुः न तत्यजुः । द्वयोः सादृश्यहेतुमाह—कीदृशैः ? विकसन्त्य या मञ्जर्य्य एव मञ्जरिकाः प्रियालतरूणां मञ्जरिकाः, तासां यद्रजः किंजल्कं तेन, अरुणैः रक्तैः । किं० ष्टा दृशः ? मधु मधुरं यद्वा मधोर्वसन्तस्य यत्सीधुपानं तस्मात् यत् घनो निबिडो रागः अरुणता, तं जुषन्तीति यास्ताः । समासोपमालंकारः ॥ १८ ॥

१९. परिसंचरेति । परि सामस्त्येन संचरन् यो मलयदिक्पवनो दक्षिणपवनस्तेन, प्रविकम्पिनो कम्पमाना ये पल्लवास्त एव कराम्बुरुहाणि कमलानि, तैः करणभूतैः, वनराजिरेव वधूः कान्ता निजकान्तं ऋतुपतिं वसन्तं उपगूहनाय आलिंगनार्थं, आव्हयदिव आजुहोति स्मेव ॥ १९ ॥

२०. मधुपानेति । [पृ०५८.१] मकरन्दपानतो मन्दभ्रमणा एवंभूता भ्रमरास्तरुषु प्रतिवनं बभुः । अलमेव अलकं, गुलिका एव अलकं गुलिकालकं, गुलिकालकस्य अभ्यसनं गु० । उन्नयतः अभ्यासविषयीकुर्वतः कन्दर्प्पस्य गुलिका इव । 'प्रसवश्च मणीबकं' इति हैमः कोशः । उपमालंकारः ॥ २० ॥

२१. प्रविलोकेति । पलाशशिखरी त्रिपत्रकवृक्षः वेगेन जगति विश्वे, निजं नाम पलाश इति—पलमश्नातीति पलाश इति । किं कुर्वन् ? वशा वधूः कर्मतापन्नाः, प्रविलोकनादपि दर्शनादेव, विधूतकम्परसा उत्पादितकंपभावा वियोगपरवशा विदधत् कुर्वन् । पलाशकुसुमदर्शनाद् वसन्तागमनाच्च विरहिणीनां कृशत्वात् पलाशे मांसभक्षणत्वं उपचर्यत इति भावः । श्लेषोऽलंकारः ॥ २१ ॥

२२. पदसंगेति । मात्रशब्दः अन्ययोगव्यवच्छेदार्थस्तावन्मात्रार्थो वा । चरणसंसर्गमात्रे उपजाता तृट् समीहा यस्य स तस्य, ईदृशस्य ममाशोकस्य, इमा एव इमका गतभर्तृकाः प्रसभं नितरां प्रहन्ति स्म । इति हेतोः, सकोप इव अजनयन् अरुजन् । अन्योऽपि स्वल्पे उपजाततृट् केनापि निःप्रहन्यते, स तस्मै कुप्यति पीडयति च । सकोप इति शब्देन रक्ताशोकस्य पुष्पोद्गमो व्यज्यते । इमका इति । 'त्यादिसर्वादिस्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक् ।' अक्प्रत्ययेन सिद्धम् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २२ ॥

२३. परीलोमेति । मधुसंगमेन वसन्तसंगमेन मधुरैर्मृष्टैर्मधुभिर्मकरन्दैः । अन्यत् सुगमम् । प्रत्ययोपमालंकारः[प०५८.२] ॥ २३ ॥

२४. अपि तन्मुखेति । अगो बकुलः बकुलवृक्षः सुदृशां नारीणां अखिलामपि मानसंस्थितिं अहंकारसंस्थितिं अधरीचकार नीचैश्चकार । किं कुर्वन्? तन्मुखस्य अभिषवः आसवस्तस्य शेकस्तं विनापि, वचोविषयमतिक्रान्तां अतिवचोविषयां श्रियं आश्रयन् । अर्थविरोधोऽलंकारः ॥ २४ ॥

२५. निजेति । निजकालिम्न उल्लसितैः उल्लासैः संजनिता उत्पादिता असमये अप्रस्तावे दिवसे एव, याः क्षपालयो रात्रिश्रेणयो यास्ताः तासु । एवंभूतासु वनीततिषु । उत्तरार्द्धं सुगमम् । वनश्रेणीपत्रोद्गमात् कालिम्नः आरोप उपचर्यते । व्यक्तोपमालंकारः॥२५॥

२६. भृशलीनेति । भृशलीनं यत् षट्चरणचक्रं भ्रमरसमूहः तद्वशात् अधिक-नीलानि यानि नीरजदलानि यस्मिन् तत्, तस्मिन् । एवंभूते सरसि, विलसल्लक्ष्मीकैः कमलै-र्गगने आकाशे नवोद्गतचन्द्रकान्तिः अलम्भि अप्रापि लब्धेत्यर्थः । धवलकमलपत्राणि भ्रम-रावष्टब्धानि तेषां यत्पर्यन्तावशिष्टं वक्राकारपरिणतं द्वितीयाचन्द्रेणोपमितम् । सरसि गगनो-पमानम् । उपमालंकारः ॥ २६ ॥

२७. मलिनामिति । मलिनस्य कज्जलादिना समवेतस्याम्बुनो जलस्य बिन्दु-सादृश्यं कलयत् सत् यद्विकसत्पलाशकुसुमवृन्तं तत् शोभते स्म । इतश्चोपमीयते—भ्रमर-युवा जातीविरहतः शिरोग्निसाधनतपः कुर्वन्निव ॥ २७ ॥

२८. कृतेति । दक्षिणानिलैः दक्षिणपवनैः कृतकम्पा वनलता भृशं शुशुभिरे । [प०५९.१] चिरकाले भवद् उत्पन्नं यन्मिलनं तस्मात् मिथः परस्परं आलिङ्गनानि ददाना इव । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २८ ॥

२९. सकलेति । कदली रम्भादलैः पत्रैः अनङ्गपतिं कन्दर्पनृपं वीजयन्ती वातव्यजनं कुर्वतीव शुशुभे । अन्योऽपि श्रान्तो वीज्यते । श्रमं विशेषणद्वारेणाह—सकलत्रि-लोकस्य यो विजयो जयवादस्तस्मात् प्रभवं यत् श्रमवारिखेदस्तेन संगतः अर्थात् खिन्नः, तम् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २९ ॥

३०-३१. हृदयेश्वरेति । को किल युवा कुरङ्गदृशः स्त्री इति बोधयन्निव रुचिरं मनोहरं यथा स्यात् चुकूज पक्षिभाषया उल्ललाप । गतः समयः कालो नागच्छतीति । कालस्य नित्यत्वात् विभुत्वाच्च, गतागते अनुपपन्ने । तदवष्टब्धस्य यौवनस्य गतागतं ध्वन्यते । प्रथमपदे स्त्रीणां शिष्या(क्षा)प्रदानम् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३०–३१ ॥

३२. विलसदिति । इह वसन्तऋतौ कानिचित् कुसुमानि अविदुषां अन्या(ज्ञा)-नृणां कतिचिन्मधुकराङ्कृतैः स्वशब्दितैरिदं एतदिदं एतत् अवदन्निव ब्रुवन्तीवोत्प्रेक्ष्यन्ते ॥३२॥

३३. विधूतेति । कलरवः पारापतः चटुकूजितैः प्रियप्रायविहंगवचनैर्दयितां कपोतीं मदयन् दयितामेव परिरभ्य दयितामेव चुचुम्ब । किं कुर्वन्? तरुणचित्तानि दयिताप्रसादने विधूतौत्सुक्यानि कुर्वन् ॥ ३३ ॥

३४. विकसदिति । लतावल्ल्यो वसन्तं द्रष्टुमागता वनदेवता [प०५९.२] इव शुशुभिरे । पूर्वार्द्धे रूपकम्, उत्तरार्द्धे उपमा ॥ ३४ ॥

३५. अधिकेति । शरीरविलेपनविधौ वह्निशिखं कुङ्कुमं प्रमदाभिर्नारीभिरधिकाधिकं आद्रियत । चिरकालोपगतं उपकारकारि वस्तु सहसैव तूर्णमेव कथं हेयम्? अपि तु न कथमपि । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥ ३५ ॥

३६. पथिकेति । पथिकानां यः अङ्गनाजनः स्त्रीजनः तेषां परासनं मारणं तस्मात् जातैर्गुरुपातकैर्व्याप्ता इव । उत्प्रेक्षते—हविषा होतव्यद्रव्येण आचिता व्याप्ता, अर्थात् कृष्णा अंजनघना कज्जलनिविडा द्युतिः कान्तिर्येषां ते । एवंभूता भ्रमरा वनं वनं प्रति भ्रमिरा भ्रमणशीलाः शुशुभिरे ॥ ३६ ॥

३७–४०. इतीति । अदसीयेति । घनसारेति । प्रचलदिति । स वीरमाग्रजकुमारवरो **हम्मीरदेवः**, तरुराज्या वृक्षश्रेण्या राजितं, पुरस्य उपसमीपे वनं पुरोपवनं, प्रययौ प्रयाति स्म । किं० ष्टः सः? सह यौवनवयसा वर्त्तन्ते ये ते सयौवनवयसः, एवंभूता ये सवयसः तुल्यवयसः अर्थान्मित्राणि, तेषां परिहासेन भासुरतरो देदीप्यमानः आस्यशशी मुखचन्द्रमा यस्य सः, कीदृशं उपवनम्? प्रचलन्तीषु दलावलीषु पत्रश्रेणीषु लसन् विलसन् पवनो यत्र, तत्, तत् । पुनः कीदृशः? घनसारं कर्पूरं सारा प्रधाना मृगनाभिः कस्तूरी ताभ्यां मिलन् यो मलयद्रुश्चन्दनभेदो नागजरजश्च सिन्दूरक्षोदश्च तयोः प्रकारास्तैः, करणभूतैः, कृतदेवनः कृतक्रीडाविनोदः । पुनः किं० ष्टः? वनविनोदं चिकीर्षतीति [प० ६०.१] कर्तुमिच्छतीति वन० । पुनः किं वि० ष्टः? अवरोधोऽन्तःपुरं तत्र बन्धुरा मनोहरा या वध्वस्तैर्मधुरः अ० । ४०।३९ । किं विधाय? वीक्षणयुगेन नेत्रयुग्मेन प्रसभं बलादाहृतः संमदो हर्षो येन स तम् । ईदृशं अमुं प्रत्यक्षोल्लिख्यमाणं वसन्तकालं इति वीक्ष्य दृष्ट्वा । कालस्य दर्शनानर्हत्वाद् विप्रकृष्टत्वाच्च, अदस्-शब्दस्योल्लेखः । पुनः किं विधाय? जैत्रं पृथ्वीपतिं पितरं परिपृच्छ्य । ३८ । किं कुर्वन्? अस्येदमदसीयम्, अदसीयं यद्रूपं तस्य, या विलुलोकयिषा द्रष्टुमिच्छा तया, गृहं गृहं अनु अनुगृहं अधिरूढा या ललना स्त्रियस्तासां वदनानि तैः, हेतुभिः, दिनेऽपि व्योमतलं विस्फुरन्ति अनेकानि यानि सुधाकरबिम्बानि यस्मिन्, तत् । एवंभूतं जनयन् कुर्वन् । चतुर्भिर्वृत्तैरेकः संबन्धः ॥ ३७–४० ॥

४१. तरुणेति । अथानन्तर्ये, मदकृन्मदकारको यो मधूत्सवो वसन्तमहस्तत्कृते तन्निमित्तं तदर्थमिति यावत् । मदनोद्यमेन दीप्ता दीप्तिः कान्तिर्यासां ताः । ततः कर्म्मधारयः । सुतनूभिर्नारीभिरमा सह सार्द्धमिति यावत् । योग्यतमवस्त्रधारकाः युवानश्चेलुः ॥ ४१ ॥

४२. **कृतेति** । हे सखि ! सांप्रतमधुना तव वदनकमलस्य कृतमंडनयापि रुरोदिषया रोदितुमिच्छया कृतं पूर्यताम् । हे सखि ! एहि आगच्छ, इमं दयितं सुतरामत्यर्थं सत्वरं प्रसाद्य वैरिमुदं सपत्नीहर्षं जहि उच्छिन्धि ॥ ४२ ॥

४३. **इतीति** । वृत्तं सुगमम् ॥ ४३ ॥

४४. ***अनुनेतुमिति** । अनुनेतुं प्रसादयितुं नायिकामिति योज्यम् । कमल-[पृ० ६०.२] नेत्राया नायिकाया एव पदयोः पतितस्य कस्यचन पुंसो वेणिर्बभौ । एतस्याः अयं इदमीयस्तम् । अन्यत् सुगमम् ॥ ४४ ॥

४५. ***अनुनेतुमिति** । अन्यतरः पुरुषश्चन्द्रमुखीं अनुनेतुं प्रसादयितुं विविधेङ्गितानि विविधचेष्टितानि निपुणं विदधन् कुर्वन्, तया इन्दुमुख्यैव तरसा तूर्णं आलिंग्यते स्म । कीदृशया ? हसपूर्वं हास्यपूर्वं सूचितं तदिंगितं भर्तृचेष्टितं यया सा, तया ॥ ४५ ॥

४६. ***प्रचलेति** । भर्तृप्रेरिता काचित्सखी दूती वा नायिकां प्रत्याह—अंग इति कोमलामन्त्रणे, हे आलि ! हे सखि ! इतो विवक्षितप्रदेशे प्रचल । आवां काननं अविलोकयावः पश्यावः । स कितवो धूर्तस्तव विरहात् किमातनुते ? इति छलविपर्यीकृत्य काऽपि सखी दूती वा मिषात् कपटेन तां नायिकां उपनीय ढौकयित्वा भर्त्रे ददौ । रतिलक्षणस्थायिभावपर्यन्तमिदं वृत्तम् ॥ ४६ ॥

४७–४८. **अयीति** । **इतीति** । अपि-शब्दो विरोधसूचकः । अधुनापि वसन्तोऽपि, स्वस्य आत्मनः परस्य भर्तुः अहितं स्वपराहितं, नायिकां प्रतिभर्तुः शिष्या(क्षा)दानवृत्तं । शेषं सुगमम् ॥ ४७ ॥ योषितां अनुनीतौ प्रसादने चणः पटुः, सुकृती पुण्यवान्, कश्चन नायि(य)कः । इति पूर्वोक्तप्रकारेण । अन्यत् सुगमम् । कुपितनायिकाप्रसादने सामदामभेद......पेक्षारसान्तरं चेति षडुपायाः । अत्र सामोपायः । रसश्चात्र मानपरित्यागरूपः संभोगात्मा शृङ्गारः ॥ ४८ ॥

४९. **न विलोकेति** । पूर्वार्द्धं सुगमम् । पीतं [पृ० ६१.१] कर्णाभ्यामादरेण श्रुतमङ्गीकृतं च वल्लभस्य भर्त्तुर्वचो यया सा, इतरा काचित् सुरापानतोऽपि अधिकं मदं भावविशेषं वा आप लेभे । धृति-मदभावयोः संकरोऽत्र ॥ ४९ ॥

५०. **नवेति** । अथानन्तरम्, अमी **हम्मीर**सवयसो वरवर्णिनीतुल्यां प्रधानस्त्रीसदृशां वनीं वनभूमिं विलोक्य क्रीडितुं औत्सुक्यं दधुः । वर्णिनीधर्ममारोपयति—नवाः पल्लवा एव अद्भुताः कराः पाणयो यस्याः सा, ताम् । मधुपावलिर्भ्रमरश्रेणिरेव वेणिः कबरी यस्याः सा, ताम् । इद्धाः स्थूलाः पुष्पगुच्छा एव कुचा यस्याः सा, ताम् । पूर्वार्द्धे रूपकम् । उत्तरार्द्धे उपमा ॥ ५० ॥

---

* इत आरभ्य ४६ तमपर्यन्तानि पद्यानि मूलग्रन्थे पौर्वापर्येण रूपेण लिखितान्युपलब्धानि, तानि च तथैव तत्र मुद्रितानि सन्ति । अतः पाठकजनैस्तथैवानुसन्धेयानि तानि अस्माभिर्व्याख्यातानि ।

५१. तरुणीति । स्त्रीगणे निर्दयं यथा स्यादेवं तथा पुष्पावचयं कर्तुं उद्यमवति सति, तरुभिः कम्पितमिव भीतमिव । क्लीबे क्त इति क्तप्रत्ययेन सिद्धम् । कुतः ? प्रवहन् यः पवमानो वायुस्तेन वेल्लिता चालिता या दलालिः पत्रश्रेणी तच्छलात् । अत्र भय-कम्पयोः स्थायिसात्त्विकभावयोः आभासवर्णनम् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ५१ ॥

५२. प्रविहायेति । उन्मदिष्णव उन्मत्ता ये मधुकरनिकरास्तैः, काचन कमलमुखी उदवेजि । भ्रान्तिमानलंकारः ॥ ५२ ॥

५३. दयितामिति । केनचिन्नायकेन दयितां प्रियां लताग्रं अधिरोहयता आरोपयिता क्वचनापि नाभीजघनादौ तनौ शरीरे यन्नखरक्षतं अदायि, किल इति सत्ये, तन्नखरक्षतं तस्याः हृदये कियतीं मुदं हर्षं नातनोत् ? इति काका । अत्र स्त्रीणां स्वाभाविकः [पृ० ६१.२] कुट्टमितो भावः । यदूचुः श्रीहेमसूरयोऽलंकारचूडामणौ—'अधरादिग्रहात् दुःखेऽपि हर्षः कुट्टमितमिति' ॥ ५३ ॥

५४. सुमेति । केनचन नायकेन क्रुद्धाऽपि सुलोचना सहसं सहास्यं यथा स्यादेवं तथा अहासि । अन्यत् सुगमम् । अज्ञातौ उरोजौ उरोजकौ । दुःखेऽल्पे ज्ञाते वा कः प्रत्ययः । अत्र हासाभिधः स्थायीभावः, क्रोधभावप्रशमश्च ॥ ५४ ॥

५५. अयीति । अयीति कोमलामन्त्रणे, हे वल्लभे इदं कुसुमं मधुरगन्धं इति वदन्, परोऽन्यो विदुरो विचक्षणः सिंघयणकपटात् करं नाशिकासमीपं आप्य तां कान्तां अधरे जग्राह । अत्र ललिताख्यः स्वाभाविको भावः । तल्लक्षणं चैतत्—'मसृणोंगन्यासो ललितम्' ॥ ५५ ॥

५६. मुखचुंबनमिति । पूर्वार्द्धं सुगमम् । भर्त्तरि सखीसमक्षं यथा स्यादेवं इति गदति सति, त्रपया च पुनर्मुदा हर्षेण, परा काचिन्नायिका, समवादि संवाद्यते स्म । त्रपा-हर्षयोः संकरोऽत्र ॥ ५६ ॥

५७. दयितेति । तस्य पदस्य अवाप्तौ लाभे, जात उत्पन्नः पुलकप्रसरो यस्यां, सा । भावश्चात्र कम्पनामा सात्त्विकः । भ्रान्तिमानलंकारः ॥ ५७ ॥

५८. पुरत इति । विजनप्रदेशं एकान्तप्रदेशं रतये संभोगाय अनयत् अनैषीत् ॥ ५८ ॥

५९. अयीति । कितवस्य धूर्त्तस्य उक्तौ परो निपुणः कोऽपि कामी, हसन् सन्, दयितास्तनं हस्तायि(य)त्तीकृत्य, लब्धमिति जगाद । पूर्वार्द्धे कपटोक्तिः । करसादिति 'तद-धीने सादिति' सिद्धम् । लब्धमिति अव्यक्तत्वान्नपुंसकम् ॥ ५९ ॥

६०. अयीति । सुगमम् ॥ ६० ॥

६१. तनुवल्लीति । परया अति[प० ६२.१]विचक्षणया युवत्या वृक्षकपटात् भर्त्ता आलिंग्यते स्म । कीदृग् ? तनुवल्ल्यां संगमितानि संयोजितानि यानि पुष्पाणि, तेभ्यो गलन् यो मकरन्दस्तत्र लुब्धा ये मधुकृन्निकराः भ्रमरसमूहा यस्मिन्, स ॥ ६१ ॥

६२. फलदेति । फलदे वृक्षे अधिरूढो यो हृदयाधिपतिर्भर्त्ता, तत्प्रविलोकनात् अपहृता चेतना संज्ञा संज्ञिसंबन्धरूपा संवित्तिर्यस्याः सा, तया । एवंभूतया परया अन्यया नायिकया, अंग भोः ! इमं प्रसवं पुष्पं वितरेति वीप्सया वृथैव जगदे मुधैवाभाषि । वृक्षे पुष्पाभावो वृथाशब्देन ध्वन्यते । भावश्चात्र सात्त्विकः प्रलयाभिधः ॥ ६२ ॥

६३. इतरेणेति । इतरेण नायकेन गोत्रभिदया नामभेदेन वनितां अनुलक्षीकृत्य कुसुमकन्दुकः प्रहितः । वृक्षाधिरूढेनेति स्वयमूह्यते । अनया स्त्रिया निःश्वसितैः प्रहतः सन् कुसुमकन्दुको न्यवर्तत ऊर्द्ध्वं व्यावर्तत । दुर्भगा सेति स्वयमूह्यते । किमित्युत्प्रेक्षायाम् । प्रति-उदितः प्रेरितस्तां अनवेक्ष्यैव । धृष्टो नायकः । धीराधीरा नायिका । व्यभिचारीभावश्चात्र चिन्ता ॥ ६३ ॥

६४. अयीति । पूर्वार्द्धं सुगमम् । इतरः कोऽपि नायकः । इति पूर्वार्द्धोक्तयुक्त्या दयितां स्वभार्यां विप्रतार्य, अर्द्धदृशा अर्द्धावलोकनेन, परां अन्यां नायिकां सुचिरं निपपौ अत्यर्थं पश्यति स्म ॥ ६४ ॥

६५. तरुराजीति । पञ्चम्यर्थे तस् । वृक्षश्रेण्याः विकसितपुष्पसमूहान् मस्तके स्थाप्य प्रयतीं यातीं परां नायिकां भ्रमरा रुरुधुः । उपमालंकारः । भ्रमररोधोत्कर्षवर्णनात् । पद्मिनी संभा० [प० ६१,२] ....

[इतोऽग्रे प्रतिः खण्डिता]

***

हम्मीरकाव्यदीपिकान्तरुल्लिखितानां ऐतिहासिकनाम्नां सूचिः।

***

हम्मीरकाव्यदीपिकान्तरुल्लिखितानां ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च नाम्नां सूचिः ।

***